प्राचीन भारतीय इतिहास

का

वैदिक युग

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार डी. लिट्. (पेरिस)

(भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार एवं
गोविन्दवल्लभ पन्त पुरस्कार, मोतीलाल नेहरू पुरस्कार
और मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित)

प्रकाशक

श्री सरस्वती सदन, मसूरी

प्रधान वितरण केन्द्र

ए-१/३२ सफदरजंग एन्क्लेव नई दिल्ली-१६

द्वितीय संस्करण १९७९] [मूल्य २८ रुपये

प्रकाशक :
श्री सरस्वती सदन
मसूरी (उ० प्र०)

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

प्रस्तावना

भारत के इतिहास में,वैदिक युग का स्थान अत्यन्त महत्व का है। इस देश के बहुसंख्यक निवासी ऐसे धर्मों एवं सम्प्रदायों के अनुयायी हैं, जो अपने मन्तव्यों, दार्शनिक सिद्धान्तों, पूजापाठ की विधि और आचरण के नियमों आदि के लिए वेदों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, और उन्हें प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं। भारत के इतिहास की यह अनुपम विशेषता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में वैदिक ऋषियों ने जिस संस्कृति का सूत्रपात किया था, हजारों साल बीत जाने पर भी वह अब तक कायम है। उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं, पर उसके 'नैरन्तर्य' में कोई बाधा नहीं पड़ी है।

संसार की अनेक प्राचीन सभ्यताएँ अब नष्ट हो चुकी हैं। ईजिप्त, बैबिलोनिया, क्रीट, ग्रीस आदि की प्राचीन सभ्यताओं के अब केवल नाम ही शेष है। धर्म, भाषा, संस्कृति, सामाजिक जीवन आदि की दृष्टि से ईजिप्त के वर्तमान निवासियों का उन प्राचीन लोगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, जिन्होंने कि नील नदी की घाटी में गगनचुम्बी विशाल पिरामिडों का निर्माण किया था, और जिन्होंने अपने पितरों के शरीरों की ममी बनाकर उन्हें अमर जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया था। ग्रीस और रोम के प्राचीन निवासियों ने जिन धर्मों और सभ्यताओं का विकास किया था, वे अब विद्यमान नहीं हैं। जो विचारधारा प्राचीन ग्रीक तथा रोमन लोगों को देवी-देवताओं की पूजा के लिए प्रेरित करती थी, ग्रीस और रोम के आधुनिक निवासियों के लिए उसका कोई अर्थ नहीं है। पर वर्तमान समय के भारत पर वैदिक युग की प्राचीन सभ्यता का प्रभाव भली-भाँति विद्यमान है। इस देश के पण्डित और पुरोहित धार्मिक कर्मकाण्ड के लिए आज भी उन्हीं वेदमन्त्रों का प्रयोग करते हैं, जिनका निर्माण या 'दर्शन' अत्यन्त प्राचीन काल में वैदिक ऋषियों द्वारा किया गया था। उपनिषदों द्वारा अध्यात्म चिन्तन की जिस लहर को प्रवाहित किया गया था, वह इस बीसवीं सदी में भी इस देश के चिन्तकों तथा साधु-सन्तों को प्रेरणा प्रदान कर रही है। वर्णाश्रम-व्यवस्था के रूप में समाज के संगठन का जो रूप वैदिक युग में विद्यमान था, उसका प्रभाव अब तक भी भारतीय समाज पर कायम है। धर्म, संस्कृति, भाषा, आचार-विचार, चिन्तन, समाज-संगठन, जीवन के आदर्श आदि सभी बातों पर वैदिक युग की जो छाप वर्तमान भारत पर है, उसकी सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यही कारण है, जो भारत की सभ्यता, संस्कृति और धर्म आदि में विकास तथा परिवर्तनों के होते हुए भी उनमें जो 'नैरन्तर्य' बना रहा, उसे भली-भाँति समझ सकना तभी

सम्भव है, जबकि वैदिक युग के इतिहास का गम्भीर रूप से अनुशीलन कर लिया जाए। वस्तुतः, वैदिक युग ही वह आधारशिला या नींव है, जिस पर भारतीय इतिहास, भारतीय सभ्यता और भारतीय संस्कृति की विशाल इमारत खड़ी है।

पर वैदिक युग के इतिहास को लिखने में अनेक ऐसी कठिनाइयाँ है, जिनकी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। इस काल के इतिहास को तैयार करने का प्रधान साधन वैदिक साहित्य ही है, क्योंकि इस युग की पुरातत्व-सम्बन्धी सामग्री अभी उपलब्ध नहीं की जा सकी है। वैदिक साहित्य में प्रधान चार वैदिक संहिताएँ हैं, जिन्हे भारतीयों का एक बहुत बड़ा वर्ग अपौरुषेय, अनादि और ईश्वर-कृत मानता है। जो ग्रन्थ अनादि और ईश्वरकृत हों, उनका इतिहास के लिए प्रयुक्त कर सकना सम्भव नही हो सकता। यही कारण है, जो वर्तमान समय के बहुत-से विद्वान् यह स्वीकार करने को उद्यत नही है, कि वेदों मे ऐतिहासिक घटनाओ के कोई भी संकेत या विवरण विद्यमान है। गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों के, हिमालय, मूजवन्त सदृश पर्वतों के, साहदेव्य सोमक, संवरण, शन्तनु आदि राजाओ के और पक्थ, अलिन, यदु, तुर्वश, अनु आदि 'जनो' के जो नाम वेदों में आये है, ये विद्वान् उनके अन्य प्रकार से अर्थ करते हैं, और उन्हें नदियों, पर्वतों, राजाओ तथा जनों का सूचक स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक संहिताओं का इतिहास के लिए प्रयोग किया है और उनके आधार पर दाशराज्ञ युद्ध सदृश कितनी ही ऐतिहासिक घटनाओं का निरूपण किया है। वस्तुतः, प्राचीन काल से ही वेदो के अर्थनिरूपण के सम्बन्ध में अनेक सम्प्रदाय रहे है। यास्क ने अपने निरुक्त मे ऐतिहासिक सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है, और उसके भी अनेक मन्तव्य उद्धृत किये है। इससे स्पष्ट है, कि प्राचीन भारत में भी ऐसे विद्वानों की सत्ता थी, जो ऐतिहासिक घटनाओं की जानकारी के लिए वेदों का उपयोग करते थे और वेदों में इतिहास की सत्ता को स्वीकार करते थे। सायणाचार्य, महीधर आदि वेदभाष्यकारों ने भी अनेक वेदमन्त्रों का अर्थ इतिहासपरक रूप में किया हैं। पर आधुनिक युग के सबसे बड़े वैदिक विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत में वेदों के शब्द रूढ़ि न होकर यौगिक हैं, और इतिहास के प्रयोजन से वेद मन्त्रों का उपयोग करना समुचित नही है। इस विषय में स्वामी दयानन्द ने यास्क की नैरुक्त विधि को स्वीकार्य माना है, ऐतिहासिक पद्धति को नहीं। वेदों के सही-सही अभिप्राय की व्याख्या के लिए यास्क और दयानन्द का मत युक्तिसंगत है या आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों और प्राचीन भारत के ऐतिहासिक सम्प्रदाय का मत, इस पर विचार-विमर्श करना इस ग्रन्थ का विषय नही है। वैदिक युग के राजनीतिक इतिहास के लिये इस ग्रन्थ में हमने प्रधानतया पुराणों को आधार बनाया है, क्योंकि उनमें जो प्राचीन अनुश्रुति संकलित है, वह वैदिक युग की ही है। पर साथ ही हमने उन ऐतिहासिक तथ्यों का भी उल्लेख कर दिया है, जिन्हें वैदिक संहिताओं के आधार पर प्रतिपादित किया जाता है। पर ऐसा करते हुए हमने उन विद्वानों के मत भी दे दिए हैं, जो वेदों में इतिहास को स्वीकार नहीं करते। ये विद्वान्

ऐसे वेदमन्त्रों का जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं के संकेतों की सत्ता कही जाती है, किस ढंग से अर्थ करते हैं, इसके भी कुछ उदाहरण हमने दे दिए हैं।

वैदिक युग के इतिहास के सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई तिथिक्रम की है। भारतीय इतिहास के किस काल को वैदिक युग कहा जाए, यह प्रश्न भी विवादग्रस्त है। पुराणों में प्रतिपादित कालक्रम के अनुसार जो मन्वन्तर इस समय चल रहा है, उसका प्रारम्भ वैवस्वत मनु से हुआ था। यह मनु ही वर्तमान मन्वन्तर का पहला राजा था। इस मनु से शुरू कर महाभारत-युद्ध के समय तक भारत के विविध राज्यों में जिन राजाओं ने शासन किया, उनकी वंशावलियां पुराणों में विद्यमान हैं। इन राजाओं में कितने ही ऐसे हैं, जिनकी गणना वैदिक ऋषियों में भी की गई है। वेदों के अनेक मन्त्रों के ऋषि वैवस्वत मनु है, और कुछ मन्त्रों के देवापि, जो राजा शन्तनु के भाई थे। पाश्चात्य विद्वान् इन ऋषियों को वेदमन्त्रों के रचयिता कहेंगे, और वेदों को ईश्वरकृत मानने पाले विद्वान् यह कहेंगे कि ये ऋषि वे हैं जिन्होंने कि वेदमन्त्रों के वास्तविक अर्थ का दर्शन कर उनके तत्व का प्रतिपादन किया था और इस कारण जो मन्त्रद्रष्टा थे। यदि ऋषि से मन्त्रद्रष्टा अभिप्रेत हो, तो भी यह स्वीकार करना होगा, कि वैवस्वत मनु से देवापि व शन्तनु के समय तक ऐसे ऋषि होते रहे, जिन्होंने कि वेदमन्त्रों का 'दर्शन' किया। अतः इन्ही के समय (वैवस्वत मनु से देवापि या महाभारत-काल तक के समय) को वैदिक युग कहना समुचित होगा। हमने वैदिक युग में इसी काल को अन्तर्गत किया है।

पर फिर प्रश्न उठता है, कि यह युग अब से कितने वर्ष पूर्व था ? महाभारत युद्ध के समय तक वैदिक युग का अन्त हो चुका था, यह तो स्पष्ट ही है, क्योंकि वैदिक ऋषियों की परम्परा प्रायः देवापि के साथ समाप्त हो जाती है। पर समस्या यह है कि महाभारत युद्ध का समय कौन-सा माना जाए। यह प्रश्न भी बहुत विवाद-ग्रस्त है। भारत की प्राचीन परम्परा तथा भारतीय ज्योतिषियों के अनुसार महाभारत का समय अब से ५,००० वर्ष के लगभग पहले (३१०२ ईस्वी पूर्व) था। पर आधुनिक विद्वानो ने उसका समय १४०० ईस्वी पूर्व या इसके भी बाद प्रतिपादित किया है। इस ग्रन्थ में हमने तिथिक्रम की समस्या पर विचार-विमर्श कर किसी निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया। हमने यही उचित समझा कि इस सम्बन्ध में जो भी विविध मत हैं, उनका उल्लेख कर दिया जाए। वस्तुतः, किसी भी इतिहास-लेखक के लिए यह सुगम नहीं है, कि वह आधुनिक युग के विद्वानों के तिथिक्रम-सम्बन्धी मन्तव्यों तथा उन द्वारा प्रतिपादित विभिन्न ऐतिहासिक तथ्यों की पूर्णतया उपेक्षा कर सके। आर्यसमाज की प्रसिद्ध शिक्षा-संस्था गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय की ओर से गुरुकुल पुरातत्व संग्रहालय की जो मार्गनिर्देशिका (गाइड) तत्कालीन कुलपति श्री रघुवीरसिंह शास्त्री के संदेश के साथ १९७३ में प्रकाशित हुई थी, उसमें ऋग्वेद का काल ३५०० वर्ष पूर्व लिखा गया है, जो आधुनिक विद्वानों के मत के अनुसार है। भारत के परम्परा-गत मन्तव्य तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत की तुलना में केवल पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित मत का ही उल्लेख किया जाना गुरुकुल के विद्वानों द्वारा उपयुक्त

समझा गया। पर हमने इस ग्रन्थ में प्राचीन तथा आधुनिक और प्राच्य तथा पाश्चात्य सब विद्वानों के मन्तव्य साथ-साथ दे दिए हैं, ताकि पाठकों को उन सबसे परिचय प्राप्त हो जाए और वे विविध मतों की समीक्षा करके स्वयं किसी परिणाम पर पहुँचने में समर्थ हो सकें।

इस ग्रन्थ के बहुत से पाठक ऐसे भी होंगे, जो संस्कृत भाषा से भली-भाँति परिचित होंगे। उनके लाभ के लिए उन वेदमन्त्रों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों आदि के उन संदर्भों को भी फुटनोट में दे दिया गया है, जिनके आधार पर कोई तथ्य प्रतिपादित किया गया है। पुस्तक का आकार अधिक न बढ़ने पाए, इस दृष्टि से अनेक स्थलों पर वेदमन्त्र आदि की केवल प्रतीक ही दे दी गई है। विज्ञ पाठक प्रतीक देखकर मूल सन्दर्भ को सुगमता से ढूंढ सकते हैं।

वैदिक युग के इतिहास पर अन्य भी अनेक पुस्तकें गत वर्षों में हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं। पर उनमें प्रायः उन्हीं मन्तव्यों को उल्लिखित किया गया है, जिनका प्रतिपादन पाश्चात्य विद्वानों ने किया है। पर मैंने इस ग्रन्थ में भारतीय विद्वानों के मतों का भी निर्देश कर दिया है, जिससे वैदिक युग के सम्बन्ध में पाठक उन मतों से भी परिचित हो सकेंगे, जो भारत के परम्परागत विश्वासों के अनुरूप हैं।

मसूरी
१८ सितम्बर, १९७६

सत्यकेतु विद्यालंकार

इतिहास के महान् विद्वान्

और प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री

आचार्य रामदेव जी

की पुण्य स्मृति में

विषय-सूची

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

(१) वैदिक युग का अभिप्राय

यह बात निर्विवाद है कि वेद विश्व-साहित्य के सब से पुराने ग्रन्थ हैं। आर्य लोग उन्हें अनादि, अपौरुषेय और ईश्वरकृत मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है, कि प्रारम्भ में केवल एक प्रजापति की ही सत्ता थी। उसने प्रजा उत्पन्न करने की कामना की और इस प्रयोजन से तप किया, जिसके परिणामस्वरूप पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु—ये तीन लोक उत्पन्न हुए। इन तीन लोकों को अभितप्त कर प्रजापति ने अग्नि, वायु और सूर्य को उत्पन्न किया, और फिर उन द्वारा तीन वेदों की उत्पत्ति प्रजापति द्वारा की गई, अग्नि द्वारा ऋग्वेद की, वायु द्वारा यजुर्वेद की और सूर्य द्वारा सामवेद की।[1] एक अन्य प्रसङ्ग में शतपथ ब्राह्मण में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को 'महान् भूत' (परमेश्वर) का निःश्वसित कहा गया है।[2] वेदों की अन्तःसाक्षी द्वारा भी यह सूचित होता है, कि वह जो अशरीरी, शुद्ध, निष्पाप, सर्वव्यापक, स्वयम्भू, मनीषी, परमेश्वर है, जनता के लिये सब पदार्थों व विषयों का याथातथ्य रूप से ज्ञान उस द्वारा प्रदान किया गया था।[3] आर्य चिन्तकों के अनुसार यह यथार्थ ज्ञान वेद ही हैं, जो ईश्वरकृत हैं और जिनका प्रकाश ईश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि, वायु और आदित्य नामक ऋषियों द्वारा किया था।

पर आधुनिक विद्वान् वेदों के इस स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। वे उन्हें मनुष्यकृत मानते हैं। वेदों के प्रत्येक सूक्त व ऋचा (मन्त्र) के साथ उसके 'ऋषि' और देवताओं के नाम दिये गये हैं। वैदिक सूक्तों व मन्त्रों की रचना इन ऋषियों द्वारा ही

---

१. 'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्। एक एव सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्तेपानात्त्रयो लोका असृज्यन्त पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः। स इमांस्त्रीँल्लोकानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि······। स इमानि त्रीणि ज्योतींष्यभितताप : तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।' शतपथ ब्राह्मण ११।५।८।१-३

२. एवं वा ऽ अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस······शतपथ ब्राह्मण १४।२।४।१०

३. कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।' यजुर्वेद ४०।८

की गई थी। वैदिक ऋषियों में गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वशिष्ठ मुख्य हैं। इन छह ऋषियों व इनके वंशजों ने ऋग्वेद के दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें मण्डलों की रचना की थी। आठवें मण्डल के ऋषि काण्व और आंगिरस वंशों के थे। प्रथम मण्डल के पचास सूक्त भी काण्व वंश के ऋषियों द्वारा रचे गये थे। अन्य मण्डलों एवं प्रथम मण्डल के शेष सूक्तों की रचना विविध ऋषियों द्वारा की गई थी, जिन सबके नाम इन सूक्तों व मन्त्रों के साथ में मिलते हैं। इन ऋषियों में वैवस्वत मनु, शिवि, औशीनर, प्रतर्दन, मधुच्छन्दा और देवापि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इनके सम्बन्ध में पुराणों तथा महाभारत से भी बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। जो विद्वान् वेदों को ईश्वरकृत मानते हैं, उनके मत में वैदिक ऋषि सूक्तों के रचयिता न होकर 'द्रष्टा' मात्र थे। उन द्वारा मन्त्रों के अभिप्राय का दर्शन किया गया था। ऋषि कहते ही द्रष्टा को हैं (ऋषिर्दर्शनात्)।

यदि वेदों को अनादि और अपौरुषेय मान लिया जाए, तो वैदिक संहिताओं को इतिहास के लिये प्रयुक्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उस दशा में वैदिक युग इतिहास के उस काल को कहा जाएगा, जबकि लोग वेदों की शिक्षा के अनुसार जीवन-यापन किया करते थे। उस प्राचीन काल के धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन का प्रतिपादन करने के लिये वेदों का प्रयोग अवश्य किया जा सकेगा, क्योंकि तब लोगों का जीवन वेदों के अनुरूप था। पर उस युग की राजनीतिक घटनाओं तथा सांस्कृतिक विकास आदि का निरूपण करने के लिये वेदों को आधार बना सकना सम्भव नहीं होगा।

इतिहास के प्रयोजन से वेदों का उपयोग किस अंश तक व किस प्रकार किया जा सकता है, इस प्रश्न पर हम अगले प्रकरण में विचार करेंगे। पहले हमें यह स्पष्ट करना है कि आधुनिक इतिहास-लेखकों को भारतीय इतिहास का कौन-सा काल वैदिक युग के रूप में अभिप्रेत है। जिस प्रकार वैदिक संहिताओं में प्राचीन आर्यों की धार्मिक अनुश्रुति संगृहीत है, वैसे ही पुराणों में राजनीतिक अनुश्रुति को संकलित किया गया है। अयोध्या, विदेह, पौरव, काशी, कारूष आदि आर्य राज्यों के राजाओं की वंशावलियाँ पुराणों में दी गई हैं, जिनका प्रारम्भ मनु से हुआ है। इन वंशावलियों में अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं की वंशावलि सबसे पूर्ण है। उसमें मनु से लगाकर बृहद्बल तक ९४ राजाओं के नाम दिये गये हैं। अयोध्या का राजा बृहद्बल हस्तिनापुर के कौरव राजा धृतराष्ट्र तथा पाण्डवों का और यादववंशी कृष्ण का समकालीन था। इस प्रकार मनु से प्रारम्भ कर महाभारत के समय तक अयोध्या में ९४ राजा हुए थे। हस्तिनापुर के पाण्डव राजाओं की वंशावलि महाभारत के युद्ध के कुछ समय बाद तक की भी दी गई है। पाण्डवों के बाद वहाँ परीक्षित और जनमेजय ने शासन किया था, और उसके दो पीढ़ी बाद अधिसीम कृष्ण ने। पुराणों से जहाँ भारत के प्राचीन राज्यों के राजवंशों और राजाओं का परिचय मिलता है, वहाँ साथ ही कतिपय ऋषियों और ऋषिवंशों के सम्बन्ध में भी उनसे जानकारी प्राप्त होती है। इनमें से अनेक ऋषि ऐसे भी हैं, जिनके नाम वैदिक सूक्तों और मन्त्रों के ऋषियों के रूप में दिये गये हैं। ये ऋषि किस राजवंश के किस राजा के समकालीन थे, इस विषय में भी कुछ संकेत

पुराणों में विद्यमान हैं। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के सब सूक्तों के ऋषि गृत्समद हैं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार ये काशी के राजवंश के संस्थापक राजा काश के भाई थे, और यह राजा काश अयोध्या के राजवंश की ग्यारहवीं पीढ़ी का समकालीन था। ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के ऋषि विश्वामित्र अयोध्या के राजवंश की तेंतीसवीं पीढ़ी के राजा हरिश्चन्द्र के समकालीन थे, और छठे मण्डल के ऋषि बार्हस्पत्य भारद्वाज ५४वीं पीढ़ी के। आठवें मण्डल के ऋषि कण्व का समय भारद्वाज के एक पीढ़ी बाद है। ऋषि वशिष्ठ विश्वामित्र के समकालीन थे, और इस प्रकार उन्हें भी उस समय का मानना होगा, जबकि अयोध्या पर राजा हरिश्चन्द्र का शासन था। कितने ही अन्य वैदिक ऋषियों का भी पौराणिक साहित्य में उल्लेख है, और उसमें ऐसे संकेत भी विद्यमान हैं जिनसे यह जाना जा सकता है कि वे किस राजा के समकालीन थे। वैदिक ऋषि मधुच्छन्दा अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र के समय में, ऋषि लोपामुद्रा राजा अंशुमान् के समय में, ऋषि दीर्घतमा राजा सगर के समय में और ऋषि वामदेव राजा सहदेव (उत्तर पंचाल) के समय में हुए थे। प्राचीन राजवंशों के कतिपय राजा एवं उनसे सम्बद्ध कतिपय व्यक्ति भी वेद मन्त्रों के ऋषि हैं। ऋग्वेद के पांच सूक्तों (मण्डल ८, सूक्त २७-३१) के ऋषि वैवस्वत मनु हैं, पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार जिन द्वारा भारत में राज्यसंस्था का सूत्रपात किया गया था, और जिनसे मानव राजवंश का प्रारम्भ हुआ था। मनु की पुत्री इला थी, जिसके वंशजों ने प्रतिष्ठान को राजधानी बनाकर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। प्रतिष्ठान का राजा ऐल पुरुरवा भी ऋग्वेद का एक ऋषि है (१०।९५)। मनु के अन्यतम पुत्र नाभानेदिष्ट ने वैशाली में एक पृथक् राजवंश का प्रारम्भ किया था। यह मानव नाभानेदिष्ट भी एक वैदिक ऋषि हैं (ऋग्वेद १०।६१-६२)। मनु के अन्य पुत्र शार्याति को भी वैदिक ऋषियों में स्थान प्राप्त है (ऋग्वेद १०।९२)। नाभानेदिष्ट के वंशजों में भालन्दन (९।६८) और वात्सप्रि (१०।४५-४३) भी वैदिक ऋषि हैं। आर्य राजाओं की जिन ९४ पीढ़ियों का पौराणिक अनुश्रुति द्वारा परिचय मिलता है, मनु, नाभानेदिष्ट, ऐल पुरूरवा और वात्सप्रि आदि उनमें प्रारम्भ के राजाओं में से थे। इनके बनाये हुए या दर्शन किये हुए बहुत ही कम मन्त्र ऋग्वेद में संकलित है। गृत्समद, विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि जिन ऋषियों के मन्त्र ऋग्वेद में बहुत बड़ी संख्या में हैं, उनका समय प्रायः २६वीं पीढ़ी से शुरू कर ४०वीं पीढ़ी तक का है। इसके बाद के समय के भी कतिपय व्यक्ति वैदिक ऋषि हैं, पर उनकी संख्या अधिक नहीं है। ऐसे ऋषियों में देवापि का नाम उल्लेखनीय है, जो पौरव वंश के राजा शान्तनु का भाई था। देवापि की भी कतिपय ऋचाएँ ऋग्वेद में संकलित हैं (१०।९८), जिनमें शान्तनु का भी नाम आया है।

वैदिक ऋषियों के सम्बन्ध में जो यह विवरण हमने प्रस्तुत किया है, इससे उस काल का एक धुंधला सा चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है जबकि वैदिक सूक्तों की रचना या 'दर्शन' का प्रारम्भ हुआ था। वैवस्वत मनु के समय में इनका निर्माण या दर्शन शुरू हो गया था, जो राजा शान्तनु (जो महाभारत के कौरव-पाण्डवों के पितामह थे) के समय तक जारी रहा। महाभारत के समय में या उससे कुछ पूर्व

महर्षि वेदव्यास द्वारा इन सूक्तों एवं ऋचाओं को संहिता के रूप में संकलित कर दिया गया। जिस काल में इनका निर्माण या दर्शन हुआ उसी को भारतीय इतिहास का वैदिक युग कहा जाता है। इस का प्रारम्भ वैवस्वत मनु के समय से हुआ था, और यह राजा शान्तनु के समय में समाप्त हो गया था। जो विद्वान् वेदों को अपौरुषेय व ईश्वरकृत मानते हैं, उन्हें भी वैदिक युग के इस अभिप्राय से कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि गृत्समद, नाभानेदिष्ट, वशिष्ठ आदि ऋषियों को वे वेदमन्त्रों का दर्शन करने वाला या उनके अभिप्राय को स्पष्ट करने वाला प्रतिपादित करते हैं। जिस काल में इन ऋषियों द्वारा ईश्वरकृत वैदिक ऋचाओं का दर्शन कर उनके अन्तर्हित अभिप्राय को प्रगट किया गया, उसे वैदिक युग मानना सर्वथा उचित व युक्तिसंगत है।

पर प्रश्न यह है कि वैवस्वत मनु से शुरू कर देवापि-शान्तनु तक का जो यह वैदिक युग है, तिथिक्रम की दृष्टि से उसके लिए कौन-सा समय निर्धारित करना होगा। शान्तनु कौरव-पाण्डवों के पितामह थे, अतः उनका समय महाभारत युद्ध से दो पीढ़ी (पचास वर्ष के लगभग) पूर्व होना चाहिये। अब प्रश्न यह उठता है कि महाभारत-युद्ध का कौनसा समय था। यह विषय अत्यन्त विवादग्रस्त है। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार यह युद्ध ईस्वी सन् से ३००० वर्ष के लगभग पहले लड़ा गया था। पर आधुनिक विद्वान् प्रायः इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मत में महाभारत का काल १००० ईस्वी पूर्व के लगभग था। कतिपय विद्वानों ने इस युद्ध के काल को १५०० ई० पू० के लगभग प्रतिपादित किया है। इस समस्या पर हमने वैदिक साहित्य का परिचय देते हुए कुछ अधिक विशद रूप से प्रकाश डाला है। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि वैदिक युग को महाभारत-युद्ध से ९४ पीढ़ी पूर्व प्रारम्भ हुआ मानना उचित होगा। राजाओं के शासन काल को औसतन २० वर्ष के लगभग स्वीकार किया जाता है। यदि वैवस्वत मनु से राजा शान्तनु तक ९२ पीढ़ियाँ मान ली जाएँ, जैसा कि पुराणों की वंशावलियों से सूचित होता है और एक पीढ़ी के शासन काल को २० वर्ष समझा जाए, तो वैदिक युग का कुल समय १८०० या २००० वर्ष के लगभग मानना होगा। पर इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि पुराणों की वंशावलियाँ पूर्ण नहीं हैं। उनमें विविध राजवंशों के महत्त्वपूर्ण राजाओं के ही नाम दिये गये हैं। इस दृष्टि से वैदिक युग की अवधि अधिक भी हो सकती है। प्राचीन भारतीय तिथिक्रम का विषय अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है। वैदिक साहित्य के रचनाकाल पर विचार करते हुए इस ग्रन्थ के चौथे अध्याय में इस सम्बन्ध में कुछ अन्य प्रकाश डाला जायेगा।

वैदिक संहिताओं से सम्बद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् आदि जो अन्य साहित्य हैं और जिसे वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत किया जाता है, उसकी रचना प्रायः महाभारत काल में या उसके कुछ समय बाद हुई थी। शतपथ ब्राह्मण में राजा जनमेजय और परीक्षित के नाम आये हैं, जिनका समय महाभारत युद्ध के बाद है। उपनिषदों में कैकय के राजा अश्वपति का उल्लेख है, पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार जिसका समय भी महाभारत युद्ध के बाद है। अतः इस साहित्य की रचना का समय महाभारत के

पश्चात् स्थापित होगा। क्योंकि ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और सूत्रग्रन्थों का निर्माण उस काल में हुआ, जबकि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की परम्परा समाप्त हो चुकी थी, इस कारण उनके काल को 'उत्तर-वैदिक युग' कहा जाता है। इस इतिहास में हम वैदिक युग के साथ-साथ उत्तर-वैदिक युग पर भी प्रकाश डालेंगे।

(२) वैदिक संहिताओं का इतिहास के लिए उपयोग

जहाँ तक ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों और कल्प आदि वेदाङ्गों का सम्बन्ध है, इतिहास के लिये उनका उपयोग करने में किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं है। पर जो विद्वान् वेदों को ईश्वरकृत, अनादि व अपौरुषेय मानते हैं, वे यह स्वीकार नहीं करते कि इतिहास के लिये वैदिक संहिताओं को भी प्रयुक्त किया जा सकता है। जिन वेदमन्त्रों में किसी ऐतिहासिक घटना का संकेत मिलता है, ये विद्वान् उनका अर्थ अध्यात्मपरक या अन्य प्रकार से करके यह प्रतिपादित करते हैं, कि वैदिक मन्त्रों में इतिहास की तलाश करना अर्थ का अनर्थ करता है। उदाहरण के रूप में ऋग्वेद के चौथे मण्डल के पन्द्रहवें सूक्त के उन मन्त्रों को लीजिये, जिनके ऋषि वामदेव हैं, और अश्विनी तथा साहदेव्य नामक जिनके देवता हैं। ये मन्त्र निम्नलिखित हैं—

बोधद्यन्मा हरिभ्यां कुमारः साहदेव्यः। अच्छा न हूत उदरम् ॥७
उत त्या यजता हरी कुमारात्साहदेव्यात्। प्रयता सद्य आददे ॥८
एष वां देवावश्विना कुमारः साहदेव्यः। दीर्घायुरस्तु सोमकः ॥९
तं युवं देवावश्विना कुमारं साहदेव्यम्। दीर्घायुषं कृणोतन ॥१०

वेदों में ऐतिहासिक घटनाओं तथा प्राचीन भारत के राजाओं के सम्बन्ध में संकेत व सूचनाएँ विद्यमान हैं, यह मानने वाले विद्वान् इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार करेंगे—'जब सहदेव के पुत्र कुमार ने दो घोड़ों के साथ (दो घोड़े देने की इच्छा से) मेरा ध्यान किया, तो मैं ऐसे उठ खड़ा हुआ मानो मुझे पुकारा गया हो। मैंने सहदेव के पुत्र कुमार से उन घोड़ों को तुरन्त ग्रहण कर लिया, जिन्हें कि उसने मुझे भेंट किया था। हे अश्विनी देवो! सहदेव का पुत्र यह कुमार सोमक आपकी कृपा से दीर्घायु हो। अश्विनी देवों ने सहदेव के पुत्र उस युवा कुमार को दीर्घायु कर दिया।' इन मन्त्रों में एक ऐसे सहदेव का उल्लेख है, जिसका पुत्र सोमक था। इस कुमार सोमक ने ऋषि वामदेव को दो घोड़े दान में दिये थे, जिन्हें प्राप्त कर ऋषि ने अश्विनी देवों से उसके दीर्घायु होने की प्रार्थना की थी। अश्विनी देवों की कृपा से साहदेव्य सोमक दीर्घायु को प्राप्त करने में समर्थ हुआ था। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार सहदेव उत्तर पञ्चाल का राजा था, और हस्तिनापुर के पौरव राजा संवरण का समकालीन था। वह महाभारत से २४ पीढ़ी पहले हुआ था। पुराणों के अनुसार भी सहदेव का पुत्र सोमक था, जो अपने पिता के पश्चात् उत्तर पञ्चाल के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। ऐतिहासिक सम्प्रदाय के विद्वान् जिस ढंग से इन वेद मन्त्रों का अर्थ करते हैं, उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इन मन्त्रों में साहदेव्य कुमार सोमक

के दान की स्तुति है, तथा दान प्राप्त करने वाले ऋषि वामदेव ने उसके दीर्घायु होने की प्रार्थना अश्विनों से की है।

पर अन्य विद्वान् साहदेव्य और सोमक शब्दों को किन्हीं व्यक्तियों के लिए रूढ़ि न मानकर उनका यौगिक अर्थ करते हैं। उनके मत में साहदेव्य का अर्थ है—"ये देवैः सह वर्तन्ते" जो देवों या विद्वानों के साथ रहते हों; और सोमक का अर्थ है—"सोम इव शीतलस्वभावो यस्य" जिसका स्वभाव सोम या चन्द्रमा के समान शीतल हो। इन विद्वानों के अनुसार विद्वानों या देवों के साथ निवास करने वाले शीतल स्वभाव के शिष्य द्वारा इन मन्त्रों में यह प्रार्थना की गई है कि उसे इस ढंग से बोध कराया जाए ताकि वह दूरगामी अश्वों के समान शीघ्र विद्या के पार उतर जाए। विद्वान् अध्यापक ने कुमार शिष्य की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसे शीघ्र ही सब विद्याओं में निष्णात कर दिया। साथ ही, उन्होंने ऐसा यत्न भी किया, जिससे कि शीतल स्वभाव वाला कुमार विद्यार्थी दीर्घायु प्राप्त करने में समर्थ हुआ।

वेदमन्त्रों में ऐतिहासिक घटनाओं के कोई संकेत हैं या नहीं, इस सम्बन्ध में कतिपय प्राचीन आचार्यों के मन्तव्यों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। निरुक्तकार यास्काचार्य ने भी कुछ वेदमन्त्रों में इतिहास प्रदर्शित किया है।[1] ऐसे मन्त्रों व सूक्तों में ऋग्वेद का वह सूक्त (१०।९८) उल्लेखनीय है, जिसमें कि देवापि और शान्तनु के सम्बन्ध में अनेक ऐतिहासिक बातों का संकेत विद्यमान है; यथा देवापि का शान्तनु का पुरोहित होना और उस द्वारा प्रचुर दान दिया जाना। 'तत्रेतिहासमाचक्षते' कहकर यास्क यह स्वीकार करते हैं कि ऐसे सूक्तों व मन्त्रों में इतिहास-विषयक सूचनाएँ विद्यमान हैं। बृहद्देवता में आचार्य शौनक ने भी वेदों के कुछ सूक्तों को इतिहास-विषयक माना है।[2] यास्क ने 'इत्यैतिहासिकाः' कहकर जिन प्राचीन ऐतिहासिक मन्तव्यों को उद्धृत किया है, उनसे तो वैदिक मन्त्र इतिहासपरक हैं यह मत स्पष्टतया सूचित हो जाता है, यद्यपि यास्क ने उससे अपनी असहमति प्रकट की है। वृत्र कौन था, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक सम्प्रदाय के प्राचीन आचार्यों का यह मत था कि त्वष्ट्रा असुर को ही वृत्र कहा जाता था। पर नैरुक्तों के मत में वृत्र मेघ (बादल) की संज्ञा थी।[3]

ऐतिहासिक सम्प्रदाय के प्राचीन तथा आधुनिक विद्वान् जिन वैदिक सूक्तों एवं मन्त्रों में ऐतिहासिक घटनाओं के संकेत होना प्रतिपादित करते हैं, उनमें से कतिपय का उल्लेख करना विषय को स्पष्ट करने के लिये उपयोगी होगा। साहदेव्य सोमक और देवापि शान्तनु के सम्बन्ध में जो सूचनाएं ऋग्वेद में हैं, उन्हें ऊपर लिखा जा चुका है। कतिपय अन्य महत्त्वपूर्ण संकेत व सूचनाएं निम्नलिखित हैं—

(१) हस्तिनापुर के राजा संवरण और उत्तर-पञ्चाल के राजा सुदास के संघर्ष का स्पष्ट वर्णन ऋग्वेद में विद्यमान है। सुदास ने संवरण को परास्त कर न

---

१. निरुक्त २।११; २।२४; ३।२२

२. बृहद्देवता ४।४६; ६।१०७; ८।११

३. 'तत् को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः; त्वाष्ट्रोऽसुरः इत्यैतिहासिकाः।' निरुक्त २।१६

केवल हस्तिनापुर अपितु यमुना तक के सब प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया था। सुदास की शक्ति को इस ढंग से बढ़ते हुए देखकर पश्चिम के अनेक राजाओं ने संवरण की सहायता की, और एक संगठन बनाकर सुदास का प्रतिरोध करने का प्रयत्न किया। इस संघ में मत्स्य, तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि, पक्थ, भलानस्, अलिन, पुरु, विषाणी और यदु राज्यों (व जातियों) के राजा सम्मिलित थे। परुष्णी (रावी) नदी के तट पर सुदास ने इन सब की सम्मिलित शक्ति को परास्त किया, और संवरण ने वहाँ से भागकर सिन्धु नदी के तट पर एक दुर्ग में शरण ली।[1] उत्तर-पञ्चाल राज्य के इसी शक्तिशाली राजा का पुत्र वह सहदेव था, जिसके पुत्र सोमक द्वारा दान में प्रदत्त घोड़ों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। इसके सम्बन्ध में इसी प्रकरण में ऊपर लिखा भी जा चुका है। सुदास और संवरण के युद्ध तथा सुदास के शक्ति विस्तार का जो विवरण ऋग्वेद में दिया गया है, वह यथार्थ इतिहास है।

(२) चयमान के पुत्र राजा अभ्यावर्ती और वृचीवन्तों के राजा वरशिख के युद्ध का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। यह युद्ध हरियूपीया नदी के तट पर लड़ा गया था, जो सिन्ध की अन्यतम सहायक नदी थी।[2]

(३) वैदिक संहिताओं में अनेक ऐसे सूक्त विद्यमान हैं, जिनमें कतिपय राजाओं के दान आदि की स्तुति की गई है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के एक सूक्त में ऋषि वशोश्व ने कानीत पृथुश्रवा के दान की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, और उन द्वारा दिये हुए साठ हजार घोड़ों, दो हजार ऊंटों तथा दस हजार गौवों का उल्लेख है।[3] ऐसी ही कितनी ही अन्य दान स्तुतियों की सत्ता ऋग्वेद में है, जिनसे वैदिक युग के प्रतापी एवं दानी राजाओं का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

(४) इन्द्र द्वारा असुरों, दस्युओं और दासों के परास्त किये जाने का ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में वर्णन किया गया है। इन्द्र की शत्रुजातियों के उन राजाओं और नेताओं के नाम भी ऋग्वेद में मिलते हैं, जिनके पुरों को ध्वंस कर इन्द्र ने आर्यों के मार्ग को प्रशस्त किया था। इनमें वृत्र, शम्बर, चुमुरि, तुग्र आदि मुख्य थे। इन्द्र द्वारा आर्य-भिन्न लोगों को परास्त करने के सम्बन्ध में अगले अध्यायों में यथास्थान विशद रूप से लिखा जाएगा। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा, कि इन्द्र के असुरों, दासों और दस्युओं के साथ युद्धों का जिस ढंग से वर्णन ऋग्वेद में किया गया है, वह वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं का सूचक प्रतीत होता है। एक मन्त्र में कहा

---

१. ऋग्वेद ७।१८;
'यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह ॥६
दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः ।७ ऋग्वेद ७।८३

२. ऋग्वेद ६।२७।४-८

३. 'षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता।
दशश्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा॥ ऋग्वेद ८।४६।२२

गया है कि इन्द्र ने अपनी सेना द्वारा 'शत, सहस्र, अर्बुद' दस्युओं का घात कर दिया।[1] एक अन्य मन्त्र में शम्बर के सौ पुरों के नष्ट किये जाने का उल्लेख है।[2] ये वर्णन किसी यथार्थ ऐतिहासिक घटना की ओर ही संकेत करते हैं।

(५) ऋग्वेद में अम्बरीष[3], नहुष[4], मान्धाता[5] पूरूरवा ऐल[6] आदि कितने ही ऐसे राजाओं का उल्लेख है, जिनके सम्बन्ध में पौराणिक अनुश्रुति में पर्याप्त रूप से विशद विवरण विद्यमान हैं। वेद में इनका उल्लेख प्रायः दानस्तुति के प्रसंग में या इन द्वारा निष्पादित किये गये किसी महत्वपूर्ण कार्य को सूचित करने के लिए ही किया गया है। क्योंकि वेद प्रधानतया धर्मपरक ग्रन्थ है, अतः यह स्वाभाविक भी है। वेदों में आये हुए ऐतिहासिक घटनाओं के साथ सम्बन्ध रखने वाले संकेतों को तभी भली-भाँति समझा जा सकता है, जबकि पौराणिक अनुश्रुति को दृष्टि में रखा जाए। इसी लिए प्राचीन विचारकों ने यह कहा था—

इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

इतिहास (रामायण-महाभारत) और पुराणों द्वारा वेदों के अभिप्राय को समझा जाए। अल्पश्रुत (जिसे अनुश्रुति का ज्ञान न हो) मनुष्य से वेद डरता है, कहीं वह मुझ पर प्रहार न कर दे, अर्थात् मेरे अर्थ का अनर्थ न कर दे।

वेदों में अनेक नदियों, पर्वतों, जनपदों, जातियों तथा राज्यों के नाम भी मिलते हैं। सप्तसिन्धव देश की सरस्वती, परुष्णि, सिन्धु आदि सात नदियों, गंगा और यमुना तथा अन्य अनेक नदियों के नाम ऋग्वेद में विद्यमान हैं। गान्धार, कीकट आदि कितने ही जनपदों व प्रदेशों के नाम भी वेदों में आये हैं। इन सबका सातवें अध्याय में उल्लेख किया जायेगा। ये सब तथ्य यह सूचित करने के लिए पर्याप्त हैं, कि वेदों में ऐसी सामग्री विद्यमान है, जिसका उपयोग इतिहास के प्रयोजन से किया जा सकता है। ऋग्वेद में आये नदियों के नामों के आधार पर यह प्रतिपादित किया जाता है, कि उस काल में आर्यों का भारत में कहाँ तक प्रसार हुआ था। ऋग्वेद की नदियों का सम्बन्ध प्रायशः उत्तर-पश्चिमी प्रान्त एवं पंजाब तथा हरियाणा के प्रदेशों के साथ है। अतः यह समझा जाता है कि ऋग्वेद के समय में आर्य लोग प्रायः इन्हीं प्रदेशों में बसे हुए थे। बाद में उनका प्रसार पूर्व तथा दक्षिण की ओर हुआ। अथर्ववेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में आर्य जाति के प्रसार की इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में अनेक संकेत भी उपलब्ध होते हैं।

---

१. 'सेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया।'
अथर्ववेद ८।८।७

२. 'अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।' ऋग्वेद २।१४।६

३. ऋग्वेद १०।६; १।६८

४. ऋग्वेद १।१००।१६; १।१२२।८

५. ऋग्वेद १०।१३४

६. ऋग्वेद १।६५

इतिहास के प्रयोजन से वेदों का उपयोग करने के सम्बन्ध में जो बातें ऊपर लिखी गई हैं, कतिपय विद्वान् उन्हें संगत नहीं समझते। वैदिक शब्दों को रूढ़ि न मान कर वे उन्हें यौगिक मानते हैं, और वेदों में आये जिन शब्दों को राजाओं का नाम समझा जाता है, उनका वे अन्य ढंग से अर्थ करते हैं। उनकी विधि का निदर्शन ऊपर लिखे 'साहदेव्य सोमक' के उदाहरण से भली-भाँति हो जाता है। इन्द्र का अर्थ वे परमेश्वर करते हैं, और असुर, दस्यु, दास आदि शब्दों को मनुष्यों की कुप्रवृत्तियों का परिचायक मानते हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टियों से वे इन सब शब्दों की व्याख्या अन्य ही प्रकार से करते हैं। ये विद्वान् राजाओं के नामों के समान गंगा, यमुना, सरस्वती, सिन्धु आदि नदियों तथा गान्धार, कीकट आदि जनपदों के नामों का भी यौगिक अर्थ करते हैं। वे यह स्वीकार करने को उद्यत नहीं हैं, कि ये शब्द भारत की विविध नदियों तथा जनपदों के सूचक हैं।

ऐतिहासिक और नैरुक्त विचार-सम्प्रदायों का मतभेद बहुत पुराना है। उसकी सत्ता के प्रमाण यास्काचार्य के निरुक्त में भी विद्यमान हैं। यहाँ हमारे लिए यह संभव नहीं है कि इन दो सम्प्रदायों के मन्तव्यों पर विचार-विमर्श कर किसी निश्चय पर पहुँचने का प्रयत्न करें। सम्भवतः, इसकी आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि वैदिक युग के राजनीतिक इतिहास का हमारा मुख्य आधार वह अनुश्रुति है, जो पुराणों में संकलित है। जिस प्रकार ऋषियों के वचनश्रुति द्वारा ऋषियों के कुलों में सुरक्षित रहे, वैसे ही राजवंशों तथा राजाओं के वृत्तान्त सूतों के परिवारों में कायम रहे। वेदव्यास ने जैसे ऋषियों के सूक्तों तथा ऋचाओं को संहिताओं में संकलित किया, वैसे ही राजाओं और राजवंशों के साथ सम्बन्ध रखने वाली अनुश्रुति को पुराणों में। इसीलिए वेदव्यास को अठारहों पुराणों का कर्ता भी कहा गया है। इन पुराणों में प्राचीन भारत की राजनीतिक अनुश्रुति संगृहीत है, और इतिहास के लिए उसका भली-भाँति उपयोग किया जा सकता है। आधुनिक समय में जब प्राचीन भारतीय इतिहास की खोज का कार्य प्रारम्भ हुआ, तो पुराणों की प्रायः उपेक्षा ही की गई। पर पार्जीटर महोदय ने पुराणों में संकलित राजनीतिक अनुश्रुति के महत्त्व को समझा, और बड़े परिश्रम से 'एन्सिएन्ट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रैडीशन' नामक ग्रन्थ में इस अनुश्रुति को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया। पार्जीटर का अनुसरण कर अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने पुराणों में विद्यमान ऐतिहासिक सामग्री का वैज्ञानिक रीति से विवेचन कर प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया और उसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। वर्तमान समय में प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास के लिए प्रधानतया पुराणों का ही आश्रय लिया जाता है। जिसे हमने भारतीय इतिहास का वैदिक युग कहा है, वह वैवस्वत मनु से प्रारम्भ होकर राजा शान्तनु के समय में समाप्त हुआ। इस युग के राजवंशों और राजाओं के साथ सम्बन्ध रखने वाली अनुश्रुति पुराणों में विद्यमान है, अतः वैदिक युग के राजनीतिक इतिहास के लिए वही प्रमुख आधार है। वेदों में सुदास, नहुष, मान्धाता, ऐल पुरूरवा आदि राजाओं का उल्लेख अवश्य हुआ है, पर इनका समय कौन-सा था और

उनमें कौन पहले व कौन पीछे हुआ, इस विषय में कोई सूचना नहीं मिलती। पौराणिक अनुश्रुति से ही हमें यह ज्ञात होता है, कि सुदास उत्तर-पञ्चाल का राजा था, नहुष प्रतिष्ठान का, मान्धाता अयोध्या का और ऐल पुरूरवा प्रतिष्ठान का। वस्तुतः, वैदिक युग के राजनीतिक इतिहास के लिए वैदिक संहिताओं का कोई विशेष उपयोग नहीं है। ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अनुसार वेद-मन्त्रों में आये हुए जिन नामों व शब्दों का सम्बन्ध किन्हीं राजाओं के साथ है, पौराणिक अनुश्रुति के राजाओं से हम उनका एकात्म्य ही प्रतिपादित कर सकते हैं, पर उनके आधार पर स्वतन्त्र रूप से राजनीतिक इतिहास को लिख सकना सम्भव ही नहीं है। इस दृष्टि से वेदों में इतिहास होने या न होने तथा इतिहास के लिये उनकी उपयोगिता पर विचार-विमर्श करने का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता। इस ग्रन्थ में वैदिक युग के राजनीतिक इतिहास के लिए हम पुराणों का ही उपयोग करेंगे, वैदिक संहिताओं का नहीं।

पर इतिहास में केवल राजवंशों और राजाओं का ही वर्णन नहीं किया जाता। इनका मुख्य उपयोग कालक्रम को सूचित करने के लिए ही होता है। इतिहास में देश की धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दशाओं का विस्तार के साथ विवेचन किया जाता है, और साथ ही यह भी प्रदर्शित किया जाता है कि इन दशाओं में भिन्न-भिन्न समयों में किस प्रकार परिवर्तन होते रहते हैं और इन परिवर्तनों के कारण क्या थे। वस्तुतः इतिहास का प्रयोजन मानव-सभ्यता और संस्कृति के विविध अंगों के विकास को प्रदर्शित करना ही है। वैदिक युग के इतिहास के इन पहलुओं का विवेचन व निरूपण करने के लिए वैदिक संहिताओं का बहुत अधिक उपयोग है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। वेद प्रधानतया धर्म-परक ग्रन्थ हैं। अतः वैदिक युग के प्राचीन आर्यों के धार्मिक जीवन का जैसा स्पष्ट और सर्वाङ्गपूर्ण चित्र उन द्वारा प्रस्तुत होता है, वह सचमुच बड़े महत्व का है। यही बात सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वैदिक युग में भारत के समाज की क्या दशा थी, उसमें ऊँच-नीच का भेद था या नहीं, क्या विविध जातियों का तब विकास हो चुका था, स्त्रियों की तब क्या स्थिति थी, उस काल में आर्थिक जीवन का क्या स्वरूप था, शिल्प व्यवसाय तथा व्यापार किस अंश तक उन्नत थे,—इस प्रकार की बातों के सम्बन्ध में जो जानकारी वेदों से प्राप्त होती है, वह बहुत ही महत्त्व की है। यदि राजनीतिक इतिहास को छोड़ दिया जाए, तो अन्य सब विषयों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए वेदों से बहुत सहायता ली जा सकती है। वैदिक साहित्य बहुत विशाल है। उस द्वारा वैदिक युग के जन-जीवन का, लोगों के धार्मिक विश्वासों का, उनके मनोभावों व आकांक्षाओं का, समाज के संगठन का और सर्व-साधारण के रहन-सहन का एक स्पष्ट चित्र उपस्थित हो जाता है। वैदिक युग भारतीय इतिहास का सबसे प्रचीन युग है। बाद के युगों में भारतीयों के धार्मिक मन्तव्यों, पूजा की विधि, समाज संगठन और संस्कृति में बहुत परिवर्तन हुआ। पर इन परिवर्तनों के कारण सभ्यता और संस्कृति की वह मूल धारा अवरुद्ध व नष्ट नहीं हुई, जिसका प्रारम्भ अति प्राचीन काल में वैदिक ऋषियों द्वारा किया गया था। भारत के

बहुसंख्यक निवासियों का धर्म अब भी वैदिक है। इस देश के पुरोहित आज भी धार्मिक कर्मकाण्ड में वेद मन्त्रों का उपयोग करते हैं, और वेदों द्वारा जिस ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया था, भारत के प्राय: सभी मत-मतान्तर उसी को विभिन्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के वैदिक युग की इस मूलभूत संस्कृति और सभ्यता को समझने के लिए वेदों के उपयोग से इन्कार नहीं किया जा सकता।

पर जो विद्वान् वेदों को ईश्वरकृत मानते हैं, वे यह कह सकते हैं कि वेद तो अनादि और नित्य हैं। उनका सम्बन्ध किसी एक देश के साथ न होकर सम्पूर्ण विश्व तथा सम्पूर्ण मनुष्य जाति के साथ है। अतः उनके आधार पर भारतीय इतिहास के एक विशिष्ट युग की सभ्यता तथा संस्कृति का प्रतिपादन भी युक्तिसंगत नहीं होगा। पर इस कथन में विशेष सार नहीं है। हमने वैदिक युग उस काल को कहा है, जिसमें कि गृत्समद, अत्रि, वशिष्ठ, कण्व आदि ऋषियों ने वेद मन्त्रों का दर्शन किया था, और उन द्वारा वैदिक सूक्तों के अभिप्राय को स्पष्ट किया गया था। यह आशा की जानी चाहिए, कि उस समय के लोग वेद की शिक्षाओं का अनुसरण करते होंगे, और उनका जीवन प्राय: वैसा ही होगा जैसा कि वैदिक साहित्य में प्रतिपादित है। भारत के अतिरिक्त किसी अन्य देश में भी प्राचीन काल में वेदों की वही मान्यता थी जो भारत में थी, यह विषय अभी विवादग्रस्त है। यह सही है कि गत वर्षों में पुरातत्व-सम्बन्धी खोज द्वारा ऐसे संकेत व प्रमाण मिले हैं, जिनसे कि पश्चिमी एशिया के अनेक प्रदेशों में वैदिक धर्म तथा सभ्यता की सत्ता सूचित होती है। इस सम्बन्ध में हम अगले अध्यायों में यथास्थान विशद रूप से प्रकाश भी डालेंगे। पर यह सर्वथा सुनिश्चित है, कि वैदिक सभ्यता और संस्कृति का प्रमुख केन्द्र भारत ही रहा है। अतः भारतीय इतिहास के वैदिक युग के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के परिचय के लिए वैदिक साहित्य के उपयोग में किसी को भी ऐतराज नहीं होना चाहिए।

(३) वैदिक युग के इतिहास की सामग्री

वैदिक युग के इतिहास को तैयार करने के प्रमुख साधन वैदिक और पौराणिक साहित्य हैं। वैदिक साहित्य का विशद रूप से परिचय अगले दो अध्यायों में दिया गया है, और इस साहित्य के अन्तर्गत जो वैदिक संहिताएँ हैं, इतिहास के लिए उनकी उपयोगिता पर पिछले प्रकरण में विवेचन किया जा चुका है। वैदिक युग के राजनीतिक इतिहास को जानने के मुख्य साधन पुराण, रामायण और महाभारत हैं। पुराण वर्तमान समय में जिस रूप में मिलते हैं, वे चाहे बहुत पुराने न हों, पर उनमें संकलित अनुश्रुति अवश्य ही बहुत प्राचीन है। पुराणों का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्च लक्षणम्॥

सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि का प्रलय किस प्रकार होता है, सृष्टि के विविध मन्वन्तर (काल विभाग) कौन-से हैं, इन विविध मन्वन्तरों में किन वंशों

ने शासन किया और इन वंशों व राजाओं के चरित्र क्या थे—इन पाँच बातों का वर्णन पुराणों में किया जाता है। मत्स्य, वायु, विष्णु, ब्रह्माण्ड, भागवत आदि पुराण-ग्रन्थों में प्राचीन आर्यों के वंशों व उनके चरित्रों का जो वर्णन संगृहीत है, इतिहास के लिए उसका बहुत अधिक उपयोग है। इसमें सन्देह नहीं, कि पुराणों की यह अनुश्रुति प्रायः अस्पष्ट है। पर इसका ठीक तरह से अनुशीलन और विवेचन करके हम वैदिक युग के प्राचीन राज्यों, उनमें शासन करने वाले राजवंशों और राजाओं के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। वेदों में जो राजाओं का कहीं-कहीं प्रासंगिक उल्लेख आ जाता है, और जो अनेक गाथाएँ सूत्र रूप में मिल जाती हैं, उनको भली-भाँति समझना तभी संभव है, जब कि पुराणों में उपलब्ध अनुश्रुति को दृष्टि में रखा जाय। यह सही है, कि पुराणों से तिथिक्रम का सही परिचय नहीं मिलता। उनमें राजवंशों और राजाओं की जो तालिकाएँ दी गई हैं, उनमें किसी निश्चित संवत् का प्रयोग नहीं किया गया। पर प्राचीन भारतीय काल का विभाग चतुर्युग द्वारा किया करते थे। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि—इन चार युगों में उन्होंने भारत के इतिहास को विभक्त किया था। पौराणिक अनुश्रुति से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि कौन-सा राजा कलियुग के शुरू में हुआ, कौन-से राजा द्वापर, त्रेता व कृतयुग के शुरू में हुए और कब कलियुग का अन्त हुआ। प्राचीन आर्य-राजाओं के पौर्वापर्य व समय को निश्चित करने के लिए यह बात कम महत्त्व की नहीं है। कठिनाई तब आती है, जब कि हमें कलियुग के प्रारम्भ का समय निश्चित करने की आवश्यकता होती है। पुराणों के निर्माताओं व संकलयिताओं के सम्मुख शायद यह कठिनाई नहीं थी। पर साहित्यिक आधार पर अब यह भी निश्चित किया जा सका है, कि कलियुग का प्रारम्भ कब हुआ यद्यपि सब विद्वान् इस विषय पर एकमत नहीं हैं। पौराणिक अनुश्रुति का अनुशीलन करके अब प्राचीन भारतीय इतिहास की रूपरेखा अवश्य निर्धारित की जा सकती है।

पुराणों के अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण और महाभारत संस्कृत-साहित्य के दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जो वैदिक युग के इतिहास के अनुशीलन के लिए बहुत उपयोगी हैं। रामायण में ऐक्ष्वाकव (सूर्य) वंश के राजा दाशरथि राम का वृत्तान्त बड़े विस्तार से दिया गया है। महाभारत में पौरव-वंश को दो शाखाओं (कौरव और पाण्डव) के पारस्परिक संघर्ष का इतिवृत्त संकलित है। पर महाभारत में भारत के प्राचीन राजवंशों के साथ सम्बन्ध रखने वाले अन्य भी बहुत-से आख्यान संगृहीत हैं, और इस विशाल ग्रन्थ के अनुशीलन से प्राचीन भारतीय इतिहास पर बहुत विशद रूप से प्रकाश पड़ता है। निःसंदेह, महाभारत की रचना एक विशाल विश्वकोश के रूप में हुई है, जो न केवल प्राचीन आख्यानों, गाथाओं और इतिवृत्त पर प्रकाश डालता है, अपितु साथ ही प्राचीन भारतीय राजनीति, अध्यात्मचिन्तन और ज्ञान का भी प्रतिपादन करता है। रामायण और महाभारत का वर्तमान रूप चाहे पुराणों के समान अत्यन्त प्राचीन न हो, पर यह निर्विवाद है, कि उनमें प्राचीन भारतीय अनुश्रुति बड़े सुन्दर रूप में सुरक्षित है। इन्हीं ग्रन्थों को प्राचीन समय में 'इतिहास' कहा जाता था। वस्तुतः, ये भारत के प्राचीन आर्यों के इतिहास हैं। वैदिक और पौराणिक अनुश्रुति के

समान महाभारत का कर्ता (या संकलयिता) भी मुनि वेदव्यास को ही माना जाता है।

पुराण संख्या में अठारह हैं। पर अठारह पुराणों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक पुराण पाये जाते हैं। प्राचीन समय में भारत में अनेक सूतवंश होते थे, जो राजवंशों व राजाओं के इतिवृत्त को अनुश्रुति के रूप में सुरक्षित रखते थे। परम्परा के अनुसार यह कहा जाता है, कि अष्टादश पुराणों का पाठ सूत लोमहर्षण और उसके पुत्र सौति उग्रश्रवस ने किया था। धर्म तथा अध्यात्म के क्षेत्र में जो स्थान ऋषियों का था, वही स्थान 'वंशानुचरित' के लिए सूतों का था।

वर्तमान समय में पुरातत्त्व-सम्बन्धी कोई ऐसी सामग्री उपलब्ध नहीं है, जिसका उपयोग वैदिक युग के राजनीतिक इतिहास को तैयार करने के लिए किया जा सके। इक्ष्वाकु, मान्धाता, भरत, दिलीप, रघु, रामचन्द्र आदि जिन प्रतापी राजाओं के वीर कृत्यों के वृत्तान्त से प्राचीन भारतीय साहित्य परिपूर्ण है, उनके कोई भी उत्कीर्ण लेख, सिक्के, मुद्राङ्क आदि अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। अयोध्या, हस्तिनापुर, प्रतिष्ठान आदि जिन नगरों में ये राजा शासन करते थे, उनकी खुदाई का कार्य अभी तक इतना नहीं हुआ है जिससे कि इन राजाओं के कोई स्मृति-चिन्ह उपलब्ध हो सकें। पुरातत्त्व-सम्बन्धी-सामग्री के अभाव के कारण कतिपय विद्वान् यह भी प्रतिपादित करने लगे हैं, कि राम आदि की कथा कल्पित है, ये राजा कभी हुए ही नहीं थे। पर भारत में पुरातत्त्व सम्बन्धी अन्वेषण अभी प्रारम्भिक दशा में है। अतः राम, कृष्ण, रघु आदि के मुद्राङ्कों या शिलालेखों आदि का उपलब्ध न होना यह निरूपित करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि वैदिक युग के जिन राजाओं का परिचय हमें पौराणिक अनुश्रुति से प्राप्त होता है, वे वस्तुतः हुए नहीं थे। यह आशा की जा सकती है, कि भविष्य में इन राजाओं के स्मृति-चिन्ह भी उसी प्रकार से उपलब्ध हो जायेंगे, जैसे कि मौर्य तथा गुप्त वंशों के राजाओं के मिल चुके हैं।

पर वर्तमान समय में भी पुरातत्त्व-सम्बन्धी कुछ ऐसी सामग्री उपलब्ध है, जिसका उपयोग वैदिक युग के इतिहास के लिए किया जा सकता है। यह सामग्री दो प्रकार की है—(१) पश्चिमी एशिया के तुर्की, ईराक आदि देशों से प्राप्त उत्कीर्ण लेख, मुद्रांक आदि, जिनसे इन देशों के प्राचीन निवासियों का भारत के धर्म तथा संस्कृति के साथ सम्पर्क होना सूचित होता है, और (२) सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेष। सिन्धुघाटी की यह सभ्यता आर्यों की थी या आर्यभिन्न लोगों की—इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। पर यह निर्विवाद है कि इस सभ्यता का वैदिक युग के आर्यों के साथ सम्बन्ध था। पुरातत्त्व-सम्बन्धी इस सामग्री का उपयोग इस ग्रन्थ में यथास्थान किया जायेगा।

दूसरा अध्याय

वैदिक साहित्य

(१) वैदिक संहिताएँ

यद्यपि मूल वेद या वैदिक संहिताएँ केवल चार हैं, पर वैदिक साहित्य अत्यन्त विशाल है। वेदों के आधार पर या उनके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए या वैदिक मन्त्रों का विनियोग करने के लिए जो अनेकविध ग्रन्थ लिखे गये, उनका समावेश भी वैदिक साहित्य में किया जाता है। इस प्रकार वैदिक साहित्य को प्रधानतया निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) वैदिक संहिताएँ, (२) ब्राह्मण ग्रन्थ, (३) आरण्यक, (४) उपनिषदें, और (५) वेदाङ्ग।

वैदिक संहिताएँ—आर्य जाति का सबसे प्राचीन साहित्य वेद है। वेद का अर्थ है, ज्ञान। वेद मुख्यतया पद्य में हैं, यद्यपि उनमें गद्य भाग भी विद्यमान है। वैदिक पद्य को ऋग् या ऋचा कहते हैं, वैदिक गद्य को यजुष् कहा जाता है, और वेदों में जो गीतात्मक (छन्द रूप) पद हैं, उन्हें साम कहते हैं। ऋचाओं व सामों के एक समूह का नाम सूक्त होता है जिसका अर्थ है, उत्कृष्ट उक्ति या सुभाषित। वेदों में इस प्रकार के हजारों सूक्त विद्यमान हैं। प्राचीन समय में वेदों को 'त्रयी' भी कहते थे। ऋचा, यजुष् और साम—इन तीन प्रकार के पदों में होने के कारण ही वेद की त्रयी संज्ञा भी थी।

पर वैदिक मन्त्रों का संकलन जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, उसे 'संहिता' कहते हैं। विविध ऋषि-वंशों में जो मन्त्र श्रुति द्वारा चले आते थे, बाद में उनका संकलन व संग्रह किया गया। पहले वेद-मन्त्रों को लेखबद्ध करने की परिपाटी शायद नहीं थी। गुरु-शिष्य परम्परा व पिता-पुत्र परम्परा द्वारा ये मन्त्र ऋषि-वंशों में स्थिर रहते थे, और श्रुति (श्रवण) द्वारा शिष्य गुरु से या पुत्र पिता से उन्हें जानता था। इसी कारण उन्हें श्रुति भी कहा जाता था। विविध ऋषि-वंशों में जो विविध सूक्त श्रुति द्वारा चले आते थे, धीरे-धीरे बाद में उनको संकलित किया जाने लगा। इस कार्य का प्रधान श्रेय मुनि वेदव्यास को है। ये महाभारत युद्ध के समकालीन थे और असाधारण रूप से प्रतिभाशाली विद्वान् थे। इनका वैयक्तिक नाम कृष्ण द्वैपायन था, पर इन्हें वेदव्यास इसीलिए कहा जाता था, क्योंकि इन्होंने वेदों का संकलन व वर्गीकरण किया था। वेदव्यास ने वैदिक सूक्तों का संहिता रूप में संग्रह किया। उनके द्वारा संकलित वैदिक संहिताएँ चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। चार वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने सूतों, चारणों व मागधों में चली आती हुई राजवंशों की अनुश्रुति का भी संग्रह किया। उनके ये संग्रह 'पुराण'

कहे जाते हैं। वैदिक संहिताओं में जिस प्रकार ऋषिवंशों की 'श्रुति' संगृहीत है, वैसे ही पुराणों में आर्य-राजवंशों के साथ सम्बन्ध रखने वाली 'अनुश्रुति' संकलित है। वेदव्यास को अठारहों पुराणों का 'कर्त्ता' कहा गया है, पर वस्तुतः वे पुराणों के 'कर्त्ता' न होकर 'संकलयिता' थे। राजवंशों के प्रतापी राजाओं के वीरकृत्यों का आख्यान उस युग के सूतों व चारणों द्वारा किया जाता था। इन सूत वंशों में राजवंशों के आख्यान व गाथायें वैसे ही पिता-पुत्र परम्परा से चली आती थीं, जैसे कि ऋषि-वंशों में सूक्तों की श्रुति। वेदव्यास ने इन सबका संग्रह किया। इसमें सन्देह नहीं, कि मुनि वेदव्यास अपने युग के सबसे बड़े विद्वान् और संकलनकर्ता थे।

चार वेद—अब हम इस स्थिति में हैं, कि चारों वैदिक संहिताओं का संक्षेप के साथ परिचय दे सकें। ऋग्वेद में कुल मिलाकर १०१७ सूक्त हैं। यदि ११ बालखिल्य सूक्तों को भी इनके अन्तर्गत कर लिया जाय, तो ऋग्वेद के कुल सूक्तों की संख्या १०२८ हो जाती है। सम्भवतः, ये बालखिल्य सूक्त परिशिष्ट रूप में हैं, और बाद में जोड़े गये हैं। यही कारण है, कि अनेक विद्वान् इन्हें ऋग्वेद का अंग नहीं मानते, और इस वेद की कुल सूक्त संख्या १०१७ समझते हैं। ये १०१७ या १०२८ सूक्त १० मण्डलों में विभक्त हैं। वेद के प्रत्येक सूक्त व ऋचा (मन्त्र) के साथ उसके 'ऋषि' और 'देवता' का नाम दिया गया है। ऋषि का अर्थ है, मन्त्रद्रष्टा या मन्त्र का दर्शन करने वाला। जो लोग वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, उनके अनुसार वेदों का निर्माण तो ईश्वर द्वारा हुआ था, पर इस वैदिक ज्ञान की अभिव्यक्ति करने वाले ये ऋषि थे। पर आधुनिक विद्वान् वैदिक ऋषि का अभिप्राय यह समझते हैं, कि ये ऋषि मन्त्रों के निर्माता थे। वैदिक देवता का अभिप्राय उस देवता से है, जिसकी उस मन्त्र में स्तुति की गई हो या जिसके सम्बन्ध में मन्त्र में प्रतिपादन किया गया हो।

ऋग्वेद के ऋषियों में सर्वप्रधान गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वशिष्ठ हैं। इन छः ऋषियों व इनके वंशजों ने ऋग्वेद के दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें मण्डलों का दर्शन या निर्माण किया था। आठवें मण्डल के ऋषि कण्व और आंगिरस वंशों के हैं। प्रथम मण्डल के पचास सूक्त भी कण्व-वंश के ऋषियों द्वारा निर्मित हुए। अन्य मण्डलों व प्रथम मण्डल के अन्य सूक्तों का निर्माण विविध ऋषियों द्वारा हुआ, जिन सबके नाम इन सूक्तों के साथ में मिलते हैं। इन ऋषियों में वैवस्वत मनु, शिवि औशीनर, प्रतर्दन, मधुच्छन्दा और देवापि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेद के ऋषियों में कतिपय स्त्रियाँ भी हैं, जिनमें लोपामुद्रा प्रमुख है। लोपामुद्रा राजकुल में उत्पन्न हुई थी। वह विदर्भराज की कन्या थी, और अगस्त्य ऋषि की पत्नी थी।

ऋग्वेद के सूक्तों का विभाग मण्डलों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार से भी किया गया है। इस विभाग के अनुसार ऋग्वेद में आठ अष्टक हैं, और प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में अनेक वर्ग हैं, जिनकी कुल संख्या २०२४ है। ऋग्वेद के मन्त्र संख्या में १०५५२ हैं। एक सूक्त या एक वर्ग में कितने-कितने मन्त्र

हों, यह निश्चित नहीं है। सूक्त एवं वर्ग छोटे-बड़े हैं, और उनके अन्तर्गत मन्त्रों की संख्या भी कम-अधिक है।

यजुर्वेद के दो प्रधान रूप इस समय मिलते हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं, जिसकी दो शाखायें उपलब्ध हैं—काण्व और माध्यन्दिनीय। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखायें प्राप्त होती हैं—काठक संहिता, कपिष्ठल संहिता, मैत्रेयी संहिता और तैत्तिरीय संहिता। विविध ऋषि-वंशों व सम्प्रदायों में श्रुति द्वारा चले आने के कारण मूल वेदमन्त्रों में पाठभेद का हो जाना असम्भव नहीं था। सम्भवतः, इसी कारण से यजुर्वेद की ये विविध शाखायें बनीं। इन शाखाओं में अनेक स्थानों पर मन्त्रों में पाठभेद पाया जाता है। इनमें यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता सबसे महत्त्वपूर्ण है और बहुत-से-विद्वान् उसे ही असली यजुर्वेद मानते हैं। यह चालीस अध्यायों से विभक्त है। इनमें उन मन्त्रों का पृथक्-पृथक् रूप से संग्रह किया गया है जो विविध याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त किये जाते थे। यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् है, जिसका सम्बन्ध याज्ञिक अनुष्ठान से न होकर अध्यात्मचिन्तन के साथ है।

सामवेद की तीन शाखायें इस समय मिलती हैं, कौथुम शाखा, राणायनीय शाखा और जैमिनीय शाखा। इनका आधार भी पाठभेद है। सम्भवतः, पहले सामवेद की अन्य भी बहुत सी शाखायें विद्यमान थीं। पुराणों में तो सामवेद की सहस्र शाखाओं का उल्लेख है। वर्तमान समय में उपलब्ध शाखाओं में कौथुम-शाखा अधिक प्रचलित व प्रामाणिक है। सामवेद के दो भाग हैं। पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। दोनों भागों को मिलाकर मन्त्र संख्या १८६६ है। इसमें अनेक मन्त्र ऐसे भी हैं जो एक से अधिक बार आये हैं। यदि उन्हें अलग कर दिया जाय, तो सामवेद के मन्त्रों की कुल संख्या १५४६ रह जाती है। इनमें से भी १४७४ मन्त्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं। इस प्रकार सामवेद के अपने मन्त्रों की संख्या केवल ७५ रह जाती है। सम्भवतः, सामवेद में ऐसी ऋचाओं का पृथक् रूप से संग्रह कर दिया गया है जिन्हें संगीत के रूप में गाया जा सकता है। सामरूप में ये ऋचायें वैदिक ऋषियों द्वारा संगीत के लिए प्रयुक्त की जाती थीं।

अथर्ववेद की दो शाखायें इस समय मिलती हैं—शौनक और पिप्पलाद। इनमें शौनक शाखा अधिक प्रसिद्ध है और उसे ही प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाता है। अथर्ववेद में कुल मिलाकर २० अध्याय और ७३१ सूक्त हैं। सूक्तों के मन्त्रों को यदि गिना जाय, तो उनकी संख्या ६००० के लगभग पहुँच जाती है। इनमें भी बहुत-से मन्त्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद में पाये जाते हैं।

वेदों की विविध शाखाएँ—हमने ऊपर यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की कतिपय शाखाओं का उल्लेख किया है। पर प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार वेदों की अन्य भी बहुत-सी शाखायें थीं जो वर्तमान समय में अविकल रूप से उपलब्ध नहीं होतीं। पतञ्जलिकृत महाभाष्य में लिखा है, कि यजुर्वेद की १०१ शाखायें हैं, सामवेद की शाखाओं की संख्या एक हजार है, ऋग्वेद की २१ शाखाएँ हैं, और अथर्ववेद की ९

शाखाएँ हैं।[1] पुराण आदि ग्रन्थ प्राचीन साहित्य में भी वेदों की विविध शाखाओं के उल्लेख विद्यमान हैं।[2] दिव्यावदान सदृश बौद्ध ग्रन्थ में भी वेदों की अनेक शाखाएँ गिनायी गई हैं और ऋग्वेद की २० शाखाओं का उल्लेख किया गया है।[3] विविध ऋषि-कुलों में श्रुति द्वारा वेदों का अध्ययन चला आता था, अतः समयान्तर में वेदमन्त्रों में पाठभेद हो जाना अस्वाभाविक नहीं था। वेदों की जो बहुत-सी शाखाएँ हो गई, उसका कारण सम्भवतः यही था।

महाभाष्य में ऋग्वेद की जिन २१ शाखाओं का उल्लेख है, उनमें पाँच शाखायें प्रधान हैं—शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकेय। इन पांच में भी शाकल शाखा मुख्य है। ऋग्वेद नाम से जिस वैदिक संहिता का वर्तमान समय में अध्ययन किया जाता है, वह शाकल शाखा का ही है। इसका 'शाकल शाखा' नाम आचार्य देवमित्र शाकल्य के नाम से पड़ा, जिनके शिष्य 'शाकल' कहलाते थे। शाकल की शिष्य परम्परा में श्रुति द्वारा ऋग्वेद का जो रूप चला आता था, वही शाकल कहाता था और उसे ही आजकल इस वैदिक संहिता का प्रामाणिक पाठ माना जाता है। ऋग्वेद की शाकल शाखा में सूक्तों की कुल संख्या १०१७ है, पर बाष्कल शाखा के ऋग्वेद में आठ सूक्त अधिक हैं। इनमें से एक संज्ञान सूक्त है, जिसकी अन्तिम ऋचा 'तच्छंयोरावृणीमहे' है। यह संज्ञान सूक्त शाकल शाखा में नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त बालखिल्य सूक्तों में से भी सात सूक्तों को बाष्कल शाखा के ऋग्वेद में सम्मिलित किया गया है। बालखिल्य सूक्त संख्या में ११ हैं, जिनमें से पहले सात को बाष्कल शाखा के ऋग्वेद के आठवें मण्डल में स्थान प्राप्त है। ऋग्वेद की शाकल और बाष्कल शाखाओं में मुख्य भेद यही है, यद्यपि प्रथम मण्डल के मन्त्रों के क्रम में भी इन दोनों शाखाओं में भेद पाया जाता है। आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकेय शाखाओं के ऋग्वेद वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं। पर उनके साथ सम्बन्ध रखने वाले कतिपय ऐसे ग्रन्थ अवश्य मिलते हैं, जिन्हें वैदिक साहित्य के अन्तर्गत माना जाता है। आश्वलायन शाखा के गृह्य और श्रौत सूत्र उपलब्ध हैं, और शांखायन शाखा के ब्राह्मण, आरण्यक, श्रौत सूत्र और गृह्य सूत्र। इनके अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि किसी प्राचीन समय में इन शाखाओं की ऋग्वैदिक संहिताओं की सत्ता भी थी। माण्डूकेय शाखा के ऋग्वेद और ब्राह्मण इस समय उपलब्ध नहीं हैं।

यजुर्वेद के दो प्रधान रूपों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। इनमें मुख्य भेद यह है, कि कृष्ण यजुर्वेद में मूल मन्त्रों के साथ-

---

१ 'चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः। एकशतमध्वर्युशाखाः। सहस्रवर्त्मा सामवेदः। एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। नवधाथर्वणो वेदः।'

महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

२. चतुर्धा व्यभजत्तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः।
शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा॥ स्कन्द पुराण।

३. 'सर्वे ते बह्वृचाः पुष्य एको भूत्वा विंशतिधा भिन्नाः। तद्यथा शाकलाः, बाष्कला, माण्डव्या इति।'

साथ उस ब्राह्मण भाग का भी संकलन कर दिया गया, मूल मन्त्रों के विनियोग को स्पष्ट करने के लिये जिसकी रचना की गई है। इसके विपरीत शुक्ल यजुर्वेद में केवल मूल मन्त्र ही संकलित हैं। ब्राह्मण भाग को उसमें समाविष्ट नहीं किया गया। इन दोनों प्रकार के यजुर्वेदों की अनेक शाखाएं वर्तमान समय में उपलब्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेद की प्रधान शाखा वाजसनेयी है, और कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय। वाजसनेय शुक्ल यजुर्वेद की दो मुख्य शाखाएँ हैं, काण्व और माध्यन्दिनीय। काण्व शाखा के यजुर्वेद में चालीस अध्याय और २०८६ मन्त्र हैं। माध्यन्दिनीय शाखा के यजुर्वेद के अध्यायों की संख्या तो ४० ही है, पर मन्त्र १९७५ हैं। शुक्ल यजुर्वेद की अन्य शाखाओं में जाबाल, बौधेय, शापेय, कापोल, पौण्ड्रवत्स, वैजवाप, पाराशर और कात्यायन मुख्य हैं। इनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में हुआ है, और इनके साथ सम्बन्ध रखने वाले वैदिक साहित्य के कतिपय ग्रन्थों के निर्देश भी उनमें विद्यमान हैं। पर इन शाखाओं के यजुर्वेद का काण्व व माध्यन्दिनीय यजुर्वेद से क्या भेद था, यह ज्ञात नहीं है। यजुर्वेद की जो १०१ शाखाएँ कही गई हैं, उनमें से १५ शुक्ल यजुर्वेद की हैं, और ८६ कृष्ण यजुर्वेद की। इन ८६ शाखाओं में इस समय केवल चार उपलब्ध हैं—काठक, कपिष्ठल, मैत्रेयी और तैत्तिरीय। पुराणों के अनुसार कृष्ण यजुर्वेद की ८६ शाखाओं के तीन भेद हैं—उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य।[1] पतञ्जलि के महाभाष्य[2] तथा काशिकावृत्ति[3] में भी ये तीन भेद परिलक्षित होते हैं। उत्तर भारत, मध्य देश तथा पूर्वी भारत में निवास करने वाले विविध ऋषि-वंशों या कुलों में कृष्ण यजुर्वेद के जो पाठभेद होते गए तथा मन्त्रों के क्रम आदि में जो अन्तर आता गया, उसी से इन विविध शाखाओं का विकास हुआ था। वर्तमान समय में उपलब्ध चार शाखाओं में तैत्तिरीय शाखा के ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत सूत्र और गृह्यसूत्र भी विद्यमान हैं, जिसके कारण इसका महत्त्व बहुत अधिक माना जाता है। मैत्रेयी तथा काठक शाखाओं के कृष्ण यजुर्वेदों में बहुत भेद नहीं है। किसी प्राचीन समय में उनका प्रचार बहुत अधिक था। इसीलिए महाभाष्य में लिखा है, कि गांव-गांव में काठक संहिता का पठन-पाठन होता है। पर वर्तमान समय में इन शाखाओं के कृष्ण यजुर्वेदों का अधिक प्रचलन नहीं है। कपिष्ठल शाखा का कृष्ण यजुर्वेद वर्तमान समय में खण्डित रूप में ही प्राप्त है।

पतञ्जलि के महाभाष्य के अनुसार सामवेद की एक सहस्र शाखाएँ थीं। दिव्यावदान में भी इस वेद की १०८० शाखाओं का उल्लेख विद्यमान

---

१. सर्वेषामेव तेषां वै त्रिधा भेदाः प्रकीर्तिताः ॥
त्रिधा भेदास्तु ते प्रोक्ता भेदेऽस्मिन्नवमे शुभे।
उदीच्या मध्यदेश्याश्च प्राच्याश्चैव पृथग् विधाः ॥

वायु पुराण ६१।७-८

२. अथः प्राच्याः अथ उदीच्याः। अथो मध्यमाः।

महाभाष्य ४।२।१३८

३. पाणिनि सूत्र ४।३।१०४ पर काशिका वृत्ति।

है ।[1] पर वर्तमान समय में इन सब शाखाओं के नाम तक भी ज्ञात नहीं हैं, इनकी उपलब्धि का तो प्रश्न ही क्या है ? सामवेद किस प्रकार एक हजार या इससे भी अधिक शाखाओं में विभक्त हुआ, इस सम्बन्ध में पुराणों तथा महाभारत में यह लिखा है कि वेदों का संहिता रूप से संकलन करने वाले कृष्ण द्वैपायन व्यास का अन्यतम प्रधान शिष्य जैमिनी था, जिसे उन्होंने सामवेद की शिक्षा दी थी । जैमिनी का पुत्र सुमन्तु था और उसकी सन्तान-परम्परा में सुन्वान् और सुकर्मा हुए । इन सबने अपने पिताओं से सामवेद की शिक्षा ग्रहण की । सुकर्मा द्वारा सामवेद का बहुत विस्तार किया गया और उन्होंने ही इसकी एक सहस्र संहिताएँ बनाईं । सुकर्मा के दो प्रधान शिष्य थे, हिरण्यनाभ कौशल्य और पौष्पिञ्जी आवन्त्य । इन द्वारा साम का गायन करने वाले (सामग) आचार्यों की दो परम्पराओं का विकास हुआ, प्राच्य सामग और उदीच्य सामग । हिरण्यनाभ और पौष्पिञ्जी की शिष्य परम्परा में सामवेद की विविध शाखाओं का पठन-पाठन होता रहा, और अनेक सुयोग्य आचार्य इनका प्रवचन करने में तत्पर रहे । प्राचीन साहित्य में इन सामग विद्वानों तथा उन द्वारा अध्ययन की जाने वाली संहिताओं के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ विद्यमान हैं, पर उनका यहाँ उल्लेख करना उपयोगी नहीं है । सामवेद की जो शाखाएँ वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, वे कौथुम, राणायनीय और जैमिनीय हैं । पर इनके अतिरिक्त सात्यमुग्राः नैगेयाः, शार्दूलाः, वार्षगण्याः, गौतमाः, भाल्लविन, कालबविनः, शाट्यायनिनः, रौरुकिणः, कापेयाः, माषशराव्यः, करद्विषः, शाण्डिल्याः और ताण्ड्याः सदृश कतिपय अन्य शाखाओं का उल्लेख प्राचीन साहित्य में आया है, यद्यपि वर्तमान समय मे वे उपलब्ध नहीं हैं ।

वर्तमान समय में सामवेद की कौथुम शाखा सबसे अधिक प्रचलित है । सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थ ताण्ड्य महाब्राह्मण का सम्बन्ध इसी शाखा से है । छान्दोग्य उपनिषद् भी इसी के साथ सम्बन्ध रखती है । सामवेद की राणायनीय शाखा और कौथुम शाखा में विशेष भेद नहीं है । दोनों में मन्त्र एक समान हैं, यद्यपि कतिपय शब्दों के उच्चारण के सम्बन्ध में इन शाखाओं में भेद की सत्ता है । महाभाष्य में लिखा है कि राणायनीय और सात्यमुग्र शाखाओं वाले एकार तथा ओकार का अर्ध (ह्रस्व) उच्चारण करते हैं[2] और सन्ध्यक्षरों को भी ह्रस्व पढ़ते हैं ।[3] सामवेद की जैमिनीय शाखा की संहिता, ब्राह्मण, श्रौत सूत्र तथा गृह्यसूत्र सब उपलब्ध हैं । जैमिनीय सामवेद मे मन्त्रों की संख्या कौथुम सामवेद की तुलना में कुछ कम है । उसके पूर्वार्चिक में ६४६ मन्त्र हैं, और उत्तरार्चिक में १०४१ । इस प्रकार जैमिनीय सामवेद

---

१. 'ब्राह्मण सर्व एते छन्दोगाः पञ्चित्तरित्येका भूत्वा साशीतिसहस्रधा भिन्ना ।'

२. ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते । सुजाते ए अश्वसूनृते । अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम् । शुक्रंते ए अन्यद्यजतम् ।
महाभाष्य १।१।४।४८

३. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति ।
(आपिशली शिक्षा, प्रकरण ६)

में कौथुम सामवेद की तुलना में मन्त्र संख्या १८२ कम है। इन शाखाओं के मन्त्रों में अनेक स्थानों पर पाठभेद भी पाया जाता है, और जैमिनीय सामवेद में कुछ मन्त्र ऐसे भी विद्यमान हैं, जो कौथुम सामवेद में नहीं हैं।

पतञ्जलि के अनुसार अथर्ववेद की नौ शाखाएं थीं, जिनके नाम आथर्वण चरणव्यूह के अनुसार निम्नलिखित थे—पैप्पलादाः, मौदाः शौनकीयाः, जाजलाः, देवदर्शाः, चारणविद्याः, स्तौदाः, जलदाः और ब्रह्मवदाः। अन्य अनेक प्राचीन ग्रन्थों में भी अथर्ववेद की नौ शाखाओं के नाम दिये गये हैं, जो चरणव्यूह के नामों से कुछ भिन्न हैं। इन शाखाओं का विकास भी कृष्ण द्वैपायन व्यास की शिष्य परम्परा द्वारा हुआ था। पुराणों के अनुसार व्यास का एक मुख्य शिष्य सुमन्तु था, जिसके शिष्य पथ्य और देवदर्श थे। पथ्य के तीन शिष्य हुए, जाजलि, कुमुद और शौनक। देवदर्श के चार शिष्य थे, मोद, ब्रह्मबल, पिप्पलाद और शौष्कायनि या शौल्कायनि। इन्हीं शिष्यों द्वारा अथर्ववेद की विविध शाखाओं का विकास तथा प्रसार किया गया, और विविध शाखाओं के जो नाम प्रसिद्ध हुए, वे इस गुरु शिष्य परम्परा के आचार्यों के नामों के साथ सम्बद्ध हैं।

वर्तमान समय में जिसे अथर्ववेद के रूप में स्वीकार किया जाता है, वह शौनक शाखा की संहिता है। इसमें २० काण्ड, ७३१ सूक्त और ५९८७ मन्त्र हैं। इनमें से २० प्रतिशत के लगभग मन्त्र ऐसे हैं, जो ऋग्वेद मे भी विद्यमान हैं। अथर्ववेद का प्रसिद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ गोपथ शौनक शाखा का ही ब्राह्मण है। पिप्पलाद शाखा का जो अथर्ववेद इस समय उपलब्ध है, उसमें शौनकीय अथर्ववेद की तुलना में ब्राह्मण भाग अधिक है। साथ ही, इन शाखाओं के अथर्ववेदों में अनेक पाठभेदों की भी सत्ता है। अथर्ववेद की जिन अन्य सात शाखाओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनकी संहिताएं इस समय उपलब्ध नहीं हैं, यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में उनकी सत्ता के निर्देश अवश्य विद्यमान हैं।

वैदिक संहिताओं की विविध शाखाओं का विकास जिन ऋषि-मुनियों द्वारा या उनकी शिष्य परम्परा द्वारा किया गया, उनके सम्बन्ध में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें प्राचीन साहित्य से जानी जा सकती हैं। पुराणों और महाभारत आदि ग्रन्थों में इनके विषय में अनेक कथानक दिये गए हैं, और इनकी शिष्य परम्परा का वृत्तान्त भी आंशिक रूप से उपलब्ध है। पिप्पलाद, शौनक, कण्व, गौतम, शाण्डिल्य, जाबाल आदि प्राचीन भारत के चिन्तकों तथा धर्माचार्यों में विशिष्ट स्थान रखते थे और उन्हीं द्वारा वैदिक संहिताओं की विविध शाखाओं का विकास किया गया था।

वैदिक ऋषि—वेदों में प्रत्येक सूक्त व मन्त्र के साथ उसके ऋषि और देवताओं के नाम भी दिये गये हैं। कात्यायन मुनि द्वारा विरचित 'सर्वानुक्रमणी' में भी वेद के साथ सम्बद्ध ऋषियों का विवरण दिया गया है। पाश्चात्य विद्वानों के मत में ये ऋषि वेदमन्त्रों के कर्ता या रचयिता थे। जिस व्यक्ति ने जिस वेद मन्त्र की रचना की, उसे उस मन्त्र के कर्ता या ऋषि रूप से उल्लिखित कर दिया गया। सम्भवतः, कात्यायन को भी यही मत अभीष्ट था। उन्होंने सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि 'यस्य वाक्यं स

'ऋषिः' । जिसका जो वाक्य या वचन है, वही उसका ऋषि है । पर वेदों को मनुष्यकृत न मानकर ईश्वरीय ज्ञान प्रतिपादित करने वाले विद्वान् यह मानते हैं कि वैदिक ऋषि वेद मन्त्रों के रचयिता न होकर उनके 'द्रष्टा' थे । उन द्वारा मन्त्रों के अर्थ का दर्शन किया गया था, जिसे कि उन्होंने मनुष्यों के कल्याण के लिये प्रतिपादित भी किया था । निरुक्त के कर्ता यास्काचार्य को यही मत अभिप्रेत था । उन्होंने लिखा है, 'ऋषिर्दर्शनात्, ऋषयो हि मन्त्रद्रष्टारः'[1] । जिन्होंने मन्त्रों का दर्शन किया, वे ही उनके ऋषि हैं, क्योंकि ऋषि शब्द ही दर्शन से बना है । ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकी ब्राह्मण में भी ऋषि के अर्थ को मन्त्रद्रष्टा के रूप में ही निरूपित किया गया है ।[2] कतिपय वेद मन्त्र ऐसे भी हैं, जिनके एक से अधिक ऋषियों का उल्लेख मिलता है । ऐतरेय और गोपथ ब्राह्मणों के अनुसार ऋग्वेद की सम्पात ऋचाओं (४।१६) का प्रथम ऋषि विश्वामित्र था ।[3] पर कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में इनका ऋषि वामदेव लिखा गया है । इससे सूचित होता है, कि सम्पात ऋचाओं के अभिप्राय को पहले विश्वामित्र द्वारा प्रगट किया गया, और फिर वामदेव द्वारा । ये दोनों ऋषि इन ऋचाओं के कर्ता या रचयिता न होकर द्रष्टा मात्र थे और दोनों ने अपने-अपने ढंग से इनके अर्थ का दर्शन व प्रतिपादन किया था । ऋषि का अर्थ मंत्रद्रष्टा है, सायणाचार्य को भी यही मत स्वीकार्य था । तैत्तिरीय आरण्यक (४।६।१) का भाष्य करते हुए उन्होंने लिखा है, कि वेद अपौरुषेय हैं, अतः उनका कोई कर्ता नहीं । सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर की कृपा से जिन ऋषियों ने मन्त्रों को ग्रहण किया, उन्हें ही 'मन्त्रकृत' कहा जाता है । न्याय सूत्र पर भाष्य लिखते हुए वात्स्यायन मुनि ने इसी मत को एक अन्य प्रकार से प्रतिपादित किया है । उनके अनुसार जो आप्त या साक्षात्कृतधर्मा व्यक्ति थे, वे वैदिक मन्त्रों के अर्थों के द्रष्टा एवं प्रवक्ता भी थे । वैदिक ऋषि आप्त थे, उन्हें सकल धर्म का साक्षात्कार था । उन्होंने वेद मन्त्रों का दर्शन एवं प्रवचन किया ।[4] बौधायन धर्मसूत्र के मत में मन्त्रों के अर्थ के ज्ञाता ही ऋषि कहलाते हैं ।[5] इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारत के बहुसंख्यक विचारक वैदिक ऋषियों को वेदमन्त्रों का द्रष्टा व प्रवक्ता ही मानते थे, कर्ता या रचयिता नहीं । वेदों के जो मन्त्र संहिताओं में एक से अधिक स्थानों पर आये हैं, उन सबका ऋषि एक ही नहीं लिखा गया है । इससे भी यह सूचित होता है कि वेदमन्त्रों के अर्थ को स्पष्ट करने वाले एक से अधिक व्यक्ति थे । किसी मन्त्र के द्रष्टा व प्रवक्ता तो अनेक हो सकते हैं, पर रचयिता तो एक ही हो सकता है ।

वैदिक संहिताओं के किन सूक्तों तथा मन्त्रों के कर्ता या द्रष्टा कौन से ऋषि थे, यह वात्स्यायनकृत सर्वानुक्रमणी से भलीभांति ज्ञात है । इन ऋषियों के नाम प्राचीन

---

१. निरुक्त १।१०
२. एतरेय ब्राह्मण ३।१६; कौषीतकी ब्राह्मण १०।१
३. एतरेय ब्राह्मण ६।१८; गोपथ ब्राह्मण ६।१
४. 'य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ।' सूत्र २।१।६७ की व्याख्या में ।
५. 'ऋषिर्मन्त्रार्थज्ञः' बौधायन धर्मसूत्र २।६।१६

संस्कृत साहित्य के अन्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं, और इनके सम्बन्ध में कतिपय महत्वपूर्ण सूचनाएं पुराणों तथा महाभारत में विद्यमान हैं। ये ऋषि प्रायः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। जो विचारक वैदिक ऋषियों को वेदमन्त्रों का कर्ता मानते हैं, वे इन ऋषियों के समय के आधार पर वैदिक सूक्तों के निर्माण काल का भी निर्णय करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के दसवें मण्डल के कतिपय मन्त्रों के ऋषि भलन्दन, वात्सप्रि और संकील हैं, जो वैवस्वत मनु के अन्यतम पुत्र नाभानेदिष्ट के वंशज थे। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार इनका जो काल-निर्णय किया जाता है, ऋग्वेद के मन्त्रों का रचनाकाल भी वही माना जाना चाहिये। इसी प्रकार ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों के ऋषि सोमक हैं जो पांचाल देश के राजा सहदेव के पुत्र थे। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार सहदेव और सोमक का जो काल हो, उसी को इन मन्त्रों की रचना का समय मानना होगा। पर यदि ऋषि का अभिप्राय मन्त्र का कर्ता न मानकर 'द्रष्टा' माना जाय, तो इस आधार पर वैदिक सूक्तों की रचना के काल का निर्धारण नहीं किया जा सकेगा।

वैदिक ऋषियों को चाहे वेदमन्त्रों का 'कर्ता' माना जाए और चाहे 'द्रष्टा', यह निर्विवाद है कि भारतीय इतिहास के वैदिक युग का अनुशीलन करने के लिये उनका बहुत महत्व है। ये ऋषि ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और इन के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्वपूर्ण बातें प्राचीन साहित्य में सुरक्षित हैं। पुराणों के अनुसार जिन ऋषियों ने वेदमन्त्रों का साक्षात्कार किया, उनके पांच भेद थे—महर्षि, ऋषि, ऋषीक, ऋषि-पुत्रक और श्रुतर्षि।[1] चरकतन्त्र (सूत्रस्थान) की व्याख्या में भट्टार हरिश्चन्द्र ने चार प्रकार के मुनियों का उल्लेख किया है—ऋषि, ऋषिक, ऋषिपुत्रक और महर्षि।[2] श्रुतर्षि का परिगणन उसने नहीं किया। पुराणों में यद्यपि पाँच वर्गों के ऋषियों का उल्लेख है, पर विशद रूप से परिगणन केवल तीन प्रकार के ऋषियों का ही किया गया है, महर्षियों, ऋषियों और ऋषीकों का। यह विवरण उल्लेखनीय है, क्योंकि इस द्वारा मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की ऐतिहासिक परम्पराओं का परिचय प्राप्त होता है।

पुराणों के अनुसार महर्षि दस थे—भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वशिष्ठ और पुलस्त्य। इनको ब्रह्मा का मानस पुत्र कहा गया है और ये 'स्वयमीश्वर' या स्वयंप्रकाश थे।[3]

भृगु आदि दस महर्षियों के पुत्र या शिष्य ऋषि वर्ग में परिगणित किये गये। ये संख्या में तेरह थे और इनके नाम उशना काव्य, बृहस्पति, कश्यप, च्यवन, उतथ्य, वामदेव, अगस्त्य, औशिज, कर्दम, विश्रवा, शक्ति, वालखिल्य और पर्वत थे। इन सब ने तप और ज्ञान द्वारा ही ऋषि पद प्राप्त किया था।

---

१. वायु पुराण ५९।५६, ब्रह्माण्ड पुराण २।३२।६२, मत्स्य पुराण १४५।५८।
२. "मुनीनां चतुर्विधो भेदः। ऋषयः, ऋषिकाः ऋषिप्रजाः, महर्षयश्च।" चरक, सूत्रस्थान १।७।
३. "ब्रह्मणो मनसा ह्येते उद्भूताः स्वयमीश्वराः।"

ऋषियों की शिष्य परम्परा में जो बहुत-से ज्ञानी या मुनि हुए, उन्हें ऋषि-पुत्र और ऋषिक या ऋषीक कहा गया है। इनमें वत्सर, नग्नहू, भरद्वाज, दीर्घतमा, बृहदुक्थ, शरद्वत, वाजश्रवा, सुचित्त, वश्याश्व, पराशर, दधीच, शंशप और वैश्रवण के नाम पुराणों में गिनाए गए हैं। पर ऋषियों की वंश-परम्परा तथा शिष्य-परम्परा से ऋषिपुत्रों व ऋषिकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई और सर्वानुक्रमणी में जिन ऋषियों के नाम दिये गये हैं उनमें से बहुत-से इन्हीं ऋषिपुत्रों एवं ऋषिकों के वंशों के ही हैं।

महर्षि वर्ग के दस मुनियों के कुलों में जो-जो मन्त्रद्रष्टा हुए, उनका विवरण भी पुराणों में विद्यमान है। भृगु कुल के इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की संख्या १९ बतायी गई है। अङ्गिरा कुल के ३३, अत्रि कुल के ६३ और वशिष्ठ कुल के ७ मन्त्रद्रष्टाओं के नाम पुराणों में विद्यमान हैं। ऋषियों की शिष्य परम्परा में जो मन्त्रद्रष्टा हुए, उनके अनेक नाम भी पुराणों में दिये हुए हैं। इन सबको पृथक्-पृथक् रूप से उल्लिखित करने का विशेष उपयोग नहीं है। पर इनमें मान्धाता, ऋषभ, अम्बरीष, अजमीढ़, दीर्घतमा, कण्व, वामदेव, वाजश्रवा, विश्वामित्र, धनञ्जय, अगस्त्य, वैवस्वत, मनु, पुरूरवा आदि ऐसे नाम हैं, जिनका भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति में महत्त्वपूर्ण स्थान है और जिनसे यह प्रतिपादित किया जाता है कि वैदिक मन्त्रों की रचना किस प्रकार विविध युगों व समयों में होती रही। वेदों के काल निर्धारण के लिए इनका बहुत उपयोग किया जाता है। ऋग्वेद के विविध सूक्तों को जो विभिन्न कालों में निर्मित माना जाता है, उसका आधार जहाँ भाषा का भेद है वहाँ साथ ही उनके ऋषियों के समय में भी भेद की सत्ता है। पुराणों तथा महाभारत आदि में इन ऋषियों के सम्बन्ध में जो आख्यान व अनुश्रुति विद्यमान है, उसके आधार पर ही इनके पूर्वापर्य का निर्धारण किया जाता है, और उसी के अनुसार विविध वैदिक सूक्तों की रचना का समय निश्चित किया जाता है। पर जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, वेदों को अपौरुषेय मानने वाले विद्वान् इस प्रकार के विवेचन को युक्तिसंगत नहीं समझते।

(२) ब्राह्मण ग्रन्थ

वैदिक साहित्य में संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'ब्राह्मण' शब्द ब्रह्म से बना है, जिसके अनेक अर्थ हैं। मन्त्र और यज्ञ के लिए भी ब्रह्म शब्द प्रयुक्त होता है। जो ग्रन्थ वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करें, उनके अभिप्राय को स्पष्ट करें और यज्ञों की विधि एवं अनुष्ठान को प्रस्तुत करें, उन्हीं के लिए 'ब्राह्मण' संज्ञा प्रयुक्त की गई है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में उस कर्मकाण्ड का विशद रूप से वर्णन है, जिसमें वैदिक मन्त्रों को प्रयुक्त किया जाता है। याज्ञिक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त इनमें वेदमन्त्रों के अभिप्राय को भी स्पष्ट किया गया है, और साथ ही उनके विनियोग की विधि का भी वर्णन है। वैदिक साहित्य का यह भाग विविध यज्ञों के लिए वेदमन्त्रों के प्रयोग के नियमों को प्रस्तुत करता है, उनके अभिप्राय को स्पष्ट

करता है, और इस प्रयोजन से परम्परागत आख्यानों एवं कथाओं को भी दृष्टान्त रूप से उपस्थित करता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन वैदिक संहिताओं को समझने के लिए अनिवार्य है। वस्तुतः, इनकी रचना वेदों के अभिप्राय को स्पष्ट करने तथा वेद-मन्त्रों के विनियोग को बताने के लिए ही की गई थी। यही कारण है कि प्रत्येक वेद या उसकी शाखा का अपना-अपना पृथक् ब्राह्मण था। ब्राह्मण-ग्रन्थ वेदों की व्याख्या-रूप ही हैं, इस तथ्य को सायणाचार्य ने भी स्वीकार किया है। तैत्तिरीय संहिता के भाष्य की भूमिका में उन्होंने लिखा है, कि "ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः।" ब्राह्मणों का रूप मन्त्रों के व्याख्यान का है, अतः आदि में मन्त्र ही समाम्नात थे। मूल वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक भेद हैं। वेदमन्त्र प्रायः पद्य में हैं, जबकि ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्य में लिखे गये हैं। संस्कृत गद्य का अत्यन्त प्राचीन रूप ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही पाया जाता है। विषय की दृष्टि से भी इनमें भेद हैं। वैदिक मन्त्रों में प्रायः देवताओं की स्तुति की गई है। इन्द्र, मित्र, वरुण, सोम आदि जो एक ब्रह्म या परमात्मा के विविध रूप हैं और इस सर्वोच्च शक्ति या सत्ता के विभिन्न गुणों को प्रतिपादित करने के लिए देवताओं के रूप में जिनकी कल्पना की गई है, बहुसंख्यक वेदमन्त्रों का विषय उनकी स्तुति ही है, यद्यपि मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के उच्चतम आदर्शों का भी वेदमन्त्रों में निरूपण मिलता है। पर ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय 'विधि' है, वह विधि जिसके अनुसार याज्ञिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान किया जाता है। यज्ञ कब किए जाएँ, कैसे किए जाएँ, किन व्यक्तियों को यज्ञ का अधिकार है, यज्ञ के लिए किन साधनों व सामग्री की आवश्यकता है, और विविध यज्ञों की क्या प्रक्रिया है—इन बातों का विवेचन एवं प्रतिपादन ही ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय है। साथ ही, उनमें यह भी निरूपित किया गया है कि याज्ञिक कर्मकाण्ड में किस मन्त्र का कहाँ विनियोग किया जाए और इस मन्त्र-विनियोग का क्या प्रयोजन है। याज्ञिक कर्मकाण्ड की जिस विधि का प्रतिपादन ब्राह्मण-ग्रन्थों में किया गया है, उसकी युक्तियुक्तता भी उनमें प्रदर्शित की गई है और इसके लिए अनेक गाथाएँ तथा आख्यान भी दिए गए हैं। प्रसङ्गवश ब्राह्मण-साहित्य में ऐसी सामग्री भी आ गई है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत उपयोगी है। वेदों के समान ब्राह्मणों को ईश्वरकृत या अपौरुषेय नहीं माना जाता। इसलिए प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए उनका उपयोग करने में किसी को भी कठिनाई नहीं है।

ऋग्वेद के ब्राह्मण—यह माना जाता है कि वेदों की जितनी शाखाएँ थीं, उतने ही उनके ब्राह्मण, आरण्यक और सूत्र-ग्रन्थ आदि भी थे। इस प्रकार ब्राह्मणों की संख्या एक सहस्र से भी अधिक या १,१३० होनी चाहिए। पर वर्तमान समय में केवल १८ ब्राह्मण-ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के केवल दो ब्राह्मण इस समय मिलते हैं, शाकल शाखा का ऐतरेय ब्राह्मण और बाष्कल शाखा का कौषीतकि ब्राह्मण, जिसे शांखायन ब्राह्मण भी कहा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में आठ पञ्चक हैं, जिनमें से प्रत्येक में पाँच-पाँच अध्याय हैं। इस प्रकार इस ब्राह्मण के अन्तर्गत अध्यायों की कुल संख्या ४० है। अध्याय कण्डिकाओं में विभक्त हैं, जो संख्या में २८५ हैं। ऐतरेय

ब्राह्मण के कर्ता या प्रवक्ता महिदास थे, जिनकी माता का नाम 'इतरा' था। सम्भवतः वह एक दासी थी, जो किसी राजर्षि के घर में रहा करती थी। इतरा का पुत्र होने के कारण महिदास 'ऐतरेय' कहलाया, और उस द्वारा विरचित ब्राह्मण भी ऐतरेय नाम से प्रसिद्ध हुआ। महिदास के दासी-पुत्र होने की कथा सायणाचार्य ने 'ऐतरेय' ब्राह्मण के भाष्य की भूमिका में उल्लिखित की है। महिदास चाहे दासी-पुत्र क्यों न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह वेदों का धुरन्धर विद्वान् था और उस द्वारा विरचित ऐतरेय ब्राह्मण में याज्ञिक कर्मकाण्ड का बड़े विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से इस ब्राह्मण का विशेष महत्त्व है। उसके अन्तिम तीन अध्यायों के अनुशीलन से तत्कालीन भारत की भौगोलिक दशा, विविध राज्यों की सत्ता तथा उनकी शासन पद्धति और अनेक राजवंशों तथा राजाओं का जिस ढंग से प्रामाणिक परिचय मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस ब्राह्मण की सप्तम पञ्चिका (३१-३५ अध्याय) में राजा हरिश्चन्द्र का जो आख्यान दिया गया है, वह पुराणों की कथा से भिन्न है। ऐतरेय ब्राह्मण के इस आख्यान का आधार ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के वे सूक्त (१/२४-२७) हैं, जिनका ऋषि शुनःशेप है। इस आख्यान को सम्मुख रख-कर कतिपय विद्वानों ने नरमेध यज्ञ या यज्ञ में मनुष्य की बलि देने की बात प्रतिपादित की है। पर इस आख्यान का वास्तविक अभिप्राय क्या है, इस पर वैदिक युग के धर्म तथा याज्ञिक कर्मकाण्ड के विषय का विवेचन करते हुए प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि वैदिक युग के धार्मिक जीवन, भौगोलिक दशा तथा इतिहास को जानने के लिए इस ब्राह्मण का बहुत उपयोग है। इसमें उप-लब्ध सामग्री का हम यथास्थान प्रयोग करेंगे।

ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण कौषीतकि या सांख्यायन हैं। इसमें ३० अध्याय हैं, जो खण्डों में विभक्त हैं। खण्डों की कुल संख्या २२६ है। ऐतरेय ब्राह्मण के समान इस ब्राह्मण में भी प्रधानतया याज्ञिक कर्मकाण्ड का निरूपण किया गया है, और अपने समय की धार्मिक दशा के परिज्ञान के लिए यह अत्यन्त उपयोगी है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण—शुक्ल यजुर्वेद का केवल एक ब्राह्मण वर्तमान समय में उप-लब्ध है, जिसे 'शतपथब्राह्मण' कहते हैं। शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं—काण्व और माध्यन्दिनीय के साथ इस ब्राह्मण का सम्बन्ध है। माध्यन्दिनीय शाखा के शतपथ ब्राह्मण में १४ काण्ड हैं जो अनेक अध्यायों में विभक्त हैं। अध्याय के अन्य विभाग ब्राह्मण और कण्डिका हैं। माध्यन्दिनीय शाखा के शतपथ में १४ काण्ड, १०० अध्याय, ४३८ ब्राह्मण और ७,६२४ कण्डिकाएँ हैं। इसके विपरीत काण्व शाखा के शतपथ में १७ काण्डों, १०४ अध्यायों ४३५ ब्राह्मणों और ६,८०६ कण्डिकाओं की सत्ता है। इस प्रकार इन दो शाखाओं के शतपथ ब्राह्मणों में कतिपय भेद भी हैं, यद्यपि उनके प्रतिपाद्य विषय में प्रायः सादृश्य एवं ऐक्य है। वस्तुतः, इन शाखाओं के ब्राह्मणों में जो भेद है, वह विभाग के क्रम के सम्बन्ध में अधिक है, तात्त्विक रूप से उनमें अधिक अन्तर नहीं है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में शतपथ का सबसे अधिक महत्त्व है। वैदिक संहिताओं में जैसे ऋग्वेद सबसे अधिक विशाल व महत्त्व का है, वैसे ही ब्राह्मण-ग्रन्थों में आकार तथा प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से शतपथ को सर्वाधिक महत्त्व का माना जाता है। याज्ञिक कर्मकाण्ड का जितने विशद रूप से प्रतिपादन इस ब्राह्मण में किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से भी शतपथ ब्राह्मण अद्वितीय है। पौराणिक साहित्य के अनेक कथानक और आख्यान शतपथ ब्राह्मण पर भी आधारित हैं। जल-प्लावन, प्रलय और मत्स्यावतार द्वारा मनु की रक्षा किये जाने की जो कथा इस ब्राह्मण में दी गई है, उसमें एक अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक तथ्य की स्मृति सुरक्षित है। भारत में आर्य जाति का प्रसार किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में माथव विदेघ तथा उसके पुरोहित गौतम राहूगण के आख्यान से उत्तम प्रकाश पड़ता है। राजा दुष्यन्त और भरत की कथा जिस ढंग से शतपथ में दी गई है, ऐतिहासिक दृष्टि से उसका भी बहुत महत्त्व है। महाभारत की अनेक कथाएँ भी सूत्र रूप से इस ब्राह्मण में विद्यमान हैं।

कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण-ग्रन्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण है। शतपथ ब्राह्मण के समान इसका आकार भी विशाल है। इसमें तीन काण्ड हैं, जिसमें से पहले और दूसरे काण्डों में आठ-आठ अध्याय (प्रपाठक) हैं और तीसरे काण्ड के अध्यायों की संख्या बारह हैं। अध्यायों के उपविभाग अनुवाक् कहाते हैं, जिनकी कुल संख्या ३०८ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी गवामयन, वाजपेय, राजसूय आदि यज्ञों की विधि एवं कर्मकाण्ड का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। कृष्ण यजुर्वेद के एक अन्य ब्राह्मण के भी कुछ अंश गत वर्षों में उपलब्ध हुए हैं। यह ब्राह्मण काण्व शाखा का है।

सामवेद के ब्राह्मण—वर्तमान समय में सामवेद के जो ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें तीन प्रधान हैं, ताण्ड्य या पंचविंश ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण। ताण्ड्य ब्राह्मण बहुत विशाल है, इसीलिए उसे महाब्राह्मण भी कहते हैं। २५ अध्यायों में विभक्त होने के कारण वह पंचविंश भी कहलाता है। शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों के समान ताण्ड्य ब्राह्मण में भी याज्ञिक अनुष्ठानों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह ब्राह्मण बड़े महत्त्व का है। विशेषतया, व्रात्य यज्ञ का विधान इस ग्रन्थ में जिस ढंग से किया गया है उस द्वारा भारत के इतिहास के एक पहलू पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। आर्य मर्यादा का पालन न करने वाले व्रतविहीन लोगों को आर्यों के दायरे में लाने के लिए विशेष यज्ञ किया जाता था, और इस विधि से उन्हें 'व्रात्य' बना कर दोषमुक्त किया जाता था। जब दक्षिण तथा पूर्व दिशाओं में आर्यों का प्रसार हुआ, तो वे अनेक ऐसी जातियों के सम्पर्क में आये जिनके आचार-विचार आर्यों से भिन्न थे। इनके सम्पर्क से कतिपय आर्य वर्गों में भी आचार-विचार के सम्बन्ध में शिथिलता आने लगी थी। व्रात्य यज्ञ द्वारा इनको दोषविहीन कर आर्य वर्ग में सम्मिलित किया जाता था।

षड्विंश ब्राह्मण पंचविंश या ताण्ड्य ब्राह्मण के परिशिष्ट रूप में है, पर उसे एक पृथक् ब्राह्मण स्वीकार कर लिया गया है। इसे अद्भुत ब्राह्मण भी कहा

जाता है, क्योंकि इसमें भूकम्प, अकाल आदि उत्पातों के शमन का भी विधान मिलता है। कतिपय अभिचार क्रियाएँ भी इस ब्राह्मण में वर्णित हैं, जो उस युग के धार्मिक विश्वासों में स्थान पा चुकी थीं। जैमिनीय ब्राह्मण शतपथ के समान ही अत्यन्त महत्त्व का है। यह जहाँ विशालकाय है, वहाँ साथ ही इसमें भी याज्ञिक कर्मकाण्ड का विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। याज्ञिक विधियों के अभिप्राय तथा प्रयोजन को स्पष्ट करने के लिए इस ब्राह्मण में बहुत-से ऐसे आख्यान भी विद्यमान हैं, इतिहास के लिए जिनका उपयोग किया जा सकता है।

पंचविंश, षड्विंश और जैमिनीय ब्राह्मणों के अतिरिक्त कतिपय ऐसे अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थ भी इस समय उपलब्ध हैं, जिनका सम्बन्ध सामवेद के साथ है। ऐसा एक ब्राह्मण 'वंशब्राह्मण' है, जिसमें सामवेद के ऋषियों की वंशपरम्परा दी गई है। प्राचीन ऋषिवंशों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए यह ब्राह्मण विशेष रूप से उपयोगी है। सामवेद का एक अन्य ब्राह्मण 'सामविधान' है, जिसमें विविध व्रतों यथा अभिचार-क्रियाओं का वर्णन है। तान्त्रिक क्रियाओं के लिए वेदमन्त्रों को कैसे प्रयुक्त किया जाए, यह भी इस ब्राह्मण में प्रतिपादित किया गया है। आर्षेय देवताध्याय और संहितोपनिषद् आदि नामों से कतिपय अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थ भी वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, जिनका सम्बन्ध सामवेद के साथ है।

अथर्ववेद के ब्राह्मण—अथर्ववेद का केवल एक ही ब्राह्मण वर्तमान समय में उपलब्ध हुआ है, जिसे 'गोपथ' कहते हैं। इसमें दो काण्ड हैं—पूर्व-गोपथ और उत्तर-गोपथ। पूर्व-गोपथ में पाँच अध्याय या प्रपाठक हैं, और उत्तर-गोपथ के अध्यायों की संख्या छह है। अध्याय या प्रपाठक कण्डिकाओं में विभक्त हैं, जिनकी कुल संख्या २५८ है। अग्निष्टोम, अश्वमेध, सम्वत्सर सत्र आदि के याज्ञिक विधि-विधानों के प्रतिपादन और उनके साथ सम्बन्ध रखने वाले आख्यानों के उल्लेख के अतिरिक्त इस ब्राह्मण में ओंकार तथा गायत्री की महिमा का भी विशद रूप से निरूपण किया गया है। ब्रह्मचारी को किन नियमों का पालन करना चाहिए और वेदों के अध्ययन में कितना समय लगाना चाहिए—यह विषय भी इस ब्राह्मण में प्रतिपादित है। गोपथ ब्राह्मण की रचना ऋषि गोपथ द्वारा की गई थी, जिनका नाम अथर्ववेद की ऋषि परम्परा में विद्यमान है। अनेक विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि गोपथ ब्राह्मण अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों के बहुत बाद बना था। पर यास्क ने अपने निरुक्त में इस ब्राह्मण से अनेक उद्धरण दिये हैं, जिससे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि निरुक्त के समय तक इस ब्राह्मण की रचना हो चुकी थी। अन्य ब्राह्मणों से अर्वाचीन होने पर भी गोपथ ब्राह्मण का समय सातवीं-आठवीं सदी ईस्वी पूर्व के पश्चात् नहीं रखा जा सकता।

यहाँ हमने ब्राह्मण ग्रन्थों का सामान्य परिचय दिया है। उनमें जो विविध याज्ञिक विधि-विधान व कर्मकाण्ड प्रतिपादित हैं, भारत के धार्मिक इतिहास में उसका विशेष महत्त्व है। इन ब्राह्मणों की रचना के समय वैदिक धर्म का रूप यज्ञप्रधान हो चुका था। भारत के इस धार्मिक विकास पर अगले एक अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डाला जायेगा।

(३) आरण्यक ग्रन्थ

क्योंकि वैदिक संहिता की प्रत्येक शाखा के अपने-अपने पृथक् ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और सूत्र-ग्रन्थ होते थे, अतः आरण्यकों की संख्या भी सहस्र से अधिक होनी चाहिए। पर वर्तमान समय में केवल आठ आरण्यक-ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं, जिन में ऐतरेय आरण्यक, शांख्यायन आरण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक, बृहदारण्यक, जैमिनीयोपनिषदारण्यक और छान्दोग्य आरण्यक प्रधान हैं।

आरण्यक-ग्रन्थ ब्राह्मणों के परिशिष्टों के समान हैं। उनमें याज्ञिक विधि-विधानों व कर्मकाण्ड का प्रतिपादन न कर आध्यात्मिक व दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन किया गया है। भारत के प्राचीन चिन्तकों ने मानव जीवन को चार भागों या आश्रमों में विभक्त किया था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए मनुष्य को जो धार्मिक अनुष्ठान करने होते थे, यज्ञ उनमें प्रधान थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन्हीं याज्ञिक विधि-विधानों का प्रतिपादन किया गया है। पर मनुष्य को अपना सम्पूर्ण जीवन गृहस्थ आश्रम में ही नहीं बिता देना चाहिए था। जब उसके पौत्र हो जाए और उसके बाल पकने लगें, तो उसे गृहस्थ का त्याग कर अरण्य (जंगल) में चले जाना चाहिए और वहाँ आरण्यक आश्रम में निवास करते हुए अध्यात्म चिन्तन में अपना समय बिताना चाहिए। इन्हीं आरण्यक आश्रमों में उस चिन्तन का विकास हुआ, जो आरण्यक ग्रन्थों तथा उपनिषदों में संकलित है। ऐतरेय आरण्यक के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है—"अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते"। इसका अर्थ यह है, कि इन ग्रन्थों को आरण्यक इस कारण कहा जाता है, क्योंकि इनका पठन-पाठन अरण्य में ही होता है। गृहस्थ आश्रम से निकल कर प्राचीन भारतीय जब शहरों और ग्रामों से दूर जंगल में आश्रम बना कर निवास करने लगते थे, तब उनके लिए वहाँ अध्यात्म तथा दार्शनिक तत्त्वों का अनुशीलन कर सकना सुगम होता था। वे अनुभव करते थे, कि याज्ञिक विधि विधान किसी अधिक गम्भीर तथ्य या रहस्य को प्रकट करने के साधन मात्र हैं। गृहस्थ जीवन में वे जिस याज्ञिक कर्मकाण्ड का निष्ठापूर्वक अनुष्ठान करते रहे हैं, अब उसके वास्तविक तत्त्व व रहस्य को भी उन्हें समझना चाहिए। इसीलिए वानप्रस्थ आश्रम में आरण्यक ग्रन्थों के पठन-पाठन द्वारा यज्ञों की दार्शनिक व्याख्या तथा वास्तविक अभिप्राय से अवगत हुआ जाता था। इसीलिए आरण्यकों का एक अन्य नाम 'रहस्य' भी था। निरुक्त की टीका में दुर्गाचार्य ने ऐतरेय आरण्यक से एक उद्धरण दिया है (१/४) और इसे 'ऐतरेय के रहस्य ब्राह्मण' से उद्धृत कहा है। आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मणों के परिशिष्ट रूप में होते हुए भी उनसे भिन्न हैं, क्योंकि उनमें याज्ञिक विधि विधानों का प्रतिपादन न कर यज्ञों की दार्शनिक व्याख्या की गई है, जिससे याज्ञिक कर्मकाण्ड का रहस्य समझ में आ जाता है। उपनिषदों में जो ब्रह्मज्ञान एवं अध्यात्म चिन्तन विकास की परम दशा को प्राप्त हुआ, उसका प्रारम्भ आरण्यकों में दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः, उपनिषदें आरण्यकों के अन्तर्गत हैं या उनके परिशिष्टों के समान हैं। इन ग्रन्थों से जहाँ प्राचीन भारत के धार्मिक

विकास तथा दार्शनिक चिन्तन का परिचय प्राप्त होता है, वहाँ उनमें ऐसी सामग्री भी विद्यमान है जिसका उपयोग प्राचीन इतिहास के लिए किया जा सकता है। तैत्तिरीय आरण्यक में कुरु, पंचाल, काशी, विदेह, मत्स्य आदि कितने ही जनपदों का उल्लेख है, और उनके ऋषियों से सम्बद्ध कथानक भी उसमें दिये गये हैं। शुनःशेप और अहिल्या आदि के प्राचीन आख्यान भी उसमें विद्यमान हैं। यही बात बृहदारण्यक सदृश अन्य आरण्यकों के विषय में भी कही जा सकती है। बृहदारण्यक में कितने ही चक्रवर्ती राजाओं का उल्लेख है, जिन्होंने भारत के बड़े भाग को जीत कर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत किया था।

वर्तमान समय में जो आठ आरण्यक उपलब्ध हैं, उनमें से ऐतरेय और शांखायन आरण्यकों का सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। ऐतरेय आरण्यक ऐतरेय ब्राह्मण का ही परिशिष्ट है। इस आरण्यक के पाँच भाग हैं, जिन्हें भी आरण्यक कहा जाता है। प्रत्येक भाग में एक से सात तक अध्याय हैं। ऐतरेय उपनिषद् इसी आरण्यक का अन्यतम अंग है। ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक शाङ्खायन है, जिसका एक भाग कौषीतकी उपनिषद् के रूप में है।

कृष्ण यजुर्वेद का आरण्यक तैत्तिरीय है, जो दस प्रपाठकों या परिच्छेदों में विभक्त है। प्रपाठकों के उपविभाग अनुवाक् हैं, जिनकी संख्या इस आरण्यक के विविध संस्करणों में एक समान नहीं है। तैत्तिरीय उपनिषद् इसी आरण्यक का अङ्ग है। तैत्तिरीय आरण्यक के सातवें, आठवें और नवें प्रपाठकों से ही तैत्तिरीय उपनिषद् का निर्माण हुआ है, और दसवें प्रपाठक से नारायणीयोपनिषद् का। शुक्ल यजुर्वेद का आरण्यक बृहदारण्यक है, जो उसके ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण का ही एक भाग है। बृहदारण्यक उपनिषद् इसी आरण्यक के अन्तर्गत है।

सामवेद का आरण्यक जैमिनीयोपनिषदारण्यक है, जिसे तवलकार आरण्यक भी कहते हैं। केन उपनिषद् इसी आरण्यक का अंग है। छान्दोग्य आरण्यक का सम्बन्ध भी सामवेद से है। अथर्ववेद का कोई आरण्यक इस समय उपलब्ध नहीं है।

(४) उपनिषद्

प्राचीन भारतीय आर्यों के धर्म में यज्ञों की प्रधानता थी, और वे याज्ञिक विधि-विधानों तथा कर्मकाण्ड को बहुत महत्त्व देते थे। इसीलिए याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रतिपादन और उनमें वेद मन्त्रों के विनियोग को प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना की थी। पर वैदिक ऋषि आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं पारलौकिक विषयों का भी चिन्तन किया करते थे। आत्मा क्या है, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि के मूल तत्त्व कौन से हैं, सृष्टि का कर्त्ता व नियामक कौन है, जड़ प्रकृति से भिन्न जो चेतन सत्ता है उसका क्या स्वरूप है—इस प्रकार के प्रश्नों पर भी वे गम्भीरता से विचार किया करते थे। वेदों के अनेक सूक्तों में इन्हीं विषयों का निरूपण किया गया है। उपनिषदों में इन्हीं आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं पारलौकिक प्रश्नों का विशद रूप से विवेचन है। जिन चिन्तकों व ऋषियों ने उपनिषदों की रचना की, वे

प्रायः आरण्यक आश्रमों में निवास किया करते थे, और सांसारिक समस्याओं से विच्छिन्न होकर गम्भीर चिन्तनों से व्यापृत रहा करते थे। जैसा कि आरण्यक-ग्रन्थों का परिचय देते हुए लिखा जा चुका है, अनेक उपनिषदें आरण्यकों की ही अङ्ग हैं, यद्यपि ऐसी उपनिषदों की भी सत्ता है जिनका सम्बन्ध किसी आरण्यक के साथ नहीं है।

आरण्यक आश्रमों में निवास करते हुए ऋषियों ने जिन उपनिषदों की रचना की, उनकी संख्या २०० से भी ऊपर है। पर इन सब का महत्त्व एक समान नहीं है, और न ही सबको प्रमाण रूप से स्वीकार किया जाता है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या १०८ है, जिनमें से १० का सम्बन्ध ऋग्वेद से है, १९ का शुक्ल यजुर्वेद से और ३२ का कृष्ण यजुर्वेद से। १६ का सम्बन्ध सामवेद से और ३१ का सम्बन्ध अथर्ववेद के साथ है। पर मुख्य एवं प्रामाणिक उपनिषदें दस मानी जाती हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक। शंकराचार्य ने इन दस उपनिषदों पर ही अपना भाष्य लिखा है। आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द ने भी इन्हीं की प्रामाणिकता स्वीकार की है। इनके अतिरिक्त कौषीतकी और श्वेताश्वर उपनिषदों को भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। शंकराचार्य ने यद्यपि इन पर भाष्य नहीं लिखा, पर ब्रह्मसूत्र भाष्य में इन से भी अनेक उद्धरण दिये हैं। ये बारह उपनिषदें न केवल महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक हैं, अपितु प्राचीन भी हैं। अन्य उपनिषदों को बाद के समय का माना जाता है। अध्यात्म तथा पारलौकिक विषयों के सम्बन्ध में इन अन्य उपनिषदों में जो तथ्य प्रतिपादित किये गये हैं, महत्त्व उनका भी कम नहीं है। न केवल भारत के अपितु विदेशी व विधर्मी विद्वान् भी इन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते रहे हैं। यही कारण है कि सतरहवीं सदी के मध्य भाग में मुगल बादशाह शाहजहां के पुत्र दाराशिकोह ने पचास के लगभग उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद कराया था।

उपनिषदें गद्य और पद्य दोनों में हैं। प्रश्न, माण्डूक्य, केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और कौषीतकी उपनिषदें प्रधानतया गद्य में हैं, और ईश, कठ तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों की रचना पद्य में है। जैसे कि पहले लिखा जा चुका है अनेक उपनिषदें वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों एवं आरण्यकों के अंग रूप में है। ईश उपनिषद् यजुर्वेद संहिता का अन्तिम या चालीसवां अध्याय है। इसे यजुर्वेद का ही एक अंश माना जाना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् इसी नाम (बृहदारण्यक) के आरण्यक का अन्यतम अंश है, जो स्वयं शतपथ ब्राह्मण का एक भाग है। छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद के संहितोपनिषद् ब्राह्मण का एक भाग है, और तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय आरण्यक के अन्तर्गत है। इसी प्रकार ऐतरेय उपनिषद् भी इसी नाम के आरण्यक (ऐतरेय आरण्यक) का एक भाग है। मुण्डक, माण्डूक्य और प्रश्न उपनिषदों का सम्बन्ध अथर्ववेद से माना जाता है। ये तीनों उपनिषदें किसी आरण्यक का अंग नहीं हैं। अथर्ववेद का कोई आरण्यक अभी उपलब्ध नहीं हुआ है।

उपनिषदों का विषय याज्ञिक कर्मकाण्ड से सर्वथा भिन्न है। उनमें तो इस विचार का भी आभास मिलता है, कि यज्ञों का कोई विशेष लाभ नहीं है। अध्यात्म-

चिन्तन तथा तत्त्वज्ञान को ही उनमें अधिक महत्त्व दिया गया है। मुण्डक उपनिषद् में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि यज्ञ ऐसी नौकाओं के समान हैं जिन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। जो मूर्ख लोग श्रेय समझ कर उनको अपनाते हैं या उनका अभिनन्दन करते हैं, वे पुनः-पुनः वृद्धावस्था तथा मृत्यु को प्राप्त होते हैं अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं।[1] उपनिषदों में जिस तत्त्वज्ञान का निरूपण किया गया है, उस पर हम प्राचीन भारत की धार्मिक दशा पर विचार करते हुए प्रकाश डालेंगे। पर यहाँ उसकी कुछ मुख्य शिक्षाओं का निर्देश कर देना उपयोगी होगा।

ईशोपनिषद् में ईश्वर के स्वरूप को इस प्रकार प्रगट किया गया है, कि वह दूर भी है और समीप भी है, वह चलता भी है और नहीं भी चलता, वह सब के अन्दर भी है और सबके बाहर भी है।[2] यह सम्पूर्ण विश्व ईश्वर द्वारा व्याप्त है।[3] पर ईश्वर के ज्ञान के साथ-साथ मनुष्य को कर्म में भी तत्पर रहना चाहिए। ब्रह्मज्ञान में लीन होकर मनुष्य को कर्म से विमुख नहीं हो जाना चाहिए, अपितु कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए।[4] निष्काम कर्म के जिस सिद्धान्त को गीता में अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, उसका प्रतिपादन सबसे पूर्व ईशोपनिषद् द्वारा ही किया गया था। यह उपनिषद् कर्म का परित्याग करने का उपदेश न देकर जीवनपर्यन्त निष्काम भाव से कर्म करने का उपदेश देती है।

कठ उपनिषद् में आचार्य यम द्वारा नचिकेता को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया गया है। आत्मा के सम्बन्ध में उपनिषद् का कथन है कि "न इस आत्मा का कभी जन्म होता है और न इसकी कभी मृत्यु होती है। यह अजन्मा, नित्य और शाश्वत है। शरीर के मर जाने पर आत्मा नहीं मर जाती।"[5] परमात्मा के विषय में आचार्य यम का यह कथन है, कि "सारे वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं, जिसे लक्ष्य में रख कर सब प्रकार के तप किए जाते हैं, जिसका ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया जाता है, उस पद को तुम्हें संक्षेप में बताता हूँ, वह पद 'ओ३म्' ही है।"[6] इस परमात्मा की प्राप्ति का उपाय क्या है? परमात्मा को न प्रवचनों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, न बहुश्रुत होकर और न अत्यधिक बुद्धि का प्रयोग

---

१. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युन्ते पुनरेवापि यन्ति॥ मुण्डक १।२।७

२. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ईशो० ५

३. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत्।' ईशो० १

४. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः॥

५. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ कठ० १।२।१८

६. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ क० १।२।१५

कर।[1] स्वयं भगवान् जिसका वरण कर लें, वही उसे प्राप्त कर सकता है; उसी के सम्मुख परमात्मा का स्वरूप स्पष्ट हो पाता है।[2]

प्रश्नोपनिषद् में ऋषि पिप्पलाद और छह ऋषियों के संवाद संकलित हैं। सुकेशा, सत्यकाम, सौर्यायणी, आश्वलायन, भार्गव और कबन्धी नाम के छह ऋषि पिप्पलाद के पास गये और उनसे अध्यात्म विद्या-सम्बन्धी अनेक प्रश्न पूछे। प्रश्नोपनिषद् में ये प्रश्न और पिप्पलाद द्वारा दिए गए उनके उत्तर अत्यन्त सुन्दर रूप से संगृहीत हैं। ब्रह्मज्ञान का जो निचोड़ ऋषि पिप्पलाद द्वारा प्रस्तुत किया गया है, वह यह है कि प्राण, पञ्च महाभूत, मन, इन्द्रिय, अन्न, वीर्य, तप, कर्म, मन्त्र, लोक, और नाम—ये सब ब्रह्म से उत्पन्न होकर अन्त में पुनः उसी प्रकार ब्रह्म में लीन हो जाते हैं जैसे कि नदियाँ समुद्र में लीन हो जाती हैं। समुद्र में लीन होकर नदियों का न नाम ही रहता है, और न रूप ही। वे समुद्र में लीन होकर उसी के साथ एकाकार हो जाती हैं। इसी प्रकार मन, इन्द्रिय आदि परम पुरुष या ब्रह्म में लीन होकर अपने नाम-रूप या व्यक्तित्व का परित्याग कर देती हैं।[3]

मुण्डक उपनिषद् में कर्मकाण्ड की हीनता प्रतिपादित कर यज्ञों को ऐसी नौका के समान कहा गया है जो अदृढ़ है, और जिस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। फिर ब्रह्म की प्राप्ति का साधन क्या है? मुण्डक उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान के लिए मनुष्य को गुरु का सहारा लेना चाहिए—ऐसे गुरु का जो स्वयं ब्रह्मनिष्ठ हो।[4] पर सब कोई के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे गुरु से भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति कर सकें, क्योंकि परमात्मा का ज्ञान 'बलहीन' व्यक्तियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसके लिए ब्रह्मविद्या का अधिकारी होना आवश्यक है, जो अभ्यास और तप द्वारा ही सम्भव है। गुरु ब्रह्म-विद्या का उपदेश उसी को देते हैं, जिसने तप और व्रतों द्वारा अपने को सबल एवं योग्य या अधिकारी बना लिया हो, और इस उपदेश को प्राप्त कर मनुष्य जब परब्रह्म को जान लेता है तो उसके सब संशय मिट जाते हैं, हृदय की गाँठ खुल जाती है और उसे कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, उसके कर्म स्वयं ही क्षीण हो जाते हैं।[5] ब्रह्म का गुरु द्वारा जिस रूप में मुण्डक उपनिषद् में प्रतिपादन किया गया है, वह इस प्रकार है—ब्रह्म अमृत है, वह सामने की ओर है,

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
२. यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ क० १।२।२२
३. "स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते; एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति।" प्रश्न उप० ६।५
४. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। मुण्डक १।२।१२
५. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ मुण्डक २।२।८

पीछे की ओर है, दक्षिण में है, उत्तर में है, नीचे है, ऊपर है, वह सम्पूर्ण विश्व में सर्वत्र है, यह सब विश्व ब्रह्म ही है।[1]

माण्डूक्य उपनिषद् में ब्रह्म के साकार और निराकार—दोनों रूपों का निरूपण किया गया है। ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी, और वह अपने को अनेक रूपों में प्रकट करता है। बाद में वेदान्त दर्शन में ब्रह्म और उसके मायावच्छिन्न रूप का जो तात्त्विक विवेचन किया गया, उसका मूल इस उपनिषद् में विद्यमान है।

ऐतरेय उपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि प्रारम्भ में केवल 'आत्मा' की ही सत्ता थी, अन्य कोई भी सत्ता उस समय नहीं थी। उस आत्मा ने यह इच्छा की, कि लोक या सृष्टि को उत्पन्न करूँ। परिणाम यह हुआ कि उस 'आत्मा' के संकल्प से प्राण, आदित्य, दिशाएँ, मन, अग्नि, ओषधि, जल आदि की उत्पत्ति हुई और इस विश्व का विकास हुआ। सृष्टि की उत्पत्ति एक आत्मा या ब्रह्म से ही हुई है, इस दार्शनिक सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन इस उपनिषद् में विद्यमान है।

केन उपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए गुरु-शिष्य के संवाद द्वारा प्रश्नोत्तर शैली का आश्रय लिया गया है। साथ ही, उमा और हैमवती के आख्यान द्वारा यह प्रगट किया गया है कि ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है और उसकी तुलना में अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवताओं की शक्ति बहुत कम है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में जहाँ ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन है, वहाँ साथ ही गुरु और शिष्य के पारस्परिक व्यवहार में जिन आदर्शों को सम्मुख रखना चाहिए, उनका भी निर्देश किया गया है। शिक्षा की समाप्ति पर आचार्य द्वारा अपने शिष्यों (स्नातकों) को जो उपदेश दिया जाता था, इस उपनिषद् में अत्यन्त सुन्दर एवं विशद रूप से उसका उल्लेख है। सदा सत्य बोलो, सदा धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से कभी प्रमाद न करो आदि का उपदेश देकर आचार्य द्वारा यह भी कहा गया है कि हमारे जो आचरण व कर्म श्रेष्ठ हों, तुम्हें उन्हीं का अनुकरण करना है दूसरों का नहीं। यदि तुम्हें कभी इस सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हो कि कौन-से कार्य करणीय हैं या कौन-सा आचरण श्रेष्ठ है, तो यह देखो कि बड़े श्रेष्ठ लोग क्या कुछ करते हैं, और कौन-से आचरणों को अपनाते हैं।[2] शिष्यों को दिया गया यह उपदेश आदर्श तथा पूर्ण है। वर्तमान समय में भारत के बहुत से विश्वविद्यालयों ने इसी को दीक्षान्त भाषण के लिए अपना लिया है। ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में तैत्तिरीय उपनिषद् का यह कथन बड़े महत्त्व का है, कि मन के साथ न पहुँच सकने के कारण जहाँ से वाणी वापस लौट आती है, वह ब्रह्म आनन्दरूप है। जब मनुष्य उसको जान लेता है, तो उसे किसी

---

१. मुण्डक उपनिषद् २।२।११

२. "सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।.........यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नेतराणि.........

प्रकार का कोई भय नहीं रह जाता।[1]

सामवेद के साथ सम्बद्ध छान्दोग्य उपनिषद् का ब्रह्म के ज्ञान के लिए अत्यधिक महत्त्व है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अद्वैतवाद का मूलभूत सिद्धान्त है। यह सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है, वेदान्त के इस सिद्धान्त का सबसे पूर्व स्पष्ट रूप से उल्लेख इसी उपनिषद् में मिलता है।[2] नारद और सनत्कुमार, केकयराज अश्वपति, सत्यकाम जाबालि, घोर आङ्गिरस और देवकीपुत्र कृष्ण आदि के आख्यानों द्वारा इस उपनिषद् में अध्यात्मज्ञान और ब्रह्मतत्त्व का अत्यन्त उत्कृष्ट रूप से निरूपण किया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् अन्य सब उपनिषदों की अपेक्षा अधिक विशाल है। इसके प्रधान प्रवक्ता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं, जिनके अनेक संवाद इस उपनिषद् में संकलित हैं। विदेह के राजा जनक की राजसभा में कितने ही ब्रह्मवादी विद्वानों को याज्ञवल्क्य ने शास्त्रार्थ में परास्त कर स्वयं ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया। इस महर्षि की दो पत्नियाँ थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी। इनसे विदा लेकर और अपनी सब सम्पत्ति इन्हें प्रदान कर याज्ञवल्क्य आरण्यक आश्रम में प्रवेश करते हैं, और विविध अवसरों पर इन विदुषी महिलाओं से उनके जो संवाद होते हैं, वे भी इस उपनिषद् में विद्यमान हैं। मैत्रेयी को उपदेश देते हुए 'आत्मा' के ज्ञान के महत्त्व को इस प्रकार प्रकट किया गया है—"आत्मा ही द्रष्टव्य है, आत्मा ही श्रोतव्य है, आत्मा का ही मनन करना चाहिए। आत्मा का ही निदिध्यासन करना चाहिए। हे मैत्रेयि! आत्मा के ही दर्शन, श्रवण और सम्यक् ज्ञान द्वारा सब कुछ विदित हो जाता है।"[3]

निःसन्देह, प्राचीन भारतीय चिन्तकों द्वारा जिस अध्यात्मविद्या तथा ब्रह्मज्ञान का निरूपण किया गया था, उपनिषदों में वह अत्यन्त आकर्षक एवं पठनीय भाषा में संकलित है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' सदा सत्य की ही विजय होती है झूठ की नहीं, और 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' बलहीन व्यक्ति परमात्मा को कभी प्राप्त नहीं कर सकते—ऐसे कितने ही वाक्य उपनिषदों में विद्यमान हैं, जो मनुष्यों के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के लिए भी प्रकाशस्तम्भ का कार्य करते हैं।

(५) अनुक्रमणी-ग्रन्थ

प्राचीन समय में जब मुद्रणालयों की सुविधा नहीं थी, साहित्य को या तो कण्ठस्थ कर सुरक्षित रखा जाता था या हस्तलिखित रूप से। दोनों में यह आशंका बनी रहती

---

१. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥ तैत्तिरीय २।९

२. छान्दोग्य उपनिषद् ३।१४।१

३. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।
बृहदारण्यक ४।५।६

थी कि कहीं ग्रन्थ के शुद्ध पाठ में अन्तर न पड़ जाए। वैदिक संहिताओं का आर्यजाति की दृष्टि में विशेष महत्त्व था, अतः उनके पाठ में अशुद्धियाँ न होने पाएँ, इसके लिए विशेष उद्योग किया गया। इसी प्रयोजन से उन ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिन्हें 'अनुक्रमणी' कहा जाता है। ये ग्रन्थ न वैदिक साहित्य के अन्तर्गत हैं, और न वेदाङ्गों के। पर क्योंकि वेदों के शुद्ध पाठ की सुरक्षा के लिए इनका बहुत उपयोग है, अतः इनके सम्बन्ध में कुछ परिचय देना उपयोगी होगा।

अनुक्रमणी-ग्रन्थों में वेदों के ऋषियों, देवताओं छन्दों और विविध विभागों (सूक्त, मन्त्र आदि) की सूचियां प्रस्तुत की गई हैं। इन ग्रन्थों के रचयिताओं में शौनक और कात्यायन प्रधान हैं। शौनक ने ऋग्वेद की शुद्धता की रक्षा के निमित्त दस ग्रन्थों की रचना की थी—आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवादकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधान, पाद विधान, बृहद्देवता, प्रातिशाख्य और शौनकस्मृति। ये सब ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध हैं। इनमें से पहले पाँच में ऋग्वेद के ऋषियों, छन्दों, देवताओं, अनुवाकों और सूक्तों की सूचियाँ दी गई हैं। ऋग्विधान में विशेष प्रयोजन से मन्त्रों के प्रयोग का विवरण है। बृहद्देवता में न केवल ऋग्वेद के देवताओं का परिगणन है, अपितु साथ ही उनके साथ सम्बद्ध आख्यान भी इस ग्रन्थ में दिये गये हैं। कात्यायन द्वारा विरचित 'सर्वानुक्रमणी' बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के प्रथम पद, उस सूक्त के अन्तर्गत ऋचाओं की संख्या, सूक्त के ऋषि का नाम तथा गोत्र, सूक्तों तथा उनके अन्तर्गत मन्त्रों के देवताओं का निर्देश और मन्त्रों के छन्दों का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों पर भी कात्यायन ने अनुक्रमणियाँ लिखी थीं, जिनमें से अन्यतम 'शुक्ल यजुः-सर्वानुक्रम सूत्र' विशेष महत्त्व का ग्रन्थ है। इसमें माध्यन्दिन शाखा की यजुर्वेद संहिता के ऋषियों, देवताओं तथा छन्दों का विशद रूप से वर्णन किया गया है।

अथर्ववेद के साथ सम्बन्ध रखने वाला अनुक्रमणी ग्रन्थ 'बृहत्सर्वानुक्रमणी' है, जिसमें अथर्ववेद के प्रत्येक काण्ड के सूक्तों के मन्त्रों, छन्दों, ऋषियों तथा देवताओं का पूरा-पूरा विवरण दिया गया है। सामवेद से सम्बद्ध भी अनेक ऐसे ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, जिनका स्वरूप अनुक्रमणियों के सदृश है।

यद्यपि अनुक्रमणी ग्रन्थों की रचना ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों के समय से बहुत पीछे हुई थी, और उन्हें वैदिक साहित्य के अन्तर्गत नहीं माना जाता, पर इसमें सन्देह नहीं कि वेदों की शुद्धता को बनाये रखने में उनका बहुत उपयोग था, और इसीलिए उन पर कितने ही भाष्यों तथा टीकाओं आदि की भी रचना की गई थी।

तीसरा अध्याय

वैदिक साहित्य का विकास-वेदांग और उपवेद

(१) छह वेदाङ्ग

वैदिक साहित्य के अंगभूत वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। बाद में वेद-सम्बन्धी जिस साहित्य का विकास हुआ, उसे 'वेदाङ्ग' कहते हैं। ये वेदाङ्ग छह हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। पाणिनीय शिक्षा ग्रन्थ में एक रूपक द्वारा इन्हें इस प्रकार से वेदों का अङ्ग बताया गया है—छन्द वेद के पाद हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष आँखें हैं, निरुक्त कान हैं, शिक्षा नासिका है, और व्याकरण मुख है। अतः इन अंगों (वेदाङ्गों) के साथ वेदों का अध्ययन करने पर ही ब्रह्मलोक में महत्त्व की प्राप्ति सम्भव है।[1] उपनिषदों और महाभाष्य में भी इन वेदाङ्गों का उल्लेख है। मुण्डक उपनिषद् में विद्या के दो प्रकार बताए गए हैं—परा और अपरा। अपरा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के साथ उनके छह अंगों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष का परिगणन किया गया है।[2] महाभाष्य में लिखा है कि ब्राह्मण को किसी कारण या प्रयोजन के बिना भी षडङ्ग वेदों का अध्ययन करना चाहिये, उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[3] गोपथ ब्राह्मण सदृश ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थों में भी इन छह वेदाङ्गों का उल्लेख विद्यमान है।[4] इसमें सन्देह नहीं कि वेदों के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए, या उनके अध्ययन की सुगमता के लिए, या उनकी शिक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए, जिस प्रकार ब्राह्मणों और आरण्यकों आदि की रचना की गई, वैसे ही और प्रायः इन्हीं उद्देश्यों से वेदाङ्गों का भी निर्माण किया गया।

---

१. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥ (पाणिनीय शिक्षा)

२. "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च तत्रापरा-ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा-यया तदक्षरमधिगम्यते।" मुण्डक उपनिषद् १।१।४-५।

३. "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।"

४. गोपथ ब्राह्मण १।२७

ये छहों वेदाङ्ग वेदों के अध्ययन तथा उनके अभिप्राय को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। 'शिक्षा' उस शास्त्र का नाम है, जिसमें वर्णों और शब्दों का सही उच्चारण प्रतिपादित किया जाता है। प्राचीन आर्य वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण को बहुत महत्त्व देते थे। इसीलिए उन्होंने शिक्षा वेदाङ्ग के अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों में प्रातिशाख्यों का विशिष्ट स्थान है, जिन पर अगले प्रकरण में विशद रूप से प्रकाश डाला जावेगा। शब्द में किस वर्ण या मात्रा पर अधिक जोर देना चाहिए, इसका आर्यों की दृष्टि में बहुत महत्त्व था। यज्ञ व अन्य धार्मिक अनुष्ठानों में वेद-मन्त्रों का विनियोग तभी पूरा फल दे सकता था, जबकि उनका ठीक उच्चारण किया जाय। इसी कारण शिक्षा-शास्त्र-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों का विकास किया गया था। प्रातिशाख्यों से पूर्व भी शिक्षा-शास्त्र की सत्ता थी। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इस शास्त्र का प्रारम्भ बाभ्रव्य ऋषि द्वारा हुआ था।

छन्द-शास्त्र में वैदिक छन्दों का निरूपण किया जाता है। छन्दों का यह विषय प्रातिशाख्यों में भी आता है, पर इस शास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छन्द-सूत्र है, जिसे आचार्य पिंगल ने बनाया था। पिंगल का छन्दसूत्र जिस रूप में आजकल मिलता है, वह शायद बहुत प्राचीन नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं कि वह प्राचीन छन्द-शास्त्रों के आधार पर लिखा गया है।

वेदों को भली प्रकार से समझने के लिए व्याकरण-शास्त्र बहुत उपयोगी है। संस्कृत-भाषा का सबसे प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ पाणिनीय अष्टाध्यायी है, जिसे पाणिनि-मुनि ने बनाया था। किन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी वेदांग के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि उसमें प्रधानतया लौकिक संस्कृत-भाषा का व्याकरण दिया गया है। वेद या छन्दस् की भाषा के नियम उसमें अपवादरूप से ही दिये गये हैं। पर अष्टाध्यायी के रूप में संस्कृत व्याकरण अपने विकास व पूर्णता की चरम सीमा को पहुँच गया था। पाणिनि का काल अन्तिम रूप से निश्चित नहीं हुआ है, पर बहुसंख्यक विद्वान् उन्हें पाँचवीं सदी ई० पू० का मानते हैं। उनसे पूर्व अन्य अनेक वैयाकरण हो चुके थे, जिनके प्रयत्नों के कारण ही संस्कृत का व्याकरण इतनी पूर्ण दशा को प्राप्त हुआ था। चन्द्र, इन्द्र आदि अनेक प्राचीन वैयाकरणों के ग्रन्थों की सत्ता के प्रमाण प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। यास्क के निरुक्त में शाकपूणि नामक आचार्य का उल्लेख आता है, जो व्याकरण-शास्त्र का बड़ा आचार्य था।

निरुक्त-शास्त्र भी एक वेदांग है, जिसमें शब्दों की व्युत्पत्ति या निरुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। यास्काचार्य का निरुक्त इस शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यास्क से पूर्व इस शास्त्र के अन्य भी अनेक आचार्य हुए, जिनके मतों का उल्लेख यास्क ने अनेक बार अपने निरुक्त में किया है। पर इनमें से किसी भी आचार्य का ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं होता।

ज्योतिष-शास्त्र भी छह वेदांगों में से एक है। बाद में इस शास्त्र का भारत में बहुत विकास हुआ, और आर्यभट्ट, वराहमिहिर आदि अनेक ऐसे आचार्य हुए, जिन्होंने इस विद्या को बहुत उन्नत किया। पर प्राचीन युग का केवल एक ग्रन्थ इस

समय मिलता है, जिसका नाम 'ज्योतिवेदांग' है। इसमें केवल ४० श्लोक हैं, और सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि का वर्णन है। पर प्राचीन काल में ज्योतिष भलीभाँति विकसित था, और वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी ज्योतिषसम्बन्धी अनेक तथ्य पाये जाते हैं।

आर्यों के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के क्या नियम हों, वे किन संस्कारों व कर्त्तव्यों का अनुष्ठान करें, इस महत्त्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन कल्प-वेदांग में किया गया है। कल्प के तीन भाग हैं—श्रौत, गृह्य और धर्म। ब्राह्मण-ग्रन्थों में याज्ञिक कर्मकाण्ड का बहुत विशदरूप से प्रतिपादन था। प्रत्येक याज्ञिक व अन्य विधि का इतने विस्तार के साथ वर्णन उनमें किया गया था, कि सर्वसाधारण जीवन व व्यवहार में उसका सुगमता के साथ उपयोग सम्भव नहीं था। अतः यह आवश्यकता अनुभव की गई, कि वैदिक अनुष्ठानों को संक्षेप के साथ प्रतिपादित किया जाय। श्रौत सूत्रों की रचना इसी दृष्टि से की गई थी। उन्हें ब्राह्मण-ग्रन्थों का सार कहा जा सकता है, यद्यपि वैदिक विधियों में कुछ परिवर्तन व संशोधन भी उनसे सूचित होता है। गृह्य सूत्रों में आर्य गृहस्थ के उन विधि-विधानों का वर्णन है जो उसे आवश्यक रूप से करने चाहियें। जन्म से मृत्युपर्यन्त आर्य गृहस्थ को अनेक धर्मों का पालन करना होता है, अनेक संस्कार करने होते हैं, और अनेक अनुष्ठानों का सम्पादन करना होता है। इन सब का प्रतिपादन गृह्य-सूत्रों में किया गया है। एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के प्रति या समाज के प्रति जो कर्त्तव्य हैं, व दूसरे के साथ बरतते हुए उसे जिन नियमों का पालन करना चाहिये, उनका विवरण धर्मसूत्रों में दिया गया है।

वर्तमान समय में जो सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें अधिक महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित हैं—गौतम धर्म-सूत्र, बौधायन सूत्र, आपस्तम्ब सूत्र, मानव-सूत्र, काठक सूत्र, कात्यायन श्रौत सूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र, आश्वलायन श्रौत सूत्र, आश्वलायन गृह्य-सूत्र, सांख्यायन श्रौत-सूत्र, सांख्यायन गृह्य-सूत्र, लाट्यायन श्रौत-सूत्र, गोभिल गृह्य-सूत्र, कौशिक सूत्र और वैतान श्रौत-सूत्र। इन विविध सूत्र-ग्रन्थों के नामों से ही यह बात सूचित होती है, कि इनका निर्माण विविध प्रदेशों में और विविध सम्प्रदायों में हुआ था। प्राचीन भारत में विविध आचार्यों द्वारा ज्ञान व चिन्तन के पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों का विकास किया गया था, और इन सम्प्रदायों में विधि-विधान, विचार व ज्ञान की अपनी-अपनी परम्पराएँ जारी रहती थीं।

वेदांगों का संक्षिप्त परिचय देने के पश्चात् अब हम प्रत्येक वेदांग के सम्बन्ध में विशद रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

(२) शिक्षा वेदाङ्ग

जिस शास्त्र में स्वर, वर्ण आदि के सही उच्चारण का प्रतिपादन किया जाता है, उसे 'शिक्षा' कहते हैं। वेदों का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करने के लिए वैदिक मन्त्रों और शब्दों के शुद्ध उच्चारण को बहुत महत्त्व दिया जाता रहा है। इसका एक कारण यह है कि एक ही शब्द के स्वर भेद से भिन्न अर्थ हो जाते हैं। स्वर तीन प्रकार के

होते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। उच्च स्वर को उदात्त, नीचे (नीच) स्वर को अनुदात्त और मध्यम (न बहुत ऊंचा और न बहुत नीचा) स्वर को स्वरित कहते हैं। उदात्त के स्थान पर अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने पर कैसे अर्थ का अनर्थ हो जाता है, इस सम्बन्ध में एक प्राचीन आख्यायिका है जिसका उल्लेख 'पाणिनीय शिक्षा' में किया गया है। आख्यायिका यह है कि वृत्र ने अपने शत्रु इन्द्र के विनाश के लिए एक यज्ञ का आयोजन किया था, जिसमें कि बहुत-से ऋत्विजों को आमन्त्रित किया गया था। यज्ञ में इस मन्त्र को पुनः पुनः बोला जा रहा था—'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' अर्थात् इन्द्र के शत्रु (वृत्र) का उत्कर्ष हो, इन्द्र के शत्रु की विजय हो। पर 'इन्द्र-शत्रु' का अर्थ इन्द्र का शत्रु (इन्द्रस्य शत्रुः) तभी सम्भव था, जब यह शब्द अन्तोदात्त हो, अर्थात् इसके अन्तिम भाग को उदात्त स्वर में बोला जाए। पर ऋत्विजों ने असावधानी से 'इन्द्रशत्रु' के इ का उदात्त स्वर से उच्चारण प्रारम्भ कर दिया, जिसके कारण इस शब्द का अर्थ इन्द्र का शत्रु नहीं रह गया, और मन्त्र द्वारा जिस इन्द्र के शत्रु (वृत्र) के विजय की प्रार्थना की जा रही थी, वह न केवल फलवती नहीं हो सकी, अपितु उसी के लिए घातक हो गई। वाणी भी वज्र के समान होती है। यदि उसका ठीक प्रकार से उपयोग न किया जाए, तो वह प्रयोक्ता के लिए ही घातक सिद्ध हो सकती है।[1] अतः शिक्षा वेदाङ्ग द्वारा यह जाना जाता है कि शब्दों का सही ढंग से कैसे प्रयोग किया जाए, और उसके वर्णों का उच्चारण किस प्रकार हो। स्वर, वर्ण, उच्चारण आदि के दोषों का निराकरण करना ही इस वेदाङ्ग का प्रयोजन है, और इसीलिए प्राचीन समय में बहुत-से शिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की गई थी। तैत्तिरीय उपनिषद् में स्पष्ट रूप से इस वेदाङ्ग के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। वहां इसके छह अङ्ग बताये गये हैं—वर्ण, स्वर, मात्रा, बलम्, साम और सन्तान।[2] वर्ण का अभिप्रायः अक्षरों से है। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार संस्कृत भाषा की वर्णमाला में ६३ या ६४ अक्षर या वर्ण है। स्वर तीन प्रकार के हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। मात्राएं भी तीन प्रकार की होती हैं—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। बल से वह स्थान अभिप्रेत है, वर्ण का उच्चारण करते हुए मुख के जिस स्थान पर वायु टकराती है। वर्णों तथा शब्दों का शुद्ध उच्चारण करने के लिए यह जानना भी उपयोगी होता है कि उन्हें बोलते हुए मुख के किस भाग पर बल दिया जाए। माधुर्य आदि गुणों से युक्त निर्दोष उच्चारण के लिए 'साम' शब्द प्रयुक्त किया गया है। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार निर्दोष व उत्तम उच्चारण तभी सम्भव है, जब उसमें निम्नलिखित गुण हों—माधुर्य, अक्षरव्यक्ति (प्रत्येक अक्षर का पृथक्-पृथक् स्पष्ट उच्चारण), पदच्छेद (प्रत्येक पद का

---

१. शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

पाणिनीय शिक्षा ५२।

२. 'शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।' तैत्तिरीय उपनिषद् २।१

अलग उच्चारण), सुस्वर, धैर्य (धीरता से पाठ करना) और लयसमर्थ (लय के साथ पढ़ना)।[1] शिक्षा वेदाङ्ग का अन्तिम अंग सन्तान है, जिससे शब्दों या पदों का सान्निध्य अभिप्रेत है। जब दो पृथक् शब्द वाक्य में एक-दूसरे के समीप होने के कारण एक साथ बोले जाते हैं, तो प्राय: उनमें सन्धि हो जाती है। 'वायो आयाहि' इसमें वायु और आयाहि दो पृथक् पद हैं। पर जब उन्हें एक साथ बोला जाता है, तो वे मिलकर 'वायवायाहि' रूप प्राप्त कर लेते हैं। इसी को सन्तान कहते हैं। शिक्षा वेदाङ्ग में इसका भी निरूपण किया जाता है।

वेद मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण सिखाने के लिए जिस शिक्षा वेदाङ्ग का विकास हुआ, उसके अनेक ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'पाणिनीय शिक्षा' है, जिसकी कुल श्लोक संख्या ६० है। यह पाणिनि मुनि द्वारा विरचित मूल ग्रन्थ नहीं है, अपितु उसके आधार पर बाद के काल में बनाया गया था। पाणिनि का मूल ग्रन्थ सूत्रों में था, श्लोकों में नहीं। सम्भवत:, पाणिनि का 'शिक्षा ग्रन्थ' वही था, जिसे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के नाम से प्रकाशित कराया था। पाणिनीय शिक्षा के अतिरिक्त शिक्षा वेदाङ्ग विषयक जो अन्य ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, उनमें याज्ञवल्क्य शिक्षा, वासिष्ठी शिक्षा, भारद्वाज शिक्षा, नारदीय शिक्षा, माण्डूकी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा और माध्यन्दिनी शिक्षा उल्लेखनीय हैं।

पर अनेक शिक्षा ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनका उल्लेख तो प्राचीन साहित्य में मिलता है, पर जो अब प्राप्य नहीं हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में गालवकृत एक शिक्षा-ग्रन्थ का उल्लेख है, जिसकी सत्ता पाणिनीय अष्टाध्यायी से भी सूचित होती है। राजशेखर द्वारा लिखित काव्यमीमांसा में आचार्य आपिशलि के शिक्षा-ग्रन्थ का उल्लेख विद्यमान है। आपिशलि पाणिनि से पहले हुए थे। हेमचन्द्र ने 'शब्दानुशासन' की वृत्ति में इस शिक्षा ग्रन्थ से एक उद्धरण भी दिया है।

(३) छन्द वेदाङ्ग

वैदिक संहिताओं का बड़ा भाग पद्य में है, अत: अत: छन्दों का समुचित ज्ञान वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए आवश्यक है। जब तक छन्द का समुचित ज्ञान नहीं होता, मन्त्र का उच्चारण सही ढंग से नहीं किया जा सकता। इसीलिए कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में लिखा है, कि जो कोई ऋषि, छन्द तथा देवता से 'अविदित' होते हुए मन्त्र से यज्ञ कराता है या मन्त्रों को पढ़ाता है, वह गड्ढे में गिरता है और पाप का भागी होता है।[2] यज्ञों के लिए तो छन्द ज्ञान आवश्यक है ही, पर वेदों में जो गद्य भाग है उसके लिये भी छन्द का ज्ञान उपयोगी है, क्योंकि वह भी किसी न किसी छन्द

---

१. माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थञ्च षडेते पाठकाः गुणाः॥

२. "यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पात्यते वा पापीयान् भवति।"

के नियमों के) अनुसार निर्मित है। इस सम्बन्ध में कात्यायन का यह कथन महत्त्व का है कि ज्ञानकार व्यक्ति के लिए यह सारा वाङ्मय (वैदिक वाङ्मय) छन्दोभूत (छन्द के नियमों से आबद्ध) ही है।[1] भरत मुनि के अनुसार न शब्द के बिना छन्द हो सकता है, और न छन्द के बिना शब्द।[2] इस प्रकार वैदिक ऋचाएं चाहे पद्य के रूप में हों और चाहे गद्य के रूप में, सब छन्दोबद्ध हैं, और इन छन्दों का ज्ञान वेद मन्त्रों के सम्यक् उच्चारण तथा सस्वर पाठ के लिए अनिवार्य है।

छन्द अनेक प्रकार के हैं, जिन्हें साधारणतया दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, अक्षरगणनानुसारी और पादाक्षरगणनानुसारी। पहले प्रकार के छन्दों में केवल अक्षरों की गणना की जाती है, उन्हें पादों में विभक्त नहीं किया जाता है। दूसरे प्रकार के छन्द पहले पादों में विभक्त होते हैं, और प्रत्येक पाद में कितने अक्षर हों यह निर्धारित रहता है। वेदों के मुख्य छन्दों के नाम और उनके अक्षरों की संख्या इस प्रकार है—गायत्री २४ अक्षर या वर्ण, उष्णिक् २८ अक्षर, अनुष्टुप् ३२ अक्षर, बृहती ३६ अक्षर, पंक्ति ४० अक्षर, त्रिष्टुप् ४४ अक्षर, जगती ४८ अक्षर, अतिजगती ५२ अक्षर, शक्वरी ५६ अक्षर, अतिशक्वरी ६० अक्षर, अष्टि ६४ अक्षर, अत्यष्टि ६८ अक्षर, धृति ७२ अक्षर, अतिधृति ७६ अक्षर, कृति ८० अक्षर, प्रकृति ८४ अक्षर, आकृति ८८ अक्षर, विकृति ९२ अक्षर, संस्कृति ९६ अक्षर, अभिकृति १०० अक्षर और उत्कृति १०४ अक्षर।

गायत्री छन्द में तीन पाद होते हैं, और उसके प्रत्येक पाद में आठ-आठ वर्ण या अक्षर रहते हैं। उष्णिक् छन्द में तीन पाद, अनुष्टुप् बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों में चार-चार पाद, अतिजगती, अतिशक्वरी और अष्टि छन्दों में पांच-पांच पाद, शक्वरी, अत्यष्टि और धृति मे सात-सात पाद, और अतिधृति में आठ पाद होते हैं। इन छन्दों के भी अनेक भेद हैं, जिनका आधार अक्षरों की संख्या में कमी या अधिकता का होना है।

छन्द वेदाङ्ग पर जो ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, उनमें छन्दसूत्र प्रधान है। इसके रचयिता आचार्य पिङ्गल को माना जाता है। अनेक प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार पिङ्गल पाणिनि के अनुज थे।[3] यदि यह बात सही हो, तो पिङ्गल का समय पांचवीं या छठी सदी ईस्वी पूर्व में मानना होगा। पर पिङ्गल से पूर्व भी अनेक ऐसे आचार्य हो चुके थे, जिन्होंने कि छन्द वेदाङ्ग पर ग्रन्थ लिखे थे। ऐसे अनेक आचार्यों के नाम पिङ्गल के ग्रन्थ में आये हैं, जिनमें क्रौष्टुकि, यास्क, ताण्डी, सैतव, काश्यप, रात और माण्डव्य उल्लेखनीय हैं। इन सात आचार्यों के मत भी पिङ्गल द्वारा उल्लिखित किये गये हैं। 'प्रातिशाख्य' नाम से इनके जो ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं,

---

१. 'छन्दोभूतमिदं सर्वं वाङ्मयं स्याद् विजानतः।'
२. छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्।' भरत मुनि नाट्यशास्त्र १४।४५
३. कात्यायन कृत ऋक्सर्वानुक्रमणी पर वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य की वेदार्थदीपिका-टीका।

उनका विवरण इसी अध्याय में आगे चल कर दिया जायेगा। प्रातिशाख्यों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय छन्द नहीं है, पर उनमें भी अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें छन्दों का भी निरूपण किया गया है। छन्द वेदाङ्ग के अन्य उपलब्ध ग्रन्थों में निदानसूत्र का उल्लेख आवश्यक है। यह सामवेद की अनुक्रमणी के रूप में है, पर इसमें सामवेद के छन्दों का भी विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। निदानसूत्र में १० प्रपाठक हैं, और इसे पतञ्जलि द्वारा विरचित माना जाता है। इस सूत्र में स्वयं ही इसे भगवान् पतञ्जलि द्वारा 'उक्त' कहा गया है।[1]

(४) व्याकरण वेदाङ्ग

षड्वेदाङ्गों में व्याकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पतञ्जलि ने इसे छहों वेदाङ्गों में सर्वप्रधान कहा है। उनके अनुसार व्याकरण वेदाङ्गों में प्रधान है। प्रधान के लिए जो यत्न किया जाता है, वही फलवान् होता है। इसी व्याकरण के ज्ञान से सब पुण्यों के फलों की प्राप्ति होती है, और इसका अध्ययन करने वाले के माता-पिता स्वर्गलोक में स्थान प्राप्त करते हैं।[2] पतञ्जलि ने व्याकरण के अध्ययन के पांच प्रयोजन बताये हैं, रक्षा, ऊहा, आगम, लघ्वर्थ और असंदेह।[3] 'रक्षा' से वेदों की रक्षा अभिप्रेत है। वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए, क्योंकि लोप, आगम और वर्ण-विकार का ज्ञाता ही वेदों का परिपालन कर सकता है।[4] 'ऊहा' का अभिप्राय यह है, कि वेदमन्त्रों में आवश्यकतानुसार लिङ्ग और विभक्ति की कल्पना की जा सके। वेदमन्त्र न सब लिङ्गों में हैं, और न सब विभक्तियों में। यज्ञ करते हुए जब उनका विनियोग किया जाता है, तो आवश्यकतानुसार उनमें आये लिङ्ग और विभक्ति को बदल दिया जाता है, जो व्याकरण ज्ञान के बिना सम्भव ही नहीं है।[5] व्याकरण के पढ़ने का यह महत्त्वपूर्ण लाभ है। ब्राह्मण को तो निष्कारण भी षडङ्ग वेदों का अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि आगम (श्रुति) को यही अभिप्रेत है, और छहों वेदाङ्गों में व्याकरण सर्व-प्रधान है।[6] शब्दकोश अत्यन्त विशाल है, और सब शब्दों का इस जीवन में ज्ञान प्राप्त कर

---

१. तथा निरालम्बरूपता भगवता पतञ्जलिना उक्तं सप्तमेऽहन्यर्कः कृताकृतो भवत्य-ब्राह्मण विहितस्वादिति'। निदान सूत्र ४।७

२. 'प्रधानं च षट्सु अंगेषु व्याकरणम्, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।···सर्वपुण्य फलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति। मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयते।'

३. "कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ? रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्।"

४. रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् लोपागमवर्णविकारज्ञो हि वेदान् परिपालयिष्यति।

५. ऊहः खल्वपि—न सर्वलिङ्गैः न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः, ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

६. आगमः खल्वपि-ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। प्रधानञ्च षट्सु अंगेषु व्याकरणम्।

सकना सुगम नहीं है। पर ब्राह्मण के लिए यह आवश्यक है कि शब्दों का ज्ञान प्राप्त करे, और शब्दज्ञान का लघु उपाय यही है कि व्याकरण का अध्ययन किया जाए।[1] बहुधा वैदिक शब्दों के अभिप्राय के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं। वेदों में ऐसे समस्त (समासयुक्त) शब्द मिलते हैं, जिनके विषय में यह असंदिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनमें कौन-सा समास है। समास यदि तत्पुरुष है तो एक अर्थ होगा, और यदि बहुव्रीहि समास है तो दूसरा अर्थ होगा। इस प्रकार के संदिग्ध स्थलों पर व्याकरण द्वारा ही सन्देह का निवारण किया जा सकता है, अतः वेदार्थ में 'असन्देह' के लिए व्याकरण का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।[2] इसमें सन्देह नहीं कि अन्य वेदाङ्गों के समान व्याकरण भी एक महत्त्वपूर्ण वेदाङ्ग है, और प्राचीन भारतीयों ने उसके विकास के लिए बहुत प्रयत्न किया था।

वर्तमान समय में व्याकरण-विषयक संस्कृत के जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें पाणिनीय व्याकरण सर्वाधिक महत्त्व का है। यह आठ अध्यायों में विभक्त है, अतः 'अष्टाध्यायी' भी कहाता है। प्रत्येक अध्याय में बहुत से सूत्र हैं, जिनकी संख्या चार हजार के लगभग है। विश्व के व्याकरण-सम्बन्धी साहित्य में अष्टाध्यायी का स्थान बहुत ऊँचा है। जिस वैज्ञानिक ढंग से उसमें अत्यन्त संक्षिप्त सूत्रों द्वारा संस्कृत के व्याकरण का प्रतिपादन किया गया है, वह अद्वितीय है। यद्यपि पाणिनि ने प्रधानतया लौकिक संस्कृत के व्याकरण की रचना की थी, परन्तु प्रसंग वश उसमें वैदिक व्याकरण के नियमों का भी निदर्शन कर दिया गया है। पाणिनि का काल पाँचवीं-छठी सदी ईस्वी पूर्व में माना जाता है। बाद में कात्यायन मुनि ने अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखे, जिन्हें पाणिनीय व्याकरण का पूरक कहा जा सकता है। सम्भवतः, कात्यायन का समय चौथी सदी ईस्वी पूर्व में था। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में महर्षि पतञ्जलि हुए, जिन्होंने पाणिनीय अष्टाध्यी की व्याख्या के रूप में महाभाष्य की रचना की। पतञ्जलि का यह ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इसमें अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या के साथ-साथ व्याकरण के वैज्ञानिक व दार्शनिक सिद्धान्तों की भी विवेचना की गई है। पाणिनि द्वारा संस्कृत व्याकरण की जिस अध्ययन-पद्धति का प्रवर्तन किया गया था, उसके अनुसार बाद के समय में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, जो प्रायः अष्टाध्यायी पर भाष्य, वृत्ति या टीका के रूप में हैं। इनमें वामन तथा जयादित्य द्वारा लिखित काशिकावृत्ति विशेष महत्त्व की है। संस्कृत के विद्वानों में इस वृत्ति का बहुत आदर है, और अष्टाध्यायी को समझने के लिए वे प्रायः इसी पर निर्भर करते हैं। वामन और जयादित्य काश्मीर के निवासी थे, और छठी सदी में हुए थे। बाद के समय में काशिकावृत्ति पर भी अनेक टीकाएँ लिखी गई, जिनमें हरदत्त की पदमञ्जरी उल्लेखनीय है।

---

१. लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। ब्राह्मणेनावश्यं शब्दाः ज्ञेयाः, न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्।"

२. 'असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्।"

यद्यपि वर्तमान समय में उपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थों में अष्टाध्यायी प्रधान है, पर पाणिनि से पूर्व भी अनेक वैयाकरण हो चुके थे और उन द्वारा वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के प्रामाणिक व्याकरण लिखे गये थे। शाकटायन के ऋक्तन्त्र के अनुसार व्याकरण का ज्ञान ब्रह्मा द्वारा बृहस्पति को प्रदान किया गया, बृहस्पति द्वारा इन्द्र को, इन्द्र द्वारा भारद्वाज को, भारद्वाज द्वारा ऋषियों को, और ऋषियों द्वारा ब्राह्मणों को।[1] बृहस्पति और इन्द्र सदृश वैयाकरणों का उल्लेख अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी विद्यमान है। तैत्तिरीय संहिता में लिखा है कि पहले वाक् (वाणी या भाषा) 'अव्याकृत' थी, अर्थात् उसमें व्याकरण का अभाव था। इस दशा में देवों ने इन्द्र से कहा—आप वाक् को व्याकरण दीजिए। इन्द्र ने देवों की प्रार्थना को स्वीकार कर व्याकरण की रचना की। अब वाक् अव्याकृत न रह कर व्याकृत हो गई।[2] पतञ्जलि के महाभाष्य में लिखा है कि बृहस्पति वक्ता थे, और इन्द्र अध्येता (उनसे अध्ययन करने वाले) थे। उनके अध्ययन का काल एक सहस्र दिव्य वर्ष था, पर इतने समय में भी वह शब्द रूपी सागर को पार नहीं कर सके।[3] यास्काचार्य के निरुक्त की टीका करते हुए दुर्गाचार्य ने इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, अमर और जैनेन्द्र के नाम 'शाब्दिकों' (वैयाकरणों) के रूप में दिये हैं।[4] पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य आदि कितने ही प्राचीन वैयाकरणों के नाम आये हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि पाणिनि से पूर्व भी भारत में व्याकरण वेदाङ्ग का भली-भाँति विकास हो चुका था, और प्राचीन समय में ऐसे भी अनेक ग्रन्थों की सत्ता थी, जिनका विषय वैदिक व्याकरण था। वाणी या भाषा को 'व्याकृत' (व्याकरण द्वारा व्याकृत) रूप देने का प्रधान श्रेय इन्द्र को दिया गया है। इन्द्र द्वारा निर्मित या 'ऐन्द्र' व्याकरण की सत्ता के अनेक प्रमाण उपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थों में विद्यमान हैं। काशिका वृत्ति की तत्त्वविमर्शिनी व्याख्या में यह वाक्य आया है—'तथा चोक्तम् इन्द्रेण—अन्त्यवर्णसमुद्भूता धातवः परिकीर्तिता इति।' यह स्पष्टतया ऐन्द्र व्याकरण से लिया हुआ उद्धरण है। इस प्रकार के उद्धरणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि आचार्य इन्द्र द्वारा विरचित व्याकरण-ग्रन्थ पहले विद्यमान था।

वैदिक साहित्य से सम्बद्ध एक अन्य वर्ग के ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, जिन्हें 'प्रातिशाख्य' कहते हैं। इनमें वैदिक संहिताओं की भाषा के व्याकरण-सम्बन्धी

---

१. ऋक्तन्त्र १।४

२. 'वाग् वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्—इमां नो वाचं व्याकुर्विति।.........तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वाग् उद्यते।' तैत्तिरीय संहिता ६।४।७।३

३. बृहस्पतिश्च वक्ता। इन्द्रश्च अध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः स न अन्तं जगाम।'

४. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमर जैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादि शाब्दिकाः॥

नियमों पर भी प्रकाश डाला गया है। पर प्रातिशाख्य विशुद्ध रूप से व्याकरण-विषयक ग्रन्थ नहीं हैं। उनमें शिक्षा और छन्द का विषय भी समाविष्ट है। पर वैदिक व्याकरण के लिए ये विशेष रूप से उपयोगी हैं। हम इन ग्रन्थों पर इसी अध्याय के आठवें प्रकरण में पृथक् रूप से प्रकाश डालेंगे।

(५) निरुक्त वेदांग

छह वेदाङ्गों में निरुक्त भी एक है। इस वेदाङ्ग में शब्दों की निरुक्ति या व्युत्पत्ति की जाती है। निरुक्तशास्त्र के अनुसार प्रत्येक शब्द किसी न किसी धातु से सम्बद्ध होता है। इसीलिए यह वेदाङ्ग शब्दों को 'व्युत्पन्न' या 'धातुज' मानता है। उदाहरण के लिए दुहिता शब्द को लीजिए। निरुक्त के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार प्रतिपादित की गई है—'दुहिता कस्मात् दुहिता, दूरेहिता दोग्धेर्वा।'[1] कन्या को दुहिता इस कारण कहते हैं, क्योंकि माता-पिता का हित इसी बात में है कि वह उनसे दूर रहे, या वह उनसे सदा धन को दोहती रहती है, या उसका हित सम्पादित करना कठिन होता है। सब शब्दों की इसी ढंग से व्युत्पत्ति की जा सकती है। शब्द और अर्थ में जो सम्बन्ध है, वह सहेतुक है, अकारण नहीं है। इसी सम्बन्ध को प्रतिपादित करना निरुक्त का कार्य है। निरुक्त शब्दों को रूढ़ि नहीं मानता, उसके अनुसार वैदिक शब्द यौगिक हैं। इसी कारण उनकी अनेक प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो वेदमन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—तीन प्रकार के अर्थ करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसका आधार निरुक्त का यह मत ही है कि वैदिक शब्द 'यौगिक' हैं।

निरुक्त निघण्टु की व्याख्या के रूप में है। वेदों के कठिन शब्दों को निघण्टु में संगृहीत किया गया है। उसे वैदिक शब्दकोष कहा जा सकता है। कतिपय विद्वानों के अनुसार निरुक्त के कर्ता यास्काचार्य ने ही निघण्टु के रूप में वेदों के दुरूह शब्दों का संग्रह भी किया था, और फिर निरुक्त के रूप में उस पर भाष्य लिखा था। पर प्राचीन ग्रन्थों से निघण्टु का निरुक्त से पूर्ववर्ती होना प्रमाणित होता है। महाभारत के अनुसार निघण्टु की रचना सबसे पहले प्रजापति कश्यप द्वारा की गई थी।[1] वर्तमान समय में जो निघण्टु उपलब्ध है, वह प्रजापति कश्यप द्वारा विरचित है या नहीं—इस प्रश्न पर मतभेद हो सकता है। पर यह मानना असंगत नहीं होगा कि अत्यन्त प्राचीन काल में भारत में वेदों के विशिष्ट एवं दुरूह शब्दों का पृथक्-पृथक् वर्गों में कोष बनाने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी और इस प्रकार के कोषों को निघण्टु कहा जाता था। वर्तमान समय में जो निघण्टु ग्रन्थ उपलब्ध है, उसमें तीन काण्ड हैं—नैघण्टुक काण्ड, नैगम काण्ड और दैवत काण्ड। नैघण्टुक काण्ड में तीन अध्याय हैं, और अन्य काण्डों में एक-एक अध्याय है। यास्क का निरुक्त इसी निघण्टु की व्याख्या के रूप

१. वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुक पदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥ मोक्षधर्म पर्व ३४२।८६

में है। पर निघण्टु की एक अन्य व्याख्या भी मिलती है, जिसे देवराज यज्वा ने लिखा था। इनका समय सायण से पहले का है। अपने भाष्य में देवराज यज्वा ने क्षीरस्वामी तथा अनन्ताचार्य द्वारा की गई निघण्टु की व्याख्याओं का भी उल्लेख किया है, पर इनके व्याख्या ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं हैं।

निघण्टु की व्याख्या के प्रयोजन से जो निरुक्त लिखे गये, उनमें यास्काचार्य का निरुक्त सबसे प्रसिद्ध है और वही इस समय प्राप्य भी है। यास्क के निरुक्त में भी अपने से पूर्ववर्ती अनेक निरुक्तकारों के नाम दिये गये हैं—आग्रायण, औदुम्बरायण, और्णनाभ, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरा, तैटीकि, शतवलाक्ष, शाकपूणि, स्थौलाष्ठीवि, शाकटायन, शाकल्य, कौत्स और वार्ष्यायणि आदि। इन आचार्यों के अतिरिक्त यास्क ने 'इति एके' व 'अपरे' लिख कर अन्य आचार्यों के मतों को भी निर्दिष्ट किया है।[1] इससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यास्क से पूर्व अन्य भी अनेक निरुक्त-ग्रन्थों की सत्ता थी और यह वेदाङ्ग भी सुचारु रूप से उन्नत एवं विकसित दशा में था।

यास्काचार्य का समय पाणिनि से पहले है। पाणिनि के गणपाठ में निरुक्त शब्द भी आया है, और अष्टाध्यायी के एक सूत्र (२/४/६३) द्वारा 'यास्क' शब्द की सिद्धि भी की गई है। महाभारत के शान्ति पर्व में यास्क और उन द्वारा विरचित निरुक्त का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। पतञ्जलि के महाभाष्य में भी निरुक्त का उल्लेख विद्यमान है। इन्हीं सब बातों को दृष्टि में रख कर यास्क के काल को सातवीं सदी ईस्वी पूर्व या उससे भी कुछ पहले का माना जाता है।

निरुक्त पर अनेक टीकाएँ भी बाद में लिखी गईं, जिनमें दुर्गाचार्य की टीका सब से महत्त्वपूर्ण है। उसमें निरुक्त में आये वेदमन्त्रों की व्याख्या बड़े स्पष्ट रूप में की गई है। पर निरुक्त पर दुर्गाचार्य की टीका सबसे पुरानी नहीं है, क्योंकि उसमें अनेक स्थानों पर प्राचीन टीकाकारों का उल्लेख मिलता है। दुर्गाचार्य का काल अभी निश्चित नहीं किया जा सका है। निरुक्त पर एक अन्य टीका स्कन्द महेश्वर की उपलब्ध है। इसे सातवीं सदी की रचना माना जाता है। निरुक्त के सिद्धान्तों के अनुसार आचार्य वररुचि ने 'निरुक्तनिचय' नाम से एक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें सौ के लगभग श्लोक हैं। मध्यकाल में जिन विद्वानों ने वेदों पर भाष्य लिखे, प्रायः उन सबने निरुक्त और उसकी टीकाओं का सहारा लिया है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि वेदों के अर्थ को समझने के लिए निरुक्त वेदांग की बहुत उपयोगिता है।

(६) कल्प वेदाङ्ग

प्राचीन वैदिक धर्म में याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना इसी प्रयोजन से की गई थी, ताकि याज्ञिक विधि-विधान का निरूपण किया जा सके, और साथ ही यह भी प्रतिपादित किया जा सके

१. 'नामाख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।' निरुक्त १।१२

कि उनमें वेदमन्त्रों का किस प्रकार विनियोग किया जाता है। बाद में यह आवश्यकता अनुभव की गई कि याज्ञिक विधि-विधानों और संस्कारों आदि का संक्षेप के साथ निरूपण किया जाए, क्योंकि क्रियात्मक दृष्टि से यह अधिक उपयोगी था। इसीलिए कल्प वेदांग की रचना की गई। वेदविहित कर्मों (यज्ञसम्बन्धी कर्मकाण्ड तथा विविध संस्कार आदि) का जिस शास्त्र में क्रमबद्ध रूप से प्रतिपादन किया जाए, वही 'कल्प' कहाता है। सायणाचार्य के अनुसार कल्पसूत्र मन्त्रों का विनियोग बता कर याज्ञिक अनुष्ठान की विधि का प्रतिपादन करते हैं और यही उनकी उपकृति है।[1] कल्प वेदांग के ये ग्रन्थ सूत्रों के रूप में हैं। सूत्र की परिभाषा यह है, कि उसमें अक्षर कम हों, सब बात सार के रूप में कह दी गई हो, और अभिप्राय को असन्दिग्ध रूप से प्रकट किया गया हो।[2]

कल्प वेदांग के तीन भाग हैं—श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र। कतिपय विद्वानों ने शुल्व सूत्र को कल्प वेदांग के चौथे भाग के रूप में प्रतिपादित किया है। पर वस्तुतः उसे श्रौत सूत्र के अन्तर्गत ही समझना चाहिए, क्योंकि उसमें यज्ञ की वेदि के निर्माण की विधि तथा माप आदि विषयों का प्रतिपादन किया जाता है, जिनका सम्बन्ध श्रौत सूत्र के विषय के साथ ही है।

श्रौत सूत्र—वेदों द्वारा प्रतिपादित या उन पर आधारित कर्मकाण्ड के विधि-विधान का निरूपण श्रौत-सूत्रों द्वारा किया जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का भी यही विषय है, पर उनके अत्यन्त विस्तृत होने के कारण श्रौत-सूत्रों में सार रूप से वह सब याज्ञिक विधि-विधान दे दिया गया है, जो ब्राह्मणों में है, यद्यपि कहीं-कहीं उनमें भेद भी पाया जाता है। याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिए यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान आवश्यक है। यज्ञीय अग्नि तीन प्रकार की मानी गई है, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय। अग्नि का आधान किस प्रकार किया जाए, यह प्रतिपादित करने के साथ-साथ श्रौत-सूत्रों में उन यज्ञों का भी निरूपण किया गया है, जिन्हें दैनिक रूप से या विशेष अवसरों पर या विशिष्ट प्रयोजन से किया जाता है। मुख्य यज्ञ निम्नलिखित हैं—दर्शपौर्णमास यज्ञ, जो प्रत्येक पक्ष के उपरान्त किया जाता था; आग्रायणेष्टि, अन्न की फसल तैयार हो जाने पर इस यज्ञ के सम्पादित होने का समय होता था; चातुर्मास्य यज्ञ; सत्र, बारह दिनों में पूर्ण होने वाला यज्ञ; गवामयन, पूरे एक वर्ष तक चलने वाला यज्ञ; वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, नरमेध, सोमयाग और सौत्रामणि आदि। इनमें से राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध का सम्बन्ध राजा के साथ है। कोई व्यक्ति तभी राजा माना जाता था, जब वह राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान कर विधिवत् राज्याभिषेक करा ले। विशेष अवसरों पर और विशिष्ट प्रयोजनों से किये जाने वाले यज्ञों के अतिरिक्त अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेव, अतिथि यज्ञ, देवयज्ञ और पितृयज्ञ ऐसे महायज्ञ थे, गृहस्थ को जिन्हें

१. 'अतः कल्पसूत्रं मन्त्रविनियोगेन कल्पमनुष्ठानमुपदिश्य उपकरोति।

२. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ (विष्णुधर्मोत्तर)

प्रतिदिन करना होता था। श्रौत-सूत्रों में इन्हीं सब यज्ञों के विधि-विधान का संक्षिप्त एवं सूत्ररूप से निरूपण किया गया है।

वर्तमान समय में जो सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनकी संख्या अधिक नहीं है। विश्वास तो यह किया जाता है कि वेदों की जितनी शाखाएं थीं, उतने ही कल्प-वेदांग (श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र) भी थे। पर वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों के समान बहुत-से कल्पसूत्र अब अप्राप्य हैं। पर जो उपलब्ध हैं, उन सब का किसी न किसी वेद या उसकी शाखा के साथ सम्बन्ध माना जाता है। ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र इस समय मिलते हैं—आश्वलायन और शाङ्खायन। आश्वालाय श्रौतसूत्र में १२ अध्याय हैं और इसके रचयिता ऋषि आश्वलायन के शिष्य शौनक थे। शाङ्खायन श्रौतसूत्र में १८ अध्याय हैं, और इसका प्रतिपाद्य विषय बहुत व्यापक है।

यजुर्वेद के श्रौतसूत्र कात्यायन, बौधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ़, वैखानस, भारद्वाज तथा मानव हैं। इसमें से कात्यायन श्रौतसूत्र का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है, और अन्य सबका कृष्ण यजुर्वेद से। श्रौतसूत्रों में कात्यायन श्रौतसूत्र बहुत प्रसिद्ध है। इसमें २६ अध्याय हैं, जिनमें विविध यज्ञों के विधि-विधान बड़े स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हैं। इस श्रौतसूत्र का आधार शतपथ ब्राह्मण है, और इसमें प्रतिपादित विधि-विधान प्रायः शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ही हैं।

सामवेद की विविध शाखाओं व ब्राह्मणों के भी कतिपय श्रौतसूत्र इस समय उपलब्ध हैं। पंचविंश ब्राह्मण का श्रौतसूत्र आर्षेय या 'मशक' है। 'मशक' नाम इसके रचयिता ऋषि मशक के नाम से है। सामवेद की कौथुमी शाखा से सम्बद्ध लाट्यायन श्रौतसूत्र है, और राणायणीय शाखा से सम्बद्ध द्राह्यायन श्रौतसूत्र। जैमिनीय श्रौत-सूत्र का सम्बन्ध सामवेद की जैमिनीय शाखा के साथ है।

अथर्ववेद का केवल एक श्रौतसूत्र इस समय प्राप्य है, जिसे वैतान श्रौतसूत्र कहते हैं। इसमें आठ अध्याय हैं, जिनमें ऋत्विजों तथा यजमान के कर्तव्यों का निरूपण किया गया है। इस श्रौतसूत्र का सम्बन्ध अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण के साथ है।

ऊपर जिन श्रौतसूत्रों का उल्लेख किया गया है, उनमें से कतिपय पर अनेक भाष्य भी वर्तमान समय में उपलब्ध हैं। कल्प वेदांग में प्रतिपादित याज्ञिक विधि-विधानों को समझने में इनसे बहुत सहायता मिली है।

गृह्यसूत्र—प्राचीन भारतीय चिन्तक गृहस्थ आश्रम को सब आश्रमों में प्रधान मानते थे, और अन्य सब आश्रमों (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास) को उसी पर आश्रित समझते थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि धर्मग्रन्थों में गृहस्थ के कर्तव्यों तथा धर्मों का विशेष रूप से प्रतिपादन किया जाए। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त मनुष्य का जीवन मर्यादित रहना चाहिए। इसीलिए अनेक संस्कारों का विधान किया गया है, जिनका प्रयोजन मानव जीवन को मर्यादित करना तथा उच्च आदर्शों को सम्मुख रख कर कर्तव्यों का बोध कराना है। प्राचीन शास्त्रकार यह मानते थे कि मनुष्य का समुचित विकास उन संस्कारों पर निर्भर करता है, जिनका सम्बन्ध गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि क्रिया पर्यन्त है। ये संस्कार संख्या में १६ हैं, जिनमें गर्भाधान,

पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उपनयन, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि मुख्य हैं। गृह्यसूत्रों में इनका शास्त्रीय विधि से प्रतिपादन किया गया है। गृहस्थ के लिए जहाँ इन संस्कारों का विधान है, वहाँ साथ ही उन्हें प्रतिदिन पाँच महायज्ञ भी अवश्य करने चाहिएं। कतिपय अन्य भी ऐसे यज्ञ हैं, जिनका सम्बन्ध गृहस्थ आश्रम के साथ है। गृह्यसूत्र इनका भी प्रतिपादन करते हैं। विवाह गृहस्थ जीवन का मूल है, अतः विविध प्रकार की विवाह-पद्धतियों का भी इस कल्प वेदाङ्ग में प्रतिपादन किया गया है।

श्रौत सूत्र के समान गृह्य सूत्र भी वैदिक संहिताओं, उनकी शाखाओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों से सम्बद्ध हैं। ऋग्वेद के तीन गृह्यसूत्र वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, आश्वलायन, शांख्यायन और कौषीतकी। आश्वलायन गृह्यसूत्र में चार अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्याय अनेक खण्डों में विभक्त है। ऋग्वेद के गृह्यसूत्रों में यह प्रधान है। इसी कारण अनेक विद्वानों ने टीकाएँ लिख कर इसके अभिप्राय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। शुक्ल यजुर्वेद का प्रसिद्ध गृह्यसूत्र 'पारस्कर गृह्यसूत्र' है, जिस पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध अनेक गृह्यसूत्र वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, जिनमें बौधायन गृह्यसूत्र, भारद्वाज गृह्यसूत्र, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र, वैखानस गृह्यसूत्र, मानव गृह्यसूत्र, अग्निवेश्य गृह्यसूत्र और काठक गृह्यसूत्र उल्लेखनीय हैं। सामवेद के साथ सम्बन्ध रखने वाले तीन गृह्यसूत्र वर्तमान समय में प्राप्य हैं, गोभिल गृह्यसूत्र, खदिर गृह्यसूत्र और जैमिनीय गृह्यसूत्र। अथर्ववेद का एक मात्र उपलब्ध गृह्यसूत्र कौशिक गृह्यसूत्र है।

धर्मसूत्र—व्यक्ति का परिवार और समाज से क्या सम्बन्ध रहे, और परिवार तथा समाज के अंग के रूप में मनुष्य के क्या कर्तव्य हैं—इन विषयों का प्रतिपादन धर्मसूत्र-सम्बन्धी कल्प वेदांग में किया जाता है। प्राचीन भारतीय चिन्तकों के अनुसार मनुष्य का व्यक्तिगत तथा सामाजिक हित व कल्याण वर्णाश्रम व्यवस्था पर निर्भर होता है। मनुष्य का हित इसी बात में है कि वह अपने वर्णधर्म और आश्रम-धर्म का पालन करे। धर्मसूत्रों में इन्हीं वर्णधर्मों तथा आश्रम धर्मों का स्पष्ट रूप से निरूपण किया गया है। राज्य भी मनुष्य की सामाजिकता का ही एक रूप है। अतः राजा और प्रजा के कर्तव्य, दण्ड-विधान, न्याय व्यवस्था और राजकीय कर आदि विषय भी धर्मसूत्रों में निरूपित हैं। मनुष्यों के खान-पान, रहन-सहन, विवाह, उत्तराधिकार, ऋण और ब्याज आदि भी धर्मसूत्रों की परिधि के अन्तर्गत विषय हैं।

वर्तमान समय में जो धर्मसूत्र उपलब्ध हैं, उनमें गौतम धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, हिरण्यकेशि धर्मसूत्र, वशिष्ठ धर्मसूत्र, वैखानस धर्मसूत्र और विष्णुधर्मसूत्र उल्लेखनीय हैं। प्राचीन भारत के धार्मिक जीवन का निरूपण करते हुए हम इन सूत्र-ग्रन्थों का उपयोग करेंगे।

(७) ज्योतिष वेदाङ्ग

षड्वेदाङ्गों में ज्योतिष भी अन्यतम है। प्राचीन भारत में इस विज्ञान का

समुचित विकास हुआ था। याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिए भी इसका बहुत उपयोग था, क्योंकि यज्ञों के लिए यह भी आवश्यक समझा जाता था कि विशिष्ट समयों पर ही उनका अनुष्ठान किया जाए। विधिपूर्वक यज्ञ कर सकना तभी सम्भव है, जब कि नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु, सम्वत्सर आदि का भी ध्यान रखा जाए। जिस ऋतु, मास या नक्षत्र में जिस यज्ञ का विधान है, उसी में उसका सम्पादन करना चाहिए। अन्यथा यज्ञ सफल नहीं हो सकता। यज्ञों का अनुष्ठान ठीक समय पर किया जाए, इसके लिए ज्योतिष का ज्ञान आवश्यक है, और इसीलिए इस विज्ञान को भी वेदांग के अन्तर्गत किया गया है।

ज्योतिष विज्ञान बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में भी ऐसे मन्त्र विद्यमान हैं, जिनसे ज्योतिष के ज्ञान का संकेत मिलता है। एक मन्त्र में वर्ष की बारह राशियों की गणना सूचित की गई है।[1] प्राचीन ग्रन्थों में सप्तर्षिमण्डल के लिए 'ऋक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद में भी सप्तर्षियों के लिए ऋक्ष शब्द का प्रयोग कर यह प्रश्न उठाया गया है कि ये जो ऋक्ष आकाश में बहुत ऊँचे पर स्थित हैं, वे रात में तो दिखाई देते हैं पर दिन में वे कहाँ चले जाते हैं।[2] सूत्र या मूल रूप से जो ज्योतिष-विज्ञान ऋग्वेद में प्रतिपादित है, ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय में उसका और अधिक विकास हुआ, और समयान्तर में उसने एक पृथक् वेदाङ्ग का रूप प्राप्त कर लिया। छान्दोग्य उपनिषद् के समय तक यह विज्ञान अच्छी उन्नत दशा को प्राप्त हो चुका था। इसी लिए ऋषि सनत्कुमार के प्रश्न करने पर नारद मुनि ने जब उन विद्याओं को गिनाया, जिनका कि वे अध्ययन कर चुके थे, तो उन्होंने नक्षत्र विद्या (ज्योतिष) और राशि-विद्या (गणित) का भी नाम लिया था।[3] निरुक्त, कल्पवेदाङ्ग आदि के अनेक ग्रन्थों में भी ज्योतिष सम्बन्धी तथ्यों का उल्लेख मिलता है, जिनसे प्राचीन काल में इस विज्ञान की सत्ता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता। प्राचीन ग्रन्थों में उन ऋषियों के भी नाम दिए गए हैं, जिन्होंने कि इस विज्ञान का प्रतिपादन किया था। व्यास, वशिष्ठ, पराशर, कश्यप, अत्रि, नारद, आंगिरस, लोमश, भृगु, शौनक आदि ऋषियों को ज्योतिष के विकास का भी श्रेय दिया जाता है। पर इनके ज्योतिष-सम्बन्धी कोई भी ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं।

वर्तमान समय में ज्योतिष वेदांग की केवल एक प्राचीन पुस्तिका उपलब्ध है, जिसे 'वेदांग ज्योतिष' कहते हैं। इसके दो प्रकार के पाठ हैं, जिनमें से एक पाठ का सम्बन्ध ऋग्वेद से माना जाता है, और दूसरे का यजुर्वेद से। याजुष ज्योतिष में ४३

१. द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥
ऋग्वेद १।१६४।११

२. अमीय ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुहचिद्दिवेयुः ।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥ ऋग्वेद १।२४।१०

३. छान्दोग्य उपनिषद् ७।१।२४

श्लोक हैं, और आर्च ज्योतिष की श्लोक संख्या ४३ है। बहुसंख्यक श्लोक दोनों में एक सदृश हैं। वैदिक युग में ज्योतिष के क्या सिद्धान्त या मन्तव्य थे, यह जानने के लिए 'वेदांग ज्योतिष' एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन है, और कतिपय विद्वानों ने तो इसे ईस्वी सन् से बारह और सोलह सदी पूर्व के काल में विरचित माना है। इसके रचयिता का नाम लगध था।[1] लगध कहाँ के निवासी थे और किस कुल में उत्पन्न हुए थे, यह सर्वथा अज्ञात है।

ज्योतिष के कतिपय अन्य प्राचीन ग्रन्थों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में हुआ है। पर ये ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं। आर्यभट्ट, वराहमिहिर आदि के ज्योतिष-सम्बन्धी ग्रन्थ बाद के काल के हैं, और प्राचीन ज्योतिष वेदांग के अन्तर्गत नहीं हैं।

(८) प्रातिशाख्य

शिक्षा, छन्द और व्याकरण—ये तीनों वेदांग वैदिक शब्दों व मन्त्रों के उच्चारण, छन्दों और व्याकरण-सम्बन्धी सामान्य नियमों का प्रतिपादन करते हैं। पर वेदों की बहुत-सी शाखाएँ हैं, और इन विविध शाखाओं की वैदिक ऋचाओं में शब्दों के उच्चारण तथा व्याकरण-सम्बन्धी नियमों आदि में अनेक भिन्नताएँ हैं। प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना इस प्रयोजन से की गई थी, कि वेदों की विविध शाखाओं में शिक्षा, छन्द और व्याकरण के जो विशिष्ट नियम हैं, उनका निरूपण किया जाए। इस प्रकार प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध किसी एक वेदांग से न होकर शिक्षा, छन्द और व्याकरण—इन तीनों वेदांगों के साथ है। ऋक् प्रातिशाख्य के भाष्य के प्रारम्भ में प्रातिशाख्य के प्रयोजन को इस प्रकार प्रगट किया गया है—शिक्षा, छन्द तथा व्याकरण तो सामान्य लक्षणों व नियमों का प्रतिपादन करते हैं, पर विभिन्न शाखाओं में इन नियमों का जो विशिष्ट रूप है उसे प्रगट करना इस शास्त्र (प्रातिशाख्य) का प्रयोजन है।[2] क्योंकि ये शास्त्र विविध वैदिक शाखाओं के विशिष्ट नियमों का प्रतिपादन करते हैं, अतः स्वाभाविक रूप से प्रत्येक प्रातिशाख्य का किसी-न-किसी शाखा के साथ सम्बन्ध है।

यद्यपि प्रातिशाख्यों में शिक्षा, छन्द और व्याकरण—तीनों वेदांगों के विषय प्रतिपादित हैं, पर उनका अधिक सम्बन्ध व्याकरण के साथ है। इसीलिए उन्हें वैदिक व्याकरण के ग्रन्थ भी कहा जाता है। वर्ण समाम्नाय, पदविभाग, सन्धि-विच्छेद, स्वर-विचार और उच्चारण आदि पर इन ग्रन्थों में विशेष रूप से विचार किया गया है, जिसके कारण वैदिक संहिताओं को शुद्ध रूप से कायम रखने में इनसे बहुत सहायता मिली है। भाषा में निरन्तर विकास होता रहता है, और शब्दों के उच्चारण में भी

---

१. प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः॥ आर्च ज्योतिष, श्लोक २

२. शिक्षा छन्दो व्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्र प्रयोजनम्॥

समय के साथ-साथ अन्तर आ जाता है। संस्कृत का चन्द्र शब्द बाद में चाँद बन गया, और निर्भय का निरभौ के रूप में उच्चारण किया जाने लगा। प्राचीन संस्कृत भाषा में भी यही प्रक्रिया हुई। ऋग्वेद के समय वैदिक भाषा का जो स्वरूप था, समय के साथ-साथ वह पुराना पड़ता गया और संस्कृत भाषा नया रूप प्राप्त करती गई। इस दशा में वेदमन्त्रों और उनके शब्दों के शुद्ध उच्चारण को कायम रख सकना सुगम बात नहीं थी। प्रातिशाख्यों में विशेष रूप से यह प्रयत्न किया गया, कि वेदमन्त्रों के छन्द सही रूप से कायम रहें, उनके उच्चारण में अन्तर न आए और स्वरों की शुद्धता बनी रहे। इसीलिए इन ग्रन्थों में वेद मन्त्रों के संहिता पाठ, क्रम पाठ, जटा पाठ आदि का भी निरूपण किया गया, जिससे मन्त्रों की शुद्धता के स्थिर रहने में बहुत सहायता मिली। हजारों वर्ष बीत जाने पर भी वैदिक संहिताएँ जो शुद्ध रूप में उपलब्ध हैं, उसका श्रेय प्रातिशाख्य ग्रन्थों को ही दिया जा सकता है।

वर्तमान समय में जो प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं, उनमें से कतिपय का यहाँ उल्लेख करना उपयोगी होगा। ऋक्प्रातिशाख्य इन ग्रन्थों में बहुत प्राचीन तथा प्रामाणिक है। इसके रचयिता महर्षि शौनक माने जाते हैं। शिक्षा वेदांग का विषय इसमें विशेष रूप से प्रतिपादित है, अतः इसे शिक्षा-शास्त्र भी कहते हैं। यह प्रातिशाख्य अठारह पटलों में विभक्त है। पहला पटल शिक्षा प्रकरण है, जिसमें स्वर, व्यञ्जन, स्वरभक्ति, नाभि, प्रगृह्य आदि विशिष्ट शब्दों के लक्षण दिए गए हैं। द्वितीय पटल में विभिन्न प्रकार की सन्धियों का उदाहरणसहित प्रतिपादन है। वैदिक तथा संस्कृत भाषा में सन्धियों का विशिष्ट स्थान है। इसी से विसर्ग विविध स्वरों में परिणत हो जाता है, और व्यञ्जन द्वित्व रूप प्राप्त कर लेते हैं। स तथा न जैसे व्यञ्जन सन्धि द्वारा मूर्धन्य रूप भी ग्रहण कर लेते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य के अगले सात पटलों में इन्हीं विभिन्न सन्धियों का विशद रूप से प्रतिपादन है। स्वर किस प्रकार उदात्त, अनुदात्त एवं प्लुत रूप प्राप्त करते हैं, और वर्णों के उच्चारण में कौन-से दोष हो सकते हैं—इन सब विषयों के निरूपण के पश्चात् अन्तिम तीन पटलों में वैदिक छन्दों का विवेचन किया गया है।

शुक्ल यजुर्वेद का प्रातिशाख्य भी वर्तमान समय में उपलब्ध है, जिसे वाजसनेयी प्रातिशाख्य कहते हैं। इसके रचयिता कात्यायन ऋषि माने जाते हैं। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं, जिनमें विविध स्वरों के लक्षण एवं विशेषताएँ, विभिन्न सन्धियाँ, वर्णों का परिगणन तथा स्वरूप और मन्त्रों के पद पाठ आदि विषयों का वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादन किया गया है। ऋक् प्रातिशाख्य और वाजसनेयी प्रातिशाख्य—दोनों में ही अनेक प्राचीन आचार्यों के मत उद्धृत किए गये हैं। ऋक् प्रातिशाख्य में माण्डूकेय, मालव्य आदि आचार्यों के मतों का तथा वजसनेयि-प्रातिशाख्य में शाकटायन, शाकल्य और काश्यप आदि आचार्यों के मतों का उल्लेख है, जिससे यह ज्ञात होता है कि इन प्रातिशाख्यों से पहले भी ऐसे ग्रन्थों की सत्ता थी, जिनमें इन्हीं शास्त्रों या इन्हीं वेदांगों (शिक्षा, छन्द और व्याकरण) का पृथक् वैदिक शाखाओं के अनुसार विभिन्न रूप से प्रतिपादन किया गया था।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध तैत्तिरीय प्रातिशाख्य है, जो दो प्रश्नों (खण्डों) में विभक्त है। प्रत्येक प्रश्न में बारह-बारह अध्याय हैं। इसमें वर्ण, शब्द, स्वर, सन्धि, उच्चारण आदि का विशद रूप से विवेचन है। प्रातिशाख्य साहित्य में इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सामवेद से सम्बद्ध अनेक प्रातिशाख्य वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, जिनमें पुष्पसूत्र और ऋक्तन्त्र उल्लेखनीय हैं। पुष्पसूत्र के रचयिता आचार्य वररुचि थे। इस ग्रन्थ में सामवेद के गेय सामों का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। ऋक्-तन्त्र का सम्बन्ध सामवेद की कौथुम शाखा के साथ है। इसका रचयिता शाकटायन को माना जाता है, और इसमें वैदिक व्याकरण के नियमों को विशद रूप से निरूपित किया गया है।

अथर्ववेद के दो-दो प्रातिशाख्य उल्लेखनीय हैं, शौनकीया चतुरध्यायिका और अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र। शौनकीया चतुरध्यायिका के रचयिता के सम्बन्ध में मतभेद है। कतिपय विद्वानों के अनुसार उसके लेखक ऋषि शौनक थे। पर अनेक हस्तलिखित प्रतियों में इस प्रतिशाख्य को 'कौत्स-व्याकरण' भी कहा गया है, जिससे यह परिणाम निकाला जाता है कि इसकी रचना आचार्य कौत्स द्वारा की गई थी। अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र बहुत संक्षिप्त ग्रन्थ है, और इसमें भी उन्हीं विषयों का विवेचन है जो शिक्षा, छन्द तथा व्याकरण की परिधि में आते हैं।

जिन प्रातिशाख्यों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उन पर अनेक भाष्य तथा टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिए इनका बहुत उपयोग है।

(६) उपवेद

उपवेद—छह वेदांगों के अतिरिक्त प्राचीन समय में चार उपवेदों का भी विकास हुआ। ये उपवेद निम्नलिखित हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिल्पवेद और गान्धर्व-वेद। चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञान आयुर्वेद के अन्तर्गत है। चरक, सुश्रुत आदि आचार्यों ने चिकित्सा-शास्त्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ लिखे थे, वे आजकल उपलब्ध होते हैं। पर ये आचार्य बौद्ध-काल में व उसके बाद हुए थे। प्राग्बौद्धकाल का आयुर्वेद-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होता। पर चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है, कि उनसे पूर्व बहुत-से ऐसे आचार्य हो चुके थे, जिन्होंने आयुर्वेद का विकास किया था। उपनिषदों में श्वेतकेतु नामक आचार्य का उल्लेख आया है, जो उद्दालक आरुणि का पुत्र था। यह श्वेतकेतु केवल ब्रह्मज्ञानी ही नहीं था, अपितु साथ ही प्रजननशास्त्र और कामशास्त्र का भी पण्डित था। ये शास्त्र आयुर्वेद के अन्तर्गत थे। श्वेतकेतु के समान अन्य भी अनेक विद्वान् इस युग में हुए, जिनके प्रयत्न से आयुर्वेद-विज्ञान का भारत में विकास हुआ। धनुर्वेद, शिल्पवेद और गान्धर्ववेद पर बाद के समय में बने हुए अनेक ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं। पर अभी तक कोई ऐसी पुस्तक इन विषयों पर नहीं मिली है, जिसे निश्चित रूप से प्राग्बौद्ध काल या उत्तर-वैदिक काल का कहा जा सके। पर इन विद्याओं का उपवेद समझा जाना ही

इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि प्राचीन आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठान और ब्रह्मविद्या का ही चिन्तन नहीं करते थे, अपितु चिकित्सा, युद्ध-विद्या, शिल्प और संगीत आदि लौकिक विषयों का भी अनुशीलन किया करते थे।

अन्य विद्याएं—वैदिक संहिताओं और उनसे सम्बद्ध विषयों के अतिरिक्त अन्य किन विद्याओं का अनुशीलन इस युग के आर्य करते थे, इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् का एक सन्दर्भ बहुत महत्त्व का है। इस उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में महर्षि सनत्कुमार और नारद का संवाद आता है, जिसमें सनत्कुमार के यह पूछने पर कि नारद ने किन-किन विषयों का अध्ययन किया है, नारद ने इस प्रकार उत्तर दिया—"हे भगवन् ! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का अध्ययन किया है, मैंने पंचमवेद इतिहास पुराण को पढ़ा है, मैंने पितृविद्या, राशिविद्या (गणित), दैवविद्या, निधि-विद्या, (खान-सम्बन्धी विद्या), वाकोवाक्य (तर्क-शास्त्र), एकायन (नीति-शास्त्र), देव-विद्या, ब्रह्म विद्या (अध्यात्म शास्त्र), भूत विद्या, क्षत्र विद्या (युद्ध-शास्त्र) नक्षत्र विद्या (ज्योतिष), सर्प विद्या और देवजन विद्या को पढ़ा है।" इस सन्दर्भ को दृष्टि में रखकर यह निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि शिक्षा, छन्द, ज्योतिष आदि वेदांगों के विकास के साथ-साथ प्राचीन भारत के वैदिक तथा उत्तर-वैदिक युगों में अन्य भी अनेक विद्याओं का विकास हुआ था।

चौथा अध्याय

वैदिक साहित्य की रचना का काल

(१) रचना काल के निर्धारण में कठिनाइयाँ

पिछले दो अध्यायों में वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों और वेदाङ्गों का जो परिचय दिया गया है, उसमें कहीं भी उनके निर्माण काल का उल्लेख नहीं किया गया। इसका कारण यह है कि प्राचीन भारतीय इतिहास के तिथि-क्रम का विषय बहुत विवादग्रस्त है। ऐतिहासिकों में इस पर बहुत मतभेद है। प्राचीन भारतीय इतिहास की जो अनुश्रुति महाभारत तथा पुराणों में संकलित है, उससे राजवंशों और राजाओं के पौर्वापर्य का अवश्य बोध हो जाता है, पर वे किस समय में हुए थे यह स्पष्ट नहीं होता। प्राचीन साहित्य में अनेक संवतों का उल्लेख है, पर कठिनाई यह है कि भारतीय तिथिक्रम में इन संवतों का क्या स्थान है, यह भी निर्विवाद नहीं है। वर्तमान समय में प्राचीन भारतीय इतिहास के तिथिक्रम का निर्धारण इन दो बातों के आधार पर किया गया है–(१) ग्रीक लेखकों के विवरणों के अनुसार सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया, तो पाटलिपुत्र का राजा नन्द्रमस या नन्द था। उसे मार कर सेन्द्राकोट्टस (चन्द्रगुप्त) ने राज्य प्राप्त किया। ग्रीक इतिहास में सिकन्दर का समय निश्चित है। उसने चौथी सदी ईस्वी पूर्व में भारत पर आक्रमण किया था। अतः मगध-राज नन्द और मौर्यवंश के प्रवर्तक चन्द्रगुप्त का समय भी चौथी सदी ईस्वी पूर्व में होना चाहिए। (२) बौद्ध साहित्य द्वारा बुद्ध का और जैन साहित्य द्वारा महावीर का काल निर्धारित कर सकना सम्भव है। ये दोनों छठी सदी ईस्वी पूर्व में हुए थे। बौद्ध और जैन साहित्य में बुद्ध और महावीर के समकालीन मगध के राजाओं–बिम्बिसार और अजातशत्रु का भी उल्लेख है; अतः इन राजाओं का समय भी छठी सदी ईस्वी पूर्व में ही होगा। इन दो बातों को दृष्टि में रखकर आधुनिक ऐतिहासिकों ने नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य का समय चौथी सदी ईस्वी पूर्व में मान लिया, और मगधराज बिम्बिसार तथा अजातशत्रु का समय छठी सदी ईस्वी पूर्व में। पौराणिक अनुश्रुति में जिन राजाओं का वृत्तान्त बिम्बिसार से पूर्ववर्ती राजाओं के रूप में दिया गया है, उन्हें उससे पहले रखकर उनका समय भी निश्चित कर दिया गया। पुराणों में जनमेजय के प्रपौत्र अधिसीम कृष्ण और नन्द के बीच राज्य करने वाले राजाओं के जो नाम दिये गये हैं, उनकी संख्या २६ है। यदि इन २६ राजाओं में से प्रत्येक का औसतन शासनकाल २० वर्ष मान लिया जाए, तो इन सब राजाओं ने कुल मिलाकर ५२० साल तक राज्य किया। इस प्रकार अधिसीम कृष्ण का समय नन्द से ५२० साल पूर्व था, और महाभारतयुद्ध का उससे लगभग १०० वर्ष पूर्व। क्योंकि नन्द सिकन्दर का समकालीन था,

अतः महाभारत-युद्ध का समय उससे ६२० वर्ष पूर्व या १०००ईस्वी पूर्व के लगभग रखा जाना चाहिए। वर्तमान समय में भारत के प्राचीन इतिहास पर जो भी पुस्तकें लिखी गई हैं, प्रायः उन सबमें चन्द्रगुप्त मौर्य और नन्द के समय को चौथी सदी पूर्व में तथा बुद्ध और महावीर के समय को छठी सदी ईस्वी पूर्व में मानते हुए भारत के विविध राजवंशों एवं राजाओं का काल निर्धारित किया जाता है, और इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए महाभारत-युद्ध तथा परीक्षित आदि का काल १००० या १२०० ईस्वी पूर्व के लगभग मान लिया जाता है।

अब यदि महाभारत-युद्ध का समय १२०० ईस्वी पूर्व के लगभग हो, तो अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी प्रायः उसी समय का मानना होगा, क्योंकि उनमें जनमेजय सदृश अनेक ऐसे राजाओं का उल्लेख है, जिनका सम्बन्ध महाभारत के साथ है। कतिपय वेदमन्त्रों में भी ऐसे राजाओं के नाम आये हैं, जो महाभारत-युद्ध के समय या उससे कुछ पहले हुए थे। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में एक सूक्त है, जिसमें शन्तनु और उसके पुरोहित देवापि का उल्लेख है।[1] शन्तनु कौरवों का पितामह तथा भीष्म का पिता था। यदि ऋग्वेद में आये शन्तनु से कौरव वंश का राजा शान्तनु ही अभिप्रेत हो, तो ऋग्वेद के इस सूक्त को भी १२०० ईस्वी पूर्व के लगभग में बना स्वीकार करना होगा। पर मुख्य प्रश्न यह है, कि क्या महाभारत-युद्ध का १००० या १२०० ईस्वी पूर्व मानना उपयुक्त है। भारत के ज्योतिषसम्बन्धी ग्रन्थों के अनुसार महाभारत-युद्ध का समय ३१०२ ईस्वी पूर्व है। महाभारत में भी अनेक स्थलों पर यह उल्लेख है, कि द्वापर युग का अन्त होकर जब कलियुग का प्रारम्भ हुआ, तभी महाभारत की लड़ाई लड़ी गई थी। प्राचीन ज्योतिषियों के अनुसार कलियुग का प्रारम्भ ३१०२ ईस्वी पूर्व में हुआ था। सिकन्दर नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था, इस बात को भी वे विद्वान् स्वीकार नहीं करते, जो महाभारत का समय अब से ५००० वर्ष के लगभग पहले प्रतिपादित करते हैं। वस्तुतः तिथिक्रम का यह विषय इतना विवादग्रस्त है कि अभी इसका कोई ऐसा निर्णय क्रियात्मक प्रतीत नहीं होता जो सर्वसम्मत हो।

पर महाभारत-युद्ध एक ऐसी घटना है, जिसके काल को केन्द्रबिन्दु बनाकर वैदिक साहित्य की रचना के समय को निर्धारित किया जा सकता है। ब्राह्मण-ग्रन्थ वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं, और उनमें अनेक ऐसे जनपदों, राजवंशों और राजाओं का उल्लेख है, जिनका वृत्तान्त महाभारत और पुराणों में विद्यमान है। शतपथ ब्राह्मण में सत्राजित् शतानीक[2], दौष्यन्ति भरत[3] और धृतराष्ट्र[4] आदि कितने ही

---

१. यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्॥ ऋग्वेद १०।९८।७

२. शतपथ १३।५।४।१९

३. तेन हैतेन भरतो दौःषन्तिरीजे······भरतो दौःषन्तिर्यमुनामनु गंगायां वृत्रघ्ने-ऽबध्नात्पञ्चपञ्चाशतं हयानिति।' शतपथ १३।५।४।११

४. 'श्वेतं समन्तासु वशं चरन्तं शतानीको धृतराष्ट्रस्य मेध्यमादाय सह्वा दशमास्य-मश्वं शतानीको गोविनतेन हेजति।' शतपथ १३।५।४।२२

राजाओं के नाम आये हैं, और उन द्वारा सम्पादित याज्ञिक अनुष्ठानों का विवरण है। परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने दैवाप शौनक के पौरोहित्य में जो यज्ञ किया था, उसका उल्लेख कर शतपथ में लिखा है, कि जो कोई अश्वमेध यज्ञ करता है वह सब पापकृत्यों तथा ब्रह्महत्याओं के पाप से मुक्त हो जाता है।[1] भरत, धृतराष्ट्र और जनमेजय आदि कुरु देश के राजा थे। इनमें से धृतराष्ट्र महाभारत युद्ध के समय में हुए थे, और जनमेजय उनसे कुछ समय पश्चात्। इस दशा में यह निर्विवाद रूप से माना जा सकता है, कि शतपथ ब्राह्मण की रचना का काल महाभारत युद्ध के बाद का था। अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी इस प्रकार के इतिहास-सम्बन्धी प्रसंग विद्यमान हैं, जिनके आधार पर उनका समय निर्धारित कर सकना सम्भव है। क्योंकि आरण्यक और उपनिषदें ब्राह्मण-ग्रन्थों से सम्बद्ध हैं, अतः उनका रचना काल ब्राह्मणों के समय से कुछ बाद ही रहना होगा। ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और वेदाङ्गों के विविध ग्रन्थों में बहुत से ऋषियों के भी नाम आये हैं, और इन ग्रन्थों में ऐसे संकेत व विवरण भी विद्यमान हैं, जिनसे कि इन ऋषियों की गुरु-शिष्य परम्परा का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। कौन ऋषि किस राजा का समकालीन था, यह जानने के लिए भी कतिपय तथ्य इन ग्रन्थों में पाये जाते हैं। दैवाप शौनक ने परीक्षित जनमेजय का यज्ञ कराया था, शतपथ के इस कथन से यह स्पष्ट है कि शौनक जनमेजय का समकालीन था। शौनक की शिष्य-परम्परा में कौन-कौन से ऋषि या आचार्य हुए और स्वयं शौनक किनके शिष्य थे, यह हम वैदिक साहित्य के ग्रन्थों से जान सकते हैं। यह जानने के साधन भी विद्यमान हैं, कि विविध ब्राह्मणग्रन्थ या वेदाङ्ग साहित्य के विविध ग्रन्थ किन ऋषियों व आचार्यों द्वारा बनाये गये। जब यह ज्ञात हो जाये कि अमुक ग्रन्थ का रचयिता अमुक ऋषि था, वह ऋषि अमुक राजा का समकालीन था, और वह राजा परीक्षित या जनमेजय से इतनी पीढ़ी पहले या पीछे हुआ था, तो महाभारत को केन्द्र-बिन्दु मान कर उस ग्रन्थ के रचना काल को निर्धारित कर सकने में विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। वैदिक वाङ्मय के विविध ग्रन्थों का सम्बन्ध याज्ञवल्क्य, शौनक, आश्वलायन, पिप्पलाद, भारद्वाज, शाकल आदि ऋषियों या आचार्यों के साथ है। यह जान लेने पर कि ये आचार्य किस राजा के समय में हुए, यह प्रतिपादित कर सकना सर्वथा सम्भव हो जाता है कि इन द्वारा विरचित ग्रन्थ महाभारत-युद्ध से कितने समय पूर्व या पश्चात् बने थे।

पर प्रधान समस्या महाभारत युद्ध के समय को निर्धारित करने की है। यह ऊपर लिखा जा चुका है कि भारत की प्रचीन अनुश्रुति के अनुसार इस युद्ध का समय ३१०२ ईस्वी पूर्व में था। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने इस युद्ध का समय १००० से १२०० ईस्वी पूर्व तक निर्धारित किया है। इस प्रसंग में श्री काशी प्रसाद जायसवाल

---

१. एतेन हेन्द्रोतो दैवापः शौनकः। जनमेजयं पारीक्षितं याजयांचकार तेनेष्ट्वा सर्वां पापकृत्यां ब्रह्महत्यामपजघान सर्वां ह वै पापकृत्यां सर्वां ब्रह्महत्यामपहन्ति योऽश्वमेधेन यजते।' शतपथ १३।५।४।१

के मत का निर्देश करना भी उपयोगी है। उन्होंने पौराणिक अनुश्रुति के आधार पर यह प्रदर्शित किया है, कि महाभारत युद्ध और महापद्म नन्द के बीच १०५० वर्ष का अन्तर था। क्योंकि नन्द का काल चौथी सदी ईस्वी पूर्व में था, अतः महाभारत-युद्ध का समय ईस्वी सन् से १४०० वर्ष के लगभग पहले होना चाहिए। हमारे लिए इस ग्रन्थ में यह सम्भव नहीं है, कि प्राचीन भारतीय तिथिक्रम की विविध समस्याओं को सुलझा कर किसी ऐसे मत का प्रतिपादन करें जो युक्तियुक्त हो। इस ग्रन्थ का यह विषय भी नहीं है। वैदिक साहित्य के विविध ग्रन्थों के रचना काल का निरूपण करते हुए यही पद्धति क्रियात्मक है कि कौन-सा ग्रन्थ महाभारत के काल से कितने समय पहले या पीछे बना, यह निर्दिष्ट कर दिया जाये। आधुनिक ऐतिहासिकों के मतों को दृष्टि में रखते हुए सम्भवतः यह भी समुचित होगा, कि विषय को स्पष्ट करने के लिए महाभारत युद्ध के समय को १४०० ईस्वी पूर्व के लगभग मानकर वैदिक साहित्य के विविध ग्रन्थों के रचना-काल को अधिक सुस्पष्ट रूप से भी निर्दिष्ट कर दिया जाय। जो विद्वान् महाभारत-युद्ध का समय ३१०२ ईस्वी पूर्व में मानते हैं, वे इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट रचना-काल में १७०० जोड़ कर वैदिक साहित्य के अन्तर्गत विविध ग्रन्थों के काल का पौर्वापर्य अवगत कर सकते हैं।

(२) वैदिक संहिताओं का रचना-काल

वेदों का अपौरुषेयत्व और अनादित्व—जब हम वैदिक संहिताओं के रचना-काल पर विचार करने लगें, तो हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आर्य जाति के विश्वास के अनुसार वेद मनुष्यकृत न होकर अपौरुषेय और अनादि हैं। ईश्वर और प्रकृति के समान वे भी नित्य हैं। प्रलय होने पर भी उनका अन्त नहीं हो जाता। षड्दर्शनों में सांख्य दर्शन सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। पर उसके मत में भी वेद स्वतः प्रमाण है। वेद की प्रामाणिकता के प्रतिपादन के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह अपने आप में ही प्रमाण है। उसे न मनुष्य ने बनाया है और न किसी मुक्त पुरुष ने। वह अनादि तथा अनन्त है। योग दर्शन ईश्वर में विश्वास रखता है, और ईश्वर के समान वेद को भी अनादि मानता है। मीमांसा दर्शन में शब्द को नित्य प्रतिपादित किया गया है। क्योंकि शब्द नित्य है, अतः वेद रूपी शब्दराशि भी नित्य है। वे ईश्वर के निःश्वास रूप हैं। श्वास-प्रश्वास की क्रिया सब प्राणियों में स्वाभाविक रूप से होती है। ईश्वर के निःश्वास रूप वेद ईश्वर के समान ही अनादि व नित्य हैं। वेदान्त दर्शन को भी यही मत अभीष्ट है। उसके अनुसार भी वेद 'महान् भूत' (ब्रह्म) के निःश्वसित हैं। ब्रह्म वेद की योनि (कारण) अवश्य है पर वेद उसकी कृति नहीं हैं। वेद तो ब्रह्म के ऐसे श्वास-प्रश्वास के समान है, जो स्वाभाविक रूप से निःसरित होते रहते हैं। इसीलिए सृष्टि तथा प्रलय दोनों अवस्थाओं में वे बने रहते हैं। न उनका कभी प्रारम्भ होता है और न अन्त। वैशेषिक दर्शन में वेदों को 'पौरुषेय' माना गया है, पर उसके अनुसार पौरुषेय का अभिप्राय ईश्वरकृत है। वेद मनुष्य-कृत न होकर परमपुरुष ईश्वर की कृति हैं।

जगत् का कर्ता परमेश्वर नित्य, आप्त और सर्वज्ञ है। साथ ही वह करुणा का आगार भी है। इस कारण सृष्टि की उत्पत्ति कर वह मनुष्यों के कल्याण के लिए वेदों का भी उपदेश करता है। वेद उसी ज्ञान का नाम है या वेदों में वही ज्ञान विद्यमान है, जिसका उपदेश मनुष्यों के हित-कल्याण व मार्ग-प्रदर्शन के लिए ईश्वर द्वारा किया जाता है। वैशेषिक के अनुसार वेद ईश्वर के वचन हैं। क्योंकि वे ईश्वर की कृति हैं, अतः वे प्रमाणरूप हैं।

जो विचारक वेद को अपौरुषेय एवं अनादि मानते हैं या जो उन्हें ईश्वर की ऐसी कृति प्रतिपादित करते हैं महाप्रलय द्वारा भी जिसका अन्त नहीं होता, जो 'नित्य' है, उनकी दृष्टि में वेदों के रचना-काल के सम्बन्ध में विचार विमर्श करना ही निरर्थक है। जब उनकी रचना मनुष्यों द्वारा कभी की ही नहीं गई, तो उनके रचनाकाल के विषय में विचार करने का लाभ ही क्या है। वैदिक सूक्तों एवं मन्त्रों के साथ जिन ऋषियों के नाम दिये गये हैं, वे उनके कर्त्ता व रचयिता न होकर, 'द्रष्टा' मात्र थे। ऋषि शब्द की व्युत्पत्ति ही यह कही गई है—'ऋषेर्ज्ञानार्थत्वाद् मन्त्रं दृष्टवन्तः' मन्त्रों के द्रष्टा होने के कारण ही वे ऋषि कहाते हैं।

प्राचीन विचारकों के अन्य मन्तव्य—पर भारत में ऐसे विचारक भी रहे हैं, जो वेदो को न केवल ईश्वरीय ज्ञान या अपौरुषेय नहीं मानते थे, अपितु उनकी निन्दा भी करते थे। यास्क ने निरुक्त में आचार्य कौत्स के मत को उद्धृत किया है, जिसके अनुसार वेदमन्त्र 'अनर्थक' हैं (अनर्थका हि मन्त्राः), और वेदमन्त्रों में ऐसी बातें कही गई हैं, जो तर्कसंगत नहीं हैं। इस कारण वेदमन्त्र केवल अनर्थक (जिनका कोई अभिप्राय न हो) ही नहीं है, अपितु 'अनुपपन्नार्थ' भी है।[1] उनमें परस्पर विरोधी बातें भी पायी जाती हैं। एक स्थल पर कहा गया है कि रुद्र केवल एक ही है, और अन्यत्र यह कह दिया गया है कि रुद्र हजारों हैं, असंख्य हैं। प्राचीन भारत में ऐसे भी विचारक थे, जिनके मत में वेद लोक-यात्राविदों (दुनियादारों) के लिए आवरण (ढकोसला) मात्र हैं।[2] ऐसे ही विचारकों को नास्तिक कहते हैं। ईश्वर को न मानने वाले की संज्ञा नास्तिक नहीं है। नास्तिक उसे कहते हैं जो वेदों का निन्दक हो। लोकायत (चार्वाक) सदृश लोग तो वेदों के इतने निन्दक व विरोधी थे, कि तीनों वेदो के कर्त्ताओं को भाण्ड, धूर्त और निशाचर तक कहने में भी संकोच नहीं करते थे।[3] बौद्ध और जैन सम्प्रदायों के अनुयायी भी वेदों को प्रमाणरूप में स्वीकार नहीं करते थे।

नास्तिक विचारकों के अतिरिक्त प्राचीन भारत में ऐसे व्यक्ति भी थे, जो वेदार्थ को समझने के लिए इतिहास-पुराण का ज्ञान आवश्यक मानते थे। उनका कहना था, कि इतिहास और पुराणों की सहायता से वेदमन्त्रों के अभिप्राय को स्पष्ट करे। जो 'बहुश्रुत' न होकर 'अल्पश्रुत होता है, वेद उससे डरता है कि कहीं वह अर्थ का अनर्थ

---

१. निरुक्त १।१५

२. 'आवरणमात्रं हि त्रयी लोकयात्राविद इति।' कौटलीय अर्थशास्त्र १।१

३. त्रयो वेदस्य कर्तारो भाण्डधूर्तनिशाचराः।

न कर दे ।[1] वेदमन्त्रों में अनेक राजाओं के नाम आये हैं, कुछ सदृश कतिपय घटनाओं का भी उनमें उल्लेख मिलता है। पर इनका विस्तृत विवरण तो इतिहास (रामायण-महाभारत) और पुराणों से ही जाना जा सकता है। वेद में जिन राजाओं के नाम आये हैं या जिन घटनाओं का संकेत है, उनके सम्बन्ध में इतिहास-पुराण से विशद रूप में जानकारी प्राप्त करके ही उन वेदमन्त्रों का अर्थ समझ सकना सम्भव है। ऋग्वेद में शन्तनु[2], इक्ष्वाकु[3] और राम[4] के नाम आये हैं। पर इनके इतिहास का कोई परिचय वेदमन्त्रों से नहीं मिलता। यदि ऋग्वेद में आये हुए इन राजाओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करनी हो, तो रामायण, महाभारत और पुराणों से सहायता लेनी होगी, और तभी उन वेदमन्त्रों के सही अभिप्राय को समझा जा सकेगा, जिनमें कि ये नाम आते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत के विचारकों में भी ऐसे लोग थे, जो वेदों का ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोग करने के पक्षपाती थे या वेदों में इतिहास की सत्ता को स्वीकार करते थे। यदि वेदों में ऐतिहासिक घटनाओं का संकेत हो या उनमें ऐसे राजाओं व जनपदों आदि के नाम आये हों जिनकी सत्ता इतिहास द्वारा प्रमाणित है, तो यह भी स्वीकार करना होगा कि वेदों की रचना उस समय में हुई जबकि ये ऐतिहासिक घटनाएँ घटित हो चुकी थीं। ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अनुसार न वेद नित्य व अनादि हो सकते हैं, और न अपौरुषेय व ईश्वरकृत।

वेदों के सम्बन्ध में जो विवेचन इस प्रकरण में किया गया है, उसमें उन सब मन्तव्यों का उल्लेख कर दिया गया है जो प्राचीन भारत में वेदों के विषय में प्रचलित थे। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् वेदों को मनुष्यकृत मानते हैं और वैदिक ऋषियों को मन्त्रों का कर्ता समझते हैं। उनके अनुसार वेदों की रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा किसी एक समय में न की जाकर बहुत-से व्यक्तियों (ऋषियों) द्वारा विविध समयों में की गई थी। ऋग्वेद अन्य तीन वेदों की तुलना में अधिक प्राचीन है, और इस वेद के भी कतिपय मण्डल व सूक्त ऐसे हैं, अन्य मण्डलों की तुलना में अधिक बाद के समय में जिनकी रचना हुई थी। इस मत के लिए वे जहाँ वेदमन्त्रों में निर्दिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाते हैं, वहाँ साथ ही भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी इस मत का प्रतिपादन किया जाता है। वेद के सम्बन्ध में कौन-सा मत सही है, इसका निर्णय कर सकना हमारे लिए सम्भव नहीं है। वेद को अपौरुषेय, अनादि तथा ईश्वरकृत मानने वाले विद्वानों का मत हमने इस प्रकरण में ऊपर लिख ही दिया है, अब हम ऐतिहासिकों के अनुसार वेदों के रचना-काल के विषय में जो विभिन्न मत हैं, उनका संक्षेप के साथ उल्लेख करेंगे, ताकि विज्ञ पाठक किसी परिणाम पर पहुँच सकें।

---

१. इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।

२. ऋग्वेद १०।९८।५-८

३. यस्येक्ष्वाकुरुपव्रते रेवान्मराय्येधते दिवीव पञ्चकृष्टयः । ऋग्वेद १०।६०।४

४. ऋग्वेद १०।९३।१४

वेदों के रचना काल के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के मत—उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में प्रो० मैक्समूलर ने यह विचार प्रकट किया था, कि ऋग्वेद की रचना १२०० ईस्वी पूर्व के लगभग हुई थी। छठी सदी ई० पू० में महात्मा बुद्ध ने याज्ञिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध आवाज उठाई थी। उस समय तक याज्ञिक विधि-विधानों का भली-भाँति विकास हो चुका था, और यज्ञों का प्रतिपादन करने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा श्रौत-सूत्रों की भी रचना हो चुकी थी। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य उस समय विद्यमान था। इस वैदिक साहित्य के विविध भागों—सूत्रग्रन्थों, ब्राह्मणों और संहिताओं—के निर्माण के लिए यदि दो-दो सौ वर्षों का समय लगा हो, तो ऋग्वेद की रचना १२०० ई० पू० के लगभग ही होनी चाहिए। प्रो० मैक्समूलर ने अपने मत की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिए थे। उन्होंने केवल एक कल्पना ही प्रस्तुत की थी। पर बहुत-से पाश्चात्य विद्वान् चिरकाल तक उनके मत को स्वीकार्य समझते रहे। बाद में कोई बीस वर्ष पश्चात् प्रो० मैक्समूलर ने स्वयं यह सम्भावना प्रगट की, कि ऋग्वेद की रचना का काल ३००० ईस्वी पूर्व तक भी हो सकता है।

प्रो० मैक्समूलर के बाद विल्सन, कीथ, कोलब्रुक और मैकडानल्ड आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों के रचना काल को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने भी किसी वैज्ञानिक या युक्तियुक्त आधार पर अपने मत प्रगट नहीं किये, अपितु प्रायः कल्पना व अनुमान का ही आश्रय लिया। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक पश्चिमी एशिया के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में कतिपय ऐसे तथ्य ज्ञात हो चुके थे, जिनसे इस क्षेत्र में वैदिक देवताओं की पूजा तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति की सत्ता के संकेत मिलते थे। तुर्की के बोगजकोई नामक स्थान पर प्राप्त एक उत्कीर्ण लेख में इन्द्र, मित्रावरुणौ और नासत्यौ का उल्लेख है, जो वैदिक देवता हैं। इस लेख को १४०० ई० पू० का माना जाता है। अठारहवीं से बारहवीं सदी ईस्वी पूर्व तक बैबिलोनिया में जिस जाति का शासन था, वह शूरिश (सूर्य) और मर्युत्त (मरुत) की उपासिका थी। इसी प्रकार के अन्य अनेक तथ्यों का पता लगने पर पाश्चात्य विद्वानों के लिए यह आवश्यक हो गया, कि वे वैदिक संहिताओं के रचना काल को १२०० ई० पू० से अधिक पुराना प्रतिपादित करें। विंटरनित्ज़ ने वेदों के कतिपय भागों को २५०० ई० पू० के लगभग तक पुराना माना, और जैकोबी ने ४५०० ई० पू० के लगभग का।

भारतीय विद्वानों के मन्तव्य—पर आधुनिक युग के भारतीय विद्वानों ने वेदों के निर्माण काल का जिस ढंग से निरूपण किया है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण तथा युक्ति-संगत है। ज्योतिष तथा भूगर्भ-शास्त्र आदि विज्ञानों का सहारा लेकर इन विद्वानों ने वैदिक-साहित्य के रचना काल को पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित समय से बहुत अधिक पुराना माना है। ज्योतिष की गणना के आधार पर श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ ब्राह्मण का रचना काल ३००० ई. पू. के लगभग में प्रतिपादित किया है। इसके लिए उन्होंने शतपथ ब्राह्मण की ये कण्डिकाएँ प्रस्तुत की हैं—"एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वाऽअन्यानि नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिकास्तद्भूयानमेवैतदुपैति

तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ॥ एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते । सर्वाणि ह वाऽअन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते तत्प्राच्यामेवास्यैतद्दिश्याहितो भवतस्तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ।" (शतपथ ब्राह्मण २।१।२-३)

इन कण्डिकाओं में यह कहा गया है कि कृत्तिका नक्षत्र का उदय ठीक पूर्व दिशा से होता है। यह नक्षत्र पूर्व दिशा से विचलित नहीं होता, जबकि अन्य सब नक्षत्र पूर्व दिशा से हटकर उदय होते हैं, पूर्व दिशा से विचलित होते हैं। शतपथ के इस कथन से यह सूचित होता है कि इस ब्राह्मण ग्रन्थ की रचना उस समय में हुई थी, जबकि कृतिका नक्षत्र का उदय ठीक पूर्व दिशा में हुआ करता था। पर वर्तमान समय में कृतिका नक्षत्र ठीक पूर्व दिशा में उदित नहीं होता। वह कुछ उत्तर की ओर हट कर उदय होता है। दीक्षित जी ने ज्योतिष की गणना द्वारा यह प्रदर्शित किया है, कि वह समय जब कि कृतिका का उदय ठीक पूर्व दिशा में हुआ करता था, अब से ५००० वर्ष के लगभग पहले था। इसलिये शतपथ ब्राह्मण की रचना के समय को ३००० ईस्वी पूर्व के लगभग मानना उचित होगा। ऋग्वेद का काल इससे भी पहले होगा, यह तो स्पष्ट ही है, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थ वैदिक संहिताओं के बाद बने थे। दीक्षित जी ने ज्योतिष के अन्य भी अनेक प्रमाण दिए हैं, जिनसे वेदों की प्राचीनता सूचित होती है।

वेदों के काल निर्णय के सम्बन्ध में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने जिन युक्तियों व प्रमाणों का सहारा लिया है, वे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अनेक वैदिक सूक्तों[1] के आधार पर यह प्रतिपादित किया है, कि ऋग्वेद के समय में सूर्य के मृगशिरा नक्षत्र में उदय होने पर उत्तरायण एवं नव वर्ष का प्रारम्भ होता था। ज्योतिष की गणना के अनुसार ऐसा समय ४५८० ई. पू. में था, और तभी ऋग्वेद के बहुसंख्यक सूक्तों की रचना हुई थी।

श्री अविनाशचन्द्र दास ने वेदों के काल के निर्णय के लिए भूगर्भ-शास्त्र का आश्रय लिया है। उनके अनुसार ऋग्वेद की रचना के समय में आर्य लोग सप्तसिन्धु देश में निवास करते थे, और इस देश के पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में समुद्र था। सप्तसिन्धु देश की अन्यतम नदी सरस्वती उस समय पर्वत से निकल कर समुद्र में जा मिलती थी।[2] वर्तमान समय में सरस्वती नदी में जल नहीं है, और जिस मार्ग से वह पहले बहा करती थी, वह राजस्थान के रेगिस्तान में लुप्त हो गया है। जहाँ आज राजस्थान का मरुस्थल है, किसी प्राचीन समय में वहाँ समुद्र था, और सरस्वती नदी उसी में गिरा करती थी। ऋग्वेद में गंगा और यमुना का तो उल्लेख है,[3] पर उनके

१. ऋग्वेद १०।८६ और १।१६१
२. एका चेतत्सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आसमुद्रात्।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥ ऋग्वेद ७।९५।२
३. इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥ ऋग्वेद १०।७५।५

पूर्व की नदियों तथा उत्तरी भारत के मगध, अंग, बंग आदि प्राच्य जनपदों का इस वेद में उल्लेख नहीं है। ऋग्वेद के एक मन्त्र से पूर्व (पूर्वी) और अपर (पश्चिमी) समुद्रों की सत्ता सूचित होती है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के समय में आर्य लोग जिस सप्तसिन्धु देश में निवास करते थे, उत्तर, दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम में वह समुद्रों से घिरा हुआ था।[2] पूर्वी समुद्र से बंगाल की खाड़ी अभिप्रेत नहीं हो सकती, क्योंकि ऋग्वेद में न पूर्वी जनपदों का उल्लेख है और न गण्डक, सरयू आदि पूर्वी नदियों का। इसी प्रकार दक्षिणी भारत की भी किसी नदी, पर्वत या जनपद का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है। यह सम्भव भी नहीं था, क्योंकि उस समय यह क्षेत्र समुद्र से आवृत था। ऋग्वेद द्वारा सप्तसिन्धु देश के विषय में जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, वे भूगर्भशास्त्र द्वारा भी प्रमाणित हैं। इस विज्ञान द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है, कि किसी प्राचीन काल में भारत की भौगोलिक दशा वर्तमान से बहुत भिन्न थी। उस समय राजस्थान और पूर्वी भारत के प्रदेशों के स्थानों पर समुद्र था और एक अन्य समुद्र पामीर की पर्वतमाला के उत्तर में (आधुनिक तुर्किस्तान और मंगोलिया के क्षेत्र में) भी विद्यमान था। ऋग्वेद की रचना इन्हीं भौगोलिक दशाओं के समय में हुई थी। भूगर्भशास्त्र के अनुसार ये भौगोलिक दशाएं २५,००० वर्ष ईस्वी पूर्व में व उससे पहले थी। अतः ऋग्वेद को बने कम से कम २७,००० वर्ष हो चुके हैं, यह मानना युक्तिसंगत होगा। कतिपय अन्य भारतीय विद्वानों ने भी वैदिक संहिताओं के रचना काल को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। पर यह विषय इतना विवादग्रस्त है, कि अभी किसी भी मत को पूर्णतया स्वीकार्य समझ सकना कठिन है। अभी इस क्षेत्र में शोध की बहुत गुंजाइश है।

जिन भारतीय विद्वानों के मतों का हमने इस प्रकरण में ऊपर उल्लेख किया है, वे भी चारों वेदों को एक ही समय में बना हुआ नहीं मानते। लोकमान्य तिलक के अनुसार ऋग्वेद के बहुसंख्यक मन्त्रों की रचना ४००० से २५०० वर्ष ईस्वी पूर्व के समय में हुई थी, और अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण तथा ऋग्वेद के कतिपय भागों का रचना काल २५०० से १४०० ई० पू० तक था। कल्प वेदाङ्ग तथा कतिपय आरण्यकों और उपनिषदों की रचना इसके बाद में हुई, पर छठी सदी ई० पू० से पहले ही सम्पूर्ण वैदिक साहित्य अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर चुका था। चारों वेदों को जो एक ही समय में विरचित नहीं माना जाता, और ऋग्वेद के कतिपय भागों को जो मुख्य भाग की अपेक्षा बाद में बना हुआ समझा जाता है, इसके दो कारण हैं—(१) भाषा का भेद—समय के साथ-साथ भाषा विकसित हो जाती है और उसके व्याकरण में अन्तर आने लगता है। वेदों की भाषा में भी ऐसे भेद पाये

---

१. वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः।
उभौ समुद्रावाक्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥ ऋग्वेद १०।१३६।५

२. रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः।
आपवस्व सहस्रिणः॥ ऋग्वेद ९।३३।६

जाते हैं, जिनका विकास समय बीतने के साथ-साथ हुआ था। (२) वेदों के कतिपय सूक्तों में ऐसे स्थानों, जनपदों, नदियों और पर्वतों के नाम आये हैं, जिनसे आर्यों को बाद में परिचय हुआ था। इसी प्रकार उनमें कतिपय ऐसे राजाओं के नाम भी विद्यमान हैं, जिनका काल महाभारत युद्ध के समय में व उसके भी बाद में था। इसी कारण इन्हें बाद की रचना समझा जाता है।

यह माना जाता है कि ऋग्वेद के दसवें मण्डल की रचना अन्य मण्डलों की अपेक्षा बाद के समय में हुई थी। इस मण्डल में प्रयुक्त हुई भाषा में व्याकरण सम्बन्धी कतिपय ऐसे प्रयोग हैं, जिसका विकास बाद में हुआ था। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में अकारान्त शब्दों की प्रथमा विभक्ति में द्विवचन का प्रत्यय 'आ' है, जो "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया[1]" में सुपर्णा आदि में प्रयुक्त हुआ है। पर दसवें मण्डल में द्विवचन के लिए 'औ' प्रत्यय प्रयुक्त किया गया है, यथा "सूर्याचन्द्रमसौ धाता"[2] में। लौकिक संस्कृत में भी अकारान्त शब्दों के द्विवचन में 'औ' प्रत्यय ही लगता है। लौकिक संस्कृत वैदिक संस्कृत की तुलना में अर्वाचीन है। अतः यह मानना होगा, कि दसवें मण्डल में व्याकरण-सम्बन्धी जो ऐसे प्रयोग आये हैं जो पुरानी वैदिक संस्कृत से भिन्न और लौकिक संस्कृत के अनुरूप हैं, उसका कारण यही हो सकता है कि इस मण्डल की रचना बाद में हुई थी। भाषा के अतिरिक्त विषय की भिन्नता व नवीनता के आधार पर भी ऋग्वेद के दसवें मण्डल को बाद की रचना माना जाता है। उसमें कतिपय ऐसे देवताओं की सत्ता भी पायी जाती है, जो मानसिक भावनाओं के प्रतीक हैं—यथा श्रद्धा[3] और मन्यु।[4] इनकी स्तुति में या इनको लक्ष्य बनाकर अनेक सूक्त ऋग्वेद के दसवें मण्डल में विद्यमान हैं। ऋग्वेद मे अन्यत्र मानसिक भावनाओं के प्रतीक देवताओं की सत्ता नहीं है। दसवें मण्डल में अनेक ऐसे सूक्त भी हैं, जिनमें दार्शनिक चिन्तन का उत्कृष्ट व विकसित रूप दिखायी देता है। सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार था और प्रकृति अपने मूल अव्यक्त रूप में थी, किस प्रकार उसने व्यक्त रूप प्राप्त किया, और उसे इस रूप में लाने वाला कौन था—इसका अत्यन्त गम्भीर रूप से प्रतिपादन दसवें मण्डल के नासदीय सूक्त में किया गया है। दार्शनिक चिन्तन का यह विकसित रूप इसी मण्डल में पाया जाता है, जिसे दृष्टि में रखकर अनेक विद्वान् इस परिणाम पर पहुँचे है कि इसकी रचना बाद के समय में हुई थी।

ऋग्वेद की तुलना में अथर्ववेद को भी बाद का बना हुआ माना जाता है। इसका कारण जहाँ उसकी भाषा का विकसित रूप में होना है, वहाँ साथ ही उसमें ऐसे भौगोलिक स्थानो के उल्लेख का होना भी है, जहाँ आर्यों का प्रवेश बाद के समय में

---

१. ऋग्वेद १।१६४।२०

२. ऋग्वेद १०।१९०।३

३. ऋग्वेद १०।१५१

४. ऋग्वेद १०।८३ और १०।८४

हुआ था। ऐसे स्थानों या प्रदेशों में अङ्ग[1] और मगध के नाम उल्लेखनीय हैं।[2] ऋग्वेद के समय में आर्यों के जनपद सप्तसिन्धु देश तक ही सीमित थे। बाद में पूर्वी और दक्षिणी भारत में भी आर्यों का प्रसार हुआ। अथर्ववेद में अङ्ग और मगध का उल्लेख होने के कारण यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि इस वेद की रचना उस समय में हुई जबकि आर्य लोग पूर्वी भारत में बसना प्रारम्भ कर चुके थे।

आधुनिक विद्वानों के मत में चारों वेद एक ही समय में नहीं बने थे। विविध ऋषियों द्वारा समय-समय पर जिन मन्त्रों व सूक्तों की रचना होती रही, उन्हें बाद में महर्षि वेदव्यास ने संहिताओं के रूप में संकलित कर दिया। पर यह विश्वास-पूर्वक कहा जा सकता है कि वेदव्यास के समय तक वैदिक मन्त्रों की रचना पूर्ण हो चुकी थी, और उनके बाद किसी छन्दोबद्ध सूक्ति को वैदिक ऋचा या मन्त्र की स्थिति प्राप्त नहीं हुई। प्राचीन भारतीय अनुश्रुति के अनुसार वेदव्यास महाभारत के समय में हुए थे, और सम्भवतः पारीक्षित जनमेजय के समय तक जीवित रहे थे। इस दशा में, वेदों की रचना महाभारत के समय तक पूरी हो चुकी थी, यह स्वीकार करना होगा। महाभारत का समय कौन-सा माना जाए, इस सम्बन्ध में विविध मतों का संकेत इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। उसका समय ३१०२ ई० पू० था या १४०६ ई० पू०, में यही दो मत वर्तमान समय में मुख्य हैं। अतः वेदों के रचना-काल को १४०० ई० पू० के बाद का मानने का तो प्रश्न ही नहीं है। पर उनकी रचना इस काल से भी बहुत पहले प्रारम्भ हो चुकी थी, इस विषय में भी सन्देह की कोई गुञ्जाइश नहीं है। इस प्रसंग में यह निर्देश कर देना भी आवश्यक है कि नृतत्वशास्त्र और इतिहास के क्षेत्र में जो नई खोज पिछले वर्षों में हुई हैं, उन द्वारा मानव सभ्यता के आदियुग का समय बहुत प्राचीन प्रामाणित होता जा रहा है। साथ ही, वैदिक युग को भी अधिक प्राचीन प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति अब बढ़ रही है।

(३) ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों का रचना-काल

ब्राह्मण ग्रन्थों का एक प्रतिपाद्य विषय यह भी है, कि याज्ञिक कर्मकाण्ड में वेदमन्त्रों का विनियोग किस प्रकार किया जाए। अतः स्वाभाविक रूप से उनका रचना-काल वैदिक संहिताओं के बाद में होना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण ब्राह्मण-ग्रन्थों में बहुत पुराना है। उसका पाठ भी उसी ढंग से स्वरयुक्त है, जैसे कि वैदिक संहिताओं का है। इसी अध्याय में हमने शतपथ की दो कण्डिकाएँ उद्धृत की हैं, जिनमें कि कृत्तिका नक्षत्र ठीक पूर्व दिशा में उदित होता है, यह कहा गया है, और इस कथन के आधार पर श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने किस प्रकार इस ब्राह्मण-ग्रन्थ का रचना-काल से अब ५००० वर्ष के लगभग पूर्व प्रतिपादित किया है, यह हम लिख चुके हैं। प्राचीन भारतीय

---

१. गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि॥ अथर्ववेद ५।२२।१४

२. अथर्ववेद ५।२२।१४ और १५।२।५

मनुश्रुति के अनुसार महाभारत का भी यही काल था। इस समय तक वैदिक संहिताओं का निर्माण हो चुका था, और उनकी व्याख्या के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन भी प्रारम्भ हो गया था। आर्य जाति का प्रसार भारत के पूर्वी प्रदेशों में किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आख्यान शतपथ ब्राह्मण में दिया गया है। उसके अनुसार माथव विदेघ और उसके पुरोहित गौतम राहूगण जब सरस्वती नदी के तट पर थे, तो वैश्वानर अग्नि ने पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान करना प्रारम्भ किया। माथव विदेघ और गौतम राहूगण इस अग्नि के पीछे-पीछे चलते गए। मार्ग में जो भी नदियाँ पड़ीं, सबको अग्नि जलाती गई। पर उत्तर गिरि (हिमालय) से निकल कर बहने वाली सदानीरा नदी को अग्नि नहीं जला सकी। इस कारण पूर्व दिशा की ओर उसका अग्रसर होना रुक गया। यही कारण है, जो पुराने समयों में सदानीरा से पूर्व की ओर का प्रदेश ब्राह्मणों के निवास के अयोग्य था, क्योंकि वैश्वानर अग्नि ने उसका आस्वादन नहीं किया था।[1] उस समय ब्राह्मणों का निवास पूर्व में कोशल विदेह तक ही सीमित था। शतपथ ब्राह्मण का यह आख्यान एक ऐतिहासिक तथ्य को सूचित करता है। वैदिक युग में आर्यों का प्रधान केन्द्र सरस्वती नदी के क्षेत्र में था। बाद में उन्होंने पूर्व दिशा में जाकर बसना प्रारम्भ किया, और वहाँ के प्रदेशों को अग्नि से पवित्र कर निवास के योग्य बनाया। सदानीरा गण्डक नदी का प्राचीन नाम था। उसके पूर्व के प्रदेशों में बाद के काल में भी आर्य-भिन्न जातियों का बड़ी संख्या में निवास रहा। पर शतपथ के समय तक आर्य-लोग सदानीरा (गण्डक) के पार्श्ववर्ती प्रदेश में बस चुके थे, और विदेह नाम से उनका राज्य भी वहां स्थापित हो गया था। शतपथ में कुरु देश, पञ्चाल, कोशल, मत्स्य, काशी और सत्वत जनपदों का उल्लेख है, और अनेक राजाओं का भी जिनमें दौष्यन्ति भरत, धृतराष्ट्र और पारीक्षित जनमेजय इस ब्राह्मण के काल-निर्णय की दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं।[2] धृतराष्ट्र और जनमेजय के उल्लेख से यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि शतपथ की रचना महाभारत युद्ध के कुछ समय पश्चात् हुई थी। यदि महाभारत का समय ३१०२ ई० पू० में माना जाए, तो यही समय था, जबकि कृत्तिका नक्षत्र ठीक पूर्व दिशा में उदित होता था।

ऋग्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ ऐतरेय की जब रचना हुई, तब आर्यों का प्रधान केन्द्र 'मध्यमा दिशि' में था। इसी को बाद के समय में 'मध्य देश' कहा जाने लगा था। कुरु और पञ्चाल इस 'मध्यमा दिशि' में ध्रुव रूप से प्रतिष्ठित राज्य थे।[3] पर ऐतरेय के

---

१. "तर्हि विदेघो माथव आस। सरस्वत्यां स तत एव प्राङ्दहन्न भीयायेमां पृथिवीं तं गोतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथवः पश्चाद्दहन्तमन्वीयतुः स इमाः सर्वाः नदीरतिददाह सदानीरेत्युत्तराद्गिरेर्निर्धावति तां हैव नातिददाह तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनतिदग्धाग्निना वैश्वानरेणेति।" शतपथ १।४।४।१४

२. शतपथ ब्राह्मण १३।५।४

३. 'मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपञ्चालानां राजानः राज्यायैवतेऽभिषिच्यन्ते।'

समय में मगध सदृश प्राच्य प्रदेशों में भी आर्यों के राज्य स्थापित हो चुके थे, और वहाँ के राजा साम्राज्य विस्तार के लिए प्रयत्न करने के कारण सम्राट् के रूप में अभिषिक्त हुआ करते थे।[1] दक्षिण दिशा में तब सत्वतों का राज्य था, और प्रतीची (पश्चिम) दिशा के जनपदों में 'स्वाराज्य' प्रकार के शासनों की सत्ता थी।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में जिन भौगोलिक स्थानों का उल्लेख है, वे यह सूचित करने लिए पर्याप्त हैं कि इस ब्राह्मण-ग्रन्थ की रचना के समय तक आर्य लोग भारत के अनेक सुदूरवर्ती प्रदेशों में बस चुके थे। इसीलिए इसे शतपथ की अपेक्षा कुछ समय पश्चात् का बना हुआ माना जाता है।

ऋग्वेद के अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थ शांखायन ब्राह्मण के रचनाकाल के सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है। इस ब्राह्मण में लिखा है कि वाणी के प्रशिक्षण के लिए उत्तर दिशा में जाते हैं, और वहाँ से जो व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करके आते हैं उनका सत्कार किया जाता है।[3] इस कथन से सूचित होता है कि भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग या उत्तरी प्रदेश वाक्शास्त्र या व्याकरण के प्रशिक्षण के लिए बहुत प्रसिद्ध था। अन्य प्रदेशों के लोग वहां इसके अध्ययन के लिये जाया करते थे। प्राग्बौद्ध काल में तक्ष-शिला नगरी शिक्षाकेन्द्र के रूप में बहुत विख्यात थी, और पाणिनि मुनि भी उत्तर-पश्चिमी भारत के ही निवासी थे। कुरु, पञ्चाल और सरस्वती नदी के क्षेत्र की तुलना में इस प्रदेश की शिक्षाकेन्द्र के रूप में ख्याति पर्याप्त बाद के समय में हुई थी। इससे यह अनुमान किया जाता है कि शांखायन ब्राह्मण की रचना शतपथ और ऐतरेय की तुलना मे पीछे के काल में हुई थी।

ब्राह्मण ग्रन्थों मे गोपथ ब्राह्मण को बहुत बाद के काल की रचना माना जाता है। इस मे कुरु-पंचाल, अङ्ग-मगध, काशी-कोशल, साल्व-मत्स्य और वश-उशीनर आदि कितने ही जनपदों का उल्लेख है, जिससे यह परिणाम निकाला जाता है कि इस ब्राह्मण की रचना उस समय मे हुई थी जबकि आर्य लोग भारत के बड़े भाग को आबाद कर चुके थे। अन्य उपलब्ध ब्राह्मण-ग्रन्थों के रचनाकाल के पौर्वापर्य का निर्णय कर सकना सुगम नहीं है। हमारे पास कोई ऐसा ऐतिहासिक आधार नहीं है, जिससे इनकी रचना के काल को सुनिश्चित रूप से निर्धारित किया जा सके। अभी यही कहना पर्याप्त होगा कि वैदिक संहिताओं की रचना के कुछ सौ वर्षों बाद तक ब्राह्मण साहित्य का भी निर्माण हो गया था।

आरण्यकों और उपनिषदों की स्थिति प्रायः ब्राह्मण-ग्रन्थों के परिशिष्टों के समान है। कतिपय आरण्यक ब्राह्मणो के अन्तर्गत हैं, और कतिपय उपनिषदें आरण्यकों के। अतः इनका काल भी वही होना चाहिए, जो ब्राह्मणग्रन्थों का है। पर जो दो सौ से

---

१. ये के च प्राच्यानां दिशि प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते।
ऐतरेय ८।३।३

२. 'ये के च नीच्यानां राजानः स्वाराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते।' ऐतरेय ८।३।३

३. 'उदञ्च एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्, यो वै तत आगच्छति तं शुश्रूषन्ते।' ८।६

भी अधिक उपनिषदें इस समय उपलब्ध हैं, वे सब प्राचीन नहीं हैं। उनमें से कुछ की रचना ईस्वी सन् के भी बाद में हुई थी। पर केन, कठ, प्रश्न आदि जो प्राचीन उपनिषदें हैं उनके रचना-काल के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य लोकमान्य तिलक ने प्रस्तुत किया था, जिसका उल्लेख उपयोगी होगा। मैत्री या मैत्रायणीय उपनिषद् में सूर्य के दक्षिणायन से उत्तरायण जाने के समय नक्षत्रों की जो स्थिति वर्णित है, ज्योतिष की गणना के अनुसार वह १८८० ईस्वी पूर्व के लगभग की होनी चाहिए। अतः इस उपनिषद् का रचना-काल अब से प्रायः ३६००—३७०० वर्ष पहले मानना होगा। मैत्री उपनिषद् में मुण्डक, कठ और बृहदारण्यक आदि उपनिषदों के अनेक उद्धरण विद्यमान हैं। 'विद्वान् पापपुण्ये विधूय' मुण्डक उपनिषद् (३/१/३) का यह संदर्भ मैत्री उपनिषद् (६/१८) में भी विद्यमान है। ऐसे ही अन्य उपनिषदों के अनेक संदर्भ मैत्री उपनिषद् में निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। यदि मैत्री उपनिषद् का समय १८०० ईस्वी पूर्व के लगभग हो, तो मुण्डक, कठ और बृहदारण्यक आदि उपनिषदों का काल तो इससे भी पहले का होना चाहिए।

(४) वेदाङ्गों का रचना काल

शिक्षा, कल्प, व्याकरण आदि षड् वेदाङ्गों का निर्माण वेदों के अभिप्राय को भलीभांति समझने और धार्मिक कृत्यों के लिए वैदिक शिक्षाओं का प्रतिपादन करने के लिए हुआ था। अतः स्वाभाविक रूप से इस साहित्य का रचना-काल वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों के बाद का है। शिक्षा वेदाङ्ग का जो प्राचीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है, वह पाणिनीय शिक्षा या वर्णोच्चारणशिक्षा है। उसे पाणिनिकृत अथवा पाणिनि के प्राचीन शिक्षा ग्रन्थ के आधार पर विरचित माना जाता है। अतः उसका समय छठी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग ही हो सकता है। प्राचीन साहित्य में जिन अनेक पुराने आचार्यों द्वारा विरचित शिक्षाग्रन्थों का उल्लेख है, वे इस समय प्राप्त नहीं हैं।

वेदाङ्ग साहित्य के रचनाकाल के निर्धारण के सम्बन्ध में एक आधार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका निरूपण श्री शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने किया है। ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थ 'वेदाङ्ग ज्योतिष' में यह श्लोक आया है—

प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सर्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा॥

इसका अभिप्राय यह है कि सूर्य और चन्द्रमा श्रविष्ठा (नक्षत्र) के प्रारम्भ में उत्तर की ओर जाते हैं। आधे आश्लेषा में सूर्य का दक्षिणायन शुरू होता है। ये सदा क्रम से माघ और श्रावण में होते हैं। वेदाङ्ग ज्योतिष के इस श्लोक में वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है, और यह लिखा है कि श्रविष्ठा नक्षत्र के प्रारम्भ में सूर्य उत्तरायण की ओर जाता है। ज्योतिष की गणना के अनुसार वह समय जबकि श्रविष्ठा नक्षत्र के प्रारम्भ में सूर्य उत्तरायण की ओर जाता था, १४०० ईस्वी पूर्व के लगभग था। अतः वेदाङ्ग ज्योतिष का रचना-काल भी यही मानना उचित होगा।

व्याकरण वेदाङ्ग का जो सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है, वह पाणिनि की अष्टाध्यायी है। ऐतिहासिकों ने पाणिनि का समय छठी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग प्रतिपादित किया है। पाणिनि के व्याकरण से पूर्व भी ऐन्द्र आदि व्याकरणों की सत्ता थी, और अनेक ऐसे आचार्य हो चुके थे जिन्होंने कि व्याकरण वेदाङ्ग का विकास किया था। ये ग्रन्थ अवश्य ही वेदाङ्ग ज्योतिष के समान ही प्राचीन होंगे, यह अनुमान सर्वथा युक्तिसंगत है।

निरुक्त वेदाङ्ग का वर्तमान समय में उपलब्ध ग्रन्थ यास्क का निरुक्त है। यास्क का समय पाणिनि से पहले था यह निर्विवाद है, क्योंकि अष्टाध्यायी और गण-पाठ में न केवल यास्क और निरुक्त का ही, अपितु यास्क के निरुक्त में उद्धृत गार्ग्य, गालव और शाकटायन आदि नैरुक्तों का भी गणपाठ में उल्लेख है। महाभारत के शान्तिपर्व में 'अधोनष्ट' हुए निरुक्त शास्त्र को पुनः जागृत करने वाले ऋषि के रूप में यास्क का स्मरण किया गया है,[1] जिससे इस आचार्य और इन द्वारा विरचित निरुक्त की प्राचीनता का संकेत मिलता है। आग्रायण, औदुम्बरायण, गार्ग्य, शाकपूणि आदि जिन अठारह नैरुक्तों का यास्क के निरुक्त में उल्लेख मिलता है, उनका समय तो और भी अधिक प्राचीन है। वेदाङ्ग ज्योतिष के समान निरुक्त वेदाङ्ग के ग्रन्थों की रचना भी १४०० ईस्वी पूर्व के लगभग प्रारम्भ हो गई होगी, यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं है।

छन्द वेदाङ्ग का उपलब्ध ग्रन्थ 'छन्दःसूत्र' है जिसके रचयिता आचार्य पिङ्गल थे। कात्यायन कृत ऋक्सर्वानुक्रमणी के वृत्तिकार ने इन्हें पाणिनि का अनुज लिखा है। इससे सूचित होता है कि छन्दःसूत्र की रचना छठी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग हुई थी, यद्यपि इस वेदाङ्ग के भी अनेक ग्रन्थ इससे पहले लिखे जा चुके थे।

वेदाङ्ग साहित्य में कल्प (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र) का बहुत महत्त्व है। इन सूत्रग्रन्थों का निर्माण ब्राह्मण-ग्रन्थों के पश्चात् हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसके रचयिता शौनक, आश्वलायन, पारस्कर, बौधायन, आपस्तम्ब, वैखानस, भारद्वाज, हिरण्यकेशी, वशिष्ठ, और गौतम आदि आचार्य थे। इन सूत्रग्रन्थों की रचना यास्क और पाणिनि से पहले ही प्रारम्भ हो चुकी थी, यह इस बात से सूचित होता है कि निरुक्त में धर्मसूत्रों के मत का उल्लेख मिलता है,[2] और अष्टाध्यायी में कतिपय कल्पसूत्रकारों का उल्लेख विद्यमान है।[3] पाणिनि से पहले ही भारत में सूत्रों की शैली को अपनाकर विषय को प्रतिपादित करने की परम्परा प्रारम्भ हो चुकी थी, जो नन्द,

---

१. यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान् ।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरोह्यहम् ।
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्कऋषिरुदारधीः ।
यत्प्रसादादधोनष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥ महाभारत शान्तिपर्व ३४२।७२-७३

२. अथैतां जाम्यां रिक्थप्रतिषेधमुदाहरन्ति ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके ।

३. 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' अष्टाध्यायी ४।३।१०५

मौर्य और शुङ्ग युगों तथा उनके बाद भी जारी रही। वर्तमान समय में जो सूत्रग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे सब बहुत प्राचीन नहीं हैं। इनमें से कतिपय को तो शुङ्गकाल का भी माना जाता है। यद्यपि बहुसंख्यक विद्वान् सूत्रग्रन्थों की रचना का काल ७०० ईस्वी पूर्व से २०० ईस्वी पूर्व तक मानते हैं, पर श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने बोधायन श्रौतसूत्र में निर्दिष्ट नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर उसका काल १३०० ईस्वी पूर्व के लगभग प्रतिपादित किया है। कल्प वेदाङ्ग के विपुल साहित्य का निर्माण एक ही समय में नहीं हुआ, अपितु अनेक सदियों तक होता रहा, यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है। उनकी रचना ब्राह्मण-ग्रन्थों के बाद प्रारम्भ हुई थी, यह भी स्पष्ट है।

पाँचवाँ अध्याय

सिन्धु घाटी की सभ्यता और वैदिक आर्य तथा दस्यु व दास जाति

(१) सिन्धु घाटी की सभ्यता

भारत के प्राचीनतम इतिहास को जानने के लिए जहाँ वैदिक साहित्य एक महत्त्वपूर्ण साधन है, वहाँ पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज द्वारा भी प्राचीन युग के जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार मानव सभ्यता का विकास धीरे-धीरे हुआ है। शुरू में जब मनुष्य पृथ्वी पर प्रकट हुआ, तो उसमें और अन्य चौपायों में बहुत भेद नहीं था। अन्य पशुओं के समान वह भी जंगल में रहता था और शिकार द्वारा अपना भोजन प्राप्त करता था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उस समय मनुष्य आर्थिक उत्पादन नहीं करता था, अपितु प्रकृति द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं पर ही निर्भर रहता था। पर मनुष्य के पास बुद्धि नामक एक ऐसी वस्तु थी जो अन्य पशुओं के पास नहीं थी। इसका उपयोग कर मनुष्य ने अनेक प्रकार के औजार बनाने प्रारम्भ किये, और वह शिकार के लिए उनका प्रयोग करने लगा। शुरू में मनुष्य के ये औजार पत्थर, हड्डी और लकड़ी के बने होते थे। धातुओं का उपयोग वह नहीं जानता था। इसीलिए मानव सभ्यता के इस प्रारम्भिक काल को 'प्रस्तर युग' कहा जाता है। पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज द्वारा भारत में भी प्रस्तर युग के अवशेष अनेक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। वैदिक साहित्य द्वारा भारत की जिस प्राचीन सभ्यता का परिचय मिलता है, वह बहुत उन्नत थी। वैदिक युग का भारतवासी प्रस्तर युग से बहुत अधिक आगे बढ़ चुका था। वह धातुओं का प्रयोग करता था, खेती और पशु-पालन द्वारा भोजन की आवश्यकताओं को पूर्ण करता था, शिल्प उद्योग तथा व्यापार उसके आर्थिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग थे, और वह ग्रामों तथा नगरों में निवास करने लगा था। प्रस्तर युग के मनुष्य की तुलना में वह बहुत अधिक उन्नत तथा सभ्य था। प्रस्तर युग के जो बहुत-से अवशेष भारत के विविध स्थानों पर मिले हैं, वे किन लोगों के हैं, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। पर सभी यह स्वीकार करते हैं, कि ये अवशेष आर्य जाति के नहीं हैं। आर्यों से पूर्व भारत के अनेक प्रदेशों में कतिपय आर्यभिन्न जातियों का निवास था, जिनके उत्तराधिकारी या वंशज आज भी मुण्ड, शाबर, खासी आदि लोगों के रूप में विद्यमान हैं। वर्तमान समय में भी ये सभ्यता के क्षेत्र में पिछड़े हुए हैं। प्रस्तर युग के अवशेष इन लोगों के पूर्वजों के थे; यह कल्पना सर्वथा असंगत नहीं कही जा सकती।

प्रस्तर युग भी अनेक युगों में विभक्त था—पुरातन प्रस्तर युग, मध्य प्रस्तर युग और नूतन प्रस्तर युग। इनकी सभ्यताओं में भी बहुत अन्तर था। नूतन प्रस्तर युग का मनुष्य सभ्यता के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति कर चुका था। कृषि और पशुपालन के अतिरिक्त वह अनेक प्रकार के शिल्पों का भी अनुसरण करने लगा था, और अपने निवास के लिए सुन्दर भवनों का भी निर्माण करने लग गया था। भारत में नूतन प्रस्तर युग की सभ्यता के अवशेष भी अनेक स्थानों से उपलब्ध हुए हैं। पर पुरातत्त्व विभाग के प्रयत्न से भारत की जो एक उन्नत एवं महत्त्वपूर्ण सभ्यता प्रकाश में आयी है, उसे 'सिन्धुघाटी की सभ्यता' कहते हैं। शुरू में इस सभ्यता की सत्ता सिन्धु नदी के क्षेत्र से ही ज्ञात हुई थी और इसी कारण इसे 'सिन्धु घाटी की सभ्यता' कहा जाने लगा था। पर अब इसके अवशेष पंजाब, गंगा-यमुना की घाटी, राजस्थान, गुजरात, काठियावाड़ आदि के सुविशाल क्षेत्र से उपलब्ध हो गए हैं, जिसके कारण यह समझा जाने लगा है कि भारत के बहुत बड़े भाग में किसी प्राचीन काल में इसी सभ्यता की सत्ता थी। इस सभ्यता का विकास किन लोगों ने किया था, यह विषय अभी विवादग्रस्त है। पाश्चात्य विद्वानों का यह मत रहा है, कि यह सभ्यता आर्य जाति के भारत में प्रकट होने से पूर्व विद्यमान थी, और आर्यों ने इसे नष्ट कर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। पर कतिपय भारतीयों ने यह प्रतिपादित किया है, कि सिन्धु घाटी की सभ्यता वैदिक आर्यों की ही थी। वैदिक आर्यों से इस सभ्यता का सम्बन्ध था, इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व यह उपयोगी होगा कि सिन्धुघाटी की इस प्राचीन सभ्यता का संक्षिप्त रूप से परिचय दे दिया जाए। इस सभ्यता के प्राचीन नगर उन स्थानों पर थे, जहाँ आजकल हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के खेड़े हैं। हड़प्पा पंजाब (पाकिस्तान) में लाहौर से १०० मील दक्षिण-पश्चिम में है, और मोहनजोदड़ो कराची से २०० मील उत्तर में सिन्धु नदी के तट पर स्थित है।

खोज का प्रारम्भ और सिन्धु-सभ्यता का काल—सिन्ध नदी की घाटी में विद्यमान इस प्राचीन सभ्यता को खोज निकालने का श्रेय श्री राखालदास बैनर्जी और रायबहादुर श्री दयाराम साहनी को है। इन विद्वानों ने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के विशाल खेड़ों के नीचे दबे हुए प्राचीन भग्नावशेषों का पता लगाया और इनके विवरणों के कारण अन्य विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। १९२१ ई० से शुरू करके अब तक इन खेड़ों तथा सिन्धु-सभ्यता की अन्य बस्तियों की जो खुदाई हुई है, उससे एक समृद्ध सभ्यता की सत्ता प्रमाणित होती है। इस सभ्यता के काल के सम्बन्ध में अभी विद्वानों में एकमत नहीं हो सका है। पर इस बात से सब विद्वान् सहमत हैं, कि सिन्धु-घाटी की यह सभ्यता ईस्वी सन् के प्रारम्भ से तीन हजार साल के लगभग पुरानी है। पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज के कारण सिन्धु-सभ्यता के सम्बन्ध में अब इतनी अधिक बातें ज्ञात हो चुकी हैं, कि हम इस सभ्यता के लोगों के जीवन का स्पष्ट और विशद चित्र अपने सम्मुख ला सकते हैं।

नगरों की रचना और भवन निर्माण—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो खुदाई हुई है, उससे ज्ञात होता है, कि इन नगरों की रचना एक निश्चित योजना के अनुसार

की गई थी। मोहनजोदड़ो में जो भी सड़कें हैं, वे या तो उत्तर से दक्षिण की ओर सीधी रेखा में जाती हैं, और या पूर्व से पश्चिम में। ये सड़कें चौड़ाई में भी बहुत अधिक हैं। नगर की प्रधान सड़क तेंतीस फिट चौड़ी है, और यह नगर के ठीक बीच में उत्तर से दक्षिण की ओर चली गई है। सड़क का तेंतीस फिट चौड़ा होना इस बात को सूचित करता है, कि इसका उपयोग गाड़ियों के लिए होता था, और इस पर अनेक गाड़ियाँ एक साथ आ-जा सकती थीं। इस प्रधान मार्ग को काटती हुई जो सड़क पूर्व से पश्चिम की ओर गई है, वह इससे भी अधिक चौड़ी है, और यह भी नगर के ठीक बीच में है। इन दो (पूर्व से पश्चिम की ओर व उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाली) सड़कों के समानान्तर जो अन्य अनेक सड़कें हैं, वे भी चौड़ाई में बहुत पर्याप्त हैं। ये अन्य सड़कें नौ फिट से अठारह फिट तक चौड़ी हैं। सड़कों को मिलाने वाली गलियों की चौड़ाई भी कम नहीं है। कम-से-कम चौड़ी गली चार फिट के लगभग है।

सड़कों और गलियों के दोनों ओर मकानों का निर्माण किया गया था। इन मकानों की दीवारें अबतक भी भग्न रूप में विद्यमान हैं। खेड़े की खुदाई द्वारा सड़कों और गलियों के साथ-साथ मकानों की जो दीवारें मिली हैं, कहीं-कहीं उनकी ऊँचाई पच्चीस फिट तक पहुँच गई है। इससे सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि मोहनजोदड़ो के मकान ऊँचे व विशाल थे, और जिस समय यह नगर अपने अविकल रूप में विद्यमान होगा, तो ऊँचे-ऊँचे मकानों की ये पंक्तियाँ बहुत ही भव्य प्रतीत होती होंगी।

खुदाई के द्वारा हड़प्पा नगर का जो चित्र सामने आता है, वह मोहनजोदड़ो के समान ही एक निश्चित योजना के अनुसार बना था। सड़कों का सीधा होना और उनके साथ-साथ मकानों का एक निश्चित क्रम के अनुसार बनाया जाना इस बात का प्रमाण है, कि उस युग में नगर की व्यवस्था करने के लिए कोई ऐसा संगठन अवश्य विद्यमान था, जिसके आदेशों का सब लोग पालन करते थे।

शहर के गन्दे पानी को नालियों द्वारा बाहर ले जाने का सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में बहुत उत्तम प्रबन्ध था। मकानों के स्नानागारों, रसोइयों और टट्टियों का पानी नालियों द्वारा बाहर आता था, और वह शहर की बड़ी नाली में मिल जाता था। प्रत्येक गली व सड़क के साथ-साथ पानी निकलने के लिए नाली बनी हुई थी। सड़कों के साथ की नालियाँ प्रायः नौ इंच चौड़ी और बारह इंच गहरी होती थीं। गलियों के साथ की नालियाँ इनकी अपेक्षा छोटी होती थीं। नालियों का निर्माण पक्की ईंटों से किया गया था, और उन्हें परस्पर जोड़ने के लिए मिट्टी-मिले चूने का प्रयोग किया गया था। नालियों को ढकने के लिए ईंटें प्रयुक्त होती थीं, जिन्हें ऊपर की सतह से कुछ इंच नीचे जमा कर रखा जाता था। इस प्रकार की खुली ईंटों से ढकने का लाभ यह था, कि आवश्यकता पड़ने पर नाली को सुगमता के साथ साफ किया जा सकता था। अधिक चौड़ी नालियों को ढकने के लिए पत्थर की शिलाएँ भी प्रयुक्त की जाती थीं। मकानों से बाहर निकलने वाले गन्दे पानी के लिए मिट्टी के पाइप भी प्रयोग में लाये जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के नगरों के मकान प्रायः दो मंजिले या और

भी अधिक मंजिलों वाले होते थे। अतः यह आवश्यक था, कि ऊपर की मंजिलों से गिरने वाले पानी को ढकने का प्रबन्ध किया जाय, ताकि गलियों में चलने वाले लोगों पर पानी के छींटे न पड़ें। इस उद्देश्य से मिट्टी को पकाकर बनाये गए पाइप प्रयोग किए जाते थे। मकानों के बाहर प्रायः चौबच्चे भी बना दिए जाते थे, ताकि मकान का गन्दा पानी पहले इनमें एकत्र हो, और उसकी गन्द नीचे बैठ जाय, केवल पानी ही बाहर की नालियों में जाने पाए। सम्भवतः, इन चौबच्चों को साफ करने और उनके गन्द को एकत्र कर शहर से बाहर फेंकने की व्यवस्था भी सिन्धु-सभ्यता के नगरों में विद्यमान थी। शहर की कुछ नालियाँ बहुत बड़ी (मनुष्य के बराबर ऊँचाई वाली) भी होती थीं। गलियों और सड़कों के साथ-साथ विद्यमान नालियों से आकर जब बहुत-सा पानी एकत्र होकर चलता था, तो उसे शहर से बाहर ले जाने के लिए इन विशाल नालियों की आवश्यकता होती थी। इन नालियों में कहीं-कहीं सीढ़ियाँ भी बनायी गई थीं, ताकि उनसे उतर कर नाली को भलीभाँति साफ किया जा सके। सम्भवतः, ये बड़ी नालियाँ वर्षा के पानी को बाहर निकालने के लिए भी उपयोगी थीं। उस युग में सिन्धु-घाटी में अबकी अपेक्षा बहुत अधिक वर्षा होती थी। इसी कारण ऐसी विशाल नालियों को बनाने की आवश्यकता हुई थी, जो कि गहराई में पाँच फिट और चौड़ाई में ढाई फिट के लगभग थीं। इसमें सन्देह नहीं, कि वर्षा के या मकानों के गन्दे पानी को शहर से बाहर ले जाने की जो उत्तम व्यवस्था सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में विद्यमान थी, वह प्राचीन संसार के अन्य किसी नगर में नहीं पायी जाती।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में पानी के लिए कुएँ विद्यमान थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में बहुत-से ऐसे कुएँ मिले हैं, जो चौड़ाई में दो फिट से लगाकर सात फिट तक हैं। इन कुओं के किनारे पर रस्सी के निशान अब तक विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि बहुत-से मकानों में अपने निजी कुएँ विद्यमान थे, और कुछ बड़े कुएँ ऐसे थे, जिनसे सर्वसाधारण जनता पानी खींच सकती थी। कुओं के अतिरिक्त जल प्राप्ति का कोई अन्य साधन भी इन नगरों में था, इस बात का कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई द्वारा उन मकानों के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ ज्ञान उपलब्ध होता है, जिनमें सिन्धु-सभ्यता के नागरिक निवास करते थे। इन मकानों के निर्माण के लिए पक्की ईंटों का प्रयोग किया था। ईंटें अनेक आकारों की होती थीं। छोटी ईंटों का आकार १०¼ × ५ × २¾ इंच होता था। बड़ी ईंटों का आकार २०¼ × ८¾ × २¼ इंच था। सम्भवतः ये बड़ी ईंटें विशेष कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थीं। सिन्धु-सभ्यता के मकानों के निर्माण के लिए जिन ईंटों का प्रयोग बाहुल्य के साथ हुआ है, उनका आकार १०¼ × ५ × २¾ इंच ही था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की ये प्राचीन ईंटें बहुत मजबूत, पक्की और रंग में लाल हैं। हजारों साल बीत जाने पर भी ये उत्तम दशा में हैं। ईंटों को पकाने के लिए लकड़ी प्रयुक्त होती थी। शहर के बाहर ईंटों के पकाने के लिए बड़े-बड़े पजावे उस युग में विद्यमान

रहे होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। दीवार में ईंटों को जोड़ने के लिए मिट्टी का गारा प्रयुक्त होता था, पर अधिक मजबूती के लिए कभी-कभी मिट्टी में चूना भी मिला लिया जाता था।

मोहनजोदड़ो के छोटे मकानों का आकार प्रायः २६×३० फीट होता था। पर बहुत से ऐसे मकान भी थे, जो आकार में इसकी अपेक्षा दुगुने व और भी अधिक बड़े थे। प्रायः मकान दोमंजिले होते थे। मोहनजोदड़ो में उपलब्ध दीवारों की मोटाई इस बात को सूचित करती है, कि वहाँ के मकान कई मंजिल ऊँचे रहे होंगे। जो दीवारें २५ फीट के लगभग ऊँची मिली हैं, इनमें अभी तक वे छेद विद्यमान हैं, जिनमें शहतीरें लगाकर दूसरी मंजिल का फर्श बनाया गया था। इस युग में छत बनाने की यह पद्धति थी, कि पहले शहतीरें डाली जाती थीं, फिर उन पर बल्लियाँ डालकर एक मजबूत चटाई बिछा दी जाती थी। इसके ऊपर मिट्टी बिछाकर उसे भलीभाँति कूट कर पक्का कर दिया जाता था। भारत में अब भी अनेक स्थानों पर छतें इसी ढंग से बनायी जाती हैं। निचली मंजिल से उपरली मंजिल पर जाने के लिए सीढ़ियाँ थीं, जो पत्थर और लकडी से बनायी जाती थीं। मोहनजोदडो से उपलब्ध बहुत-सी सीढ़ियों की पौड़ियाँ १५ इंच ऊँची और ५ इंच चौड़ी हैं। पर कुछ ऐसी इमारतें भी थीं, जिनकी सीढियाँ बहुत चौड़ी और सुविधाजनक थीं। एक विशाल भवन में ऐसी सीढ़ी भी मिली है, जिसकी पौड़ियाँ ऊँचाई में २$\frac{1}{2}$ इंच और चौड़ाई में ८$\frac{1}{2}$ इंच है। कमरों के दरवाजे अनेक आकार के होते थे। छोटे मकानों में प्रायः दरवाजे की चौड़ाई ३ फीट ४ इंच थी। पर कुछ ऐसे दरवाजों के अवशेष भी मिले हैं, जिनमें से बोझ से लदे हुए पशु, बैलगाड़ियाँ व रथ भी आ-जा सकते थे। कमरों में दीवारों के साथ आलमारियाँ बनाने की भी प्रथा थी। आलमारी दीवार में ही बना ली जाती थी। इस युग में खूँटियों व चटखनियों आदि का भी प्रयोग होता था। हड्डी और शंख के बने हुए इस प्रकार के अनेक उपकरण मोहनजोदड़ो के अवशेषों में उपलब्ध हुए हैं। सम्भवतः, उस समय फर्नीचर का भी प्रयोग होता था। मोहनजोदड़ो में प्राप्त एक मुद्रा पर एक स्टूल (चौकी) का चित्र अंकित है। खेद की बात है, कि सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों के भग्नावशेषों से अब तक किसी पलंग, मेज, कुर्सी, चौकी आदि का कोई खण्ड नहीं मिला है, जिससे कि इस सम्बन्ध में अधिक प्रकाश डाला जा सके।

मकानों के बीच में प्रायः सहन (आँगन) भी होता था, जिसके एक कोने में रसोईघर बनाया जाता था। मोहनजोदड़ो में कुछ रसोईघर मिले हैं, जिनके चूल्हे अबतक विद्यमान हैं। ये चूल्हे ईंटों द्वारा बनाये गये हैं। भारत में अब तक भी इस प्रकार के चूल्हे बड़ी संख्या में प्रयुक्त होते हैं। स्नानागार प्रत्येक मकान का एक आवश्यक अंग होता था। यह न केवल स्नान के काम में आता था, अपितु, इसमें पानी भी संचित रहता था। पानी को रखने के लिए मिट्टी के बने हुए घड़े और मटके प्रयोग में आते थे। स्नानागार के समीप ही अनेक मकानों में टट्टी (शौचालय) के अवशेष भी मिले हैं। स्नानागार के फर्श पक्की ईंटों से बनाये जाते थे, और उन्हें चिकना

व साफ रखने का विशेष रूप से उद्योग किया जाता था। स्नानागार का कमरा आकार में प्राय चौकोर होता था।

मोहनजोदड़ो की खुदाई से जहाँ छोटे मकानों के बहुत-से अवशेष मिले हैं, वहाँ साथ ही विशाल इमारतों के अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं। शहर के उत्तरी भाग में मध्यवर्ती (पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाली) सड़क के साथ एक विशाल इमारत के खण्डहर विद्यमान हैं, जो लम्बाई में २४२ फीट और चौड़ाई में ११२ फीट थी। इस इमारत की बाहरी दीवार मोटाई में ५ फीट है। इससे सूचित होता है, कि यह इमारत कई मंजिल ऊँची थीं। इस इमारत के समीप ही एक अन्य विशाल प्रासाद के खण्डहर मिले हैं, जो लम्बाई में २२० फीट और चौड़ाई में ११५ फीट था। इसकी बाहरी दीवार ५ फीट से भी अधिक मोटी है। सम्भवतः, यह विशाल इमारत एक भव्य प्रासाद थी। विशाल आकार की इमारतों के अन्य भी अनेक अवशेष मिले हैं। ये इमारतें या तो शासक वर्ग के साथ सम्बन्ध रखती हैं, या अत्यन्त समृद्ध व वैभवशाली व्यापारी वर्ग की सत्ता को सूचित करती हैं।

मोहनजोदड़ो के अवशेषों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एक विशाल जलाशय है, जो ३९½ फीट लम्बा, २३⅓ चौड़ा और ८ फीट गहरा है। यह जलाशय पक्की ईंटों से बना है, और इसकी दीवारें बहुत मजबूत हैं। इसमें अन्दर जाने के लिए पक्की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। जलाशय के चारों ओर एक गैलरी बनी हुई है, जो १५ फीट चौड़ी है। इसके साथ ही जलाशय के दक्षिण-पश्चिम की ओर आठ स्नानागार बने हैं। इन स्नानागारों में सीढ़ियों के अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं, जिनसे सूचित होता है, कि इनके ऊपर भी और कमरे थे। अनुमान किया गया है, कि ये ऊपर के कमरे निवास के काम में आते थे, और उन तक पहुँचने का रास्ता स्नानागारों से होकर जाता था। सम्भवतः, इनमें पुरोहित लोग निवास करते थे, क्योंकि इस जलाशय का उपयोग किसी विशिष्ट धार्मिक प्रयोजन से ही होता था। जलाशय के समीप ही एक कुआँ भी था, जिसके जल से शायद इस जलाशय को पूर्ण किया जाता था। जलाशय को पानी से भरने व उसके गन्दे जल को निकालने के लिए जो नल थे, उनके भग्नावशेष भी इस समय उपलब्ध हुए हैं। इस जलाशय के समीप ही एक अन्य इमारत है, जिसे हम्माम समझा जाता है। सम्भवतः, यहाँ पानी को गरम करने का प्रबन्ध था।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों के चारों ओर परिखा और प्राकार के भी अवशेष मिले हैं। यह स्वाभाविक है, कि इन विशाल नगरों की रक्षा के लिए इन्हें दुर्गरूप में बनाया गया हो। इन नगरों का क्षेत्रफल एक वर्गमील से भी अधिक है। एक वर्गमील के विस्तृत क्षेत्र में ये समृद्ध नगर दुर्ग की चहारदीवारी से घिरे हुए विद्यमान थे। यह सहज में ही समझा जा सकता है, कि दुर्ग के बाहर भी अनेक छोटे-बड़े गाँव रहे होंगे, जो नगर-निवासियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करते होंगे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के छोटे-बड़े घरों में जो हजारों स्त्री-पुरुष निवास करते थे, वे अपनी भोजन-सामग्री बाहर से ही प्राप्त करते होंगे। इसके लिए यह आवश्यक था, कि नगरों

के समीपवर्ती प्रदेशों में बहुत से ग्राम विद्यमान हों। पर इन ग्रामों के कोई भग्नावशेष अभी तक नहीं मिल सके हैं।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में दुकानों के भी अनेक अवशेष मिले हैं। सड़कों और गलियों के दोनों ओर अनेक ऐसे भवनों के खण्डहर प्राप्त हुए हैं, जो सम्भवतः दुकानों के रूप में प्रयुक्त होते थे। कुछ ऐसी विशाल इमारतें भी मिली हैं जिनको विद्वानों ने ऐसे बड़े व्यापार-भण्डार माना है, जिनमें व्यापारी लोग अपने माल को लाकर जमा करते थे, और जहाँ वे उसका विक्रय किया करते थे।

धर्म—सिन्धु-सभ्यता के लोगों के धार्मिक विश्वास क्या थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में कोई ऐसी इमारतें नहीं मिली हैं, जिन्हें निश्चित रूप से मन्दिर या धर्म-स्थान माना जा सके। सम्भवतः, इन नगरों में बहुत-से छोटे-छोटे मन्दिर थे, जिनके खण्डहर अन्य मकानों से पृथक् नहीं किए जा सकते। मोहनजोदड़ो के मुख्य खेड़े के समीप ही एक बौद्ध स्तूप है, जो स्वयं भी एक प्राचीन खेड़े के ऊपर बना हुआ है। पुरातत्त्व-विभाग ने इस स्तूप को गिराकर नीचे गड़े हुए प्राचीन भग्नावशेषों की खुदाई नहीं की है। फिर भी इस स्तूप के चारों ओर के स्थान से जो बहुत-से अवशेष मिले हैं, उनसे सूचित होता है, कि इसके नीचे किसी विशाल इमारत के खण्डहर दबे हुए हैं। अनेक विद्वानों का विचार है, कि यह विशाल इमारत किसी मन्दिर की है, जिसे सिन्धु-सभ्यता के निवासी पूजास्थान के रूप में प्रयुक्त करते थे। जो जगह एक समय में पवित्र मानी जाती है, उसे बाद के लोग भी पवित्र मानते रहते हैं। बौद्धों ने इस जगह पर अपना स्तूप इसीलिए खड़ा किया था, क्योंकि पूर्ववर्ती समय में भी यह स्थान पूजापाठ के काम में आता था। जिस जलाशय का हमने ऊपर उल्लेख किया है, वह भी इस स्थान के समीप ही है। सम्भवतः, बौद्ध-स्तूप के नीचे दबी हुई विशाल इमारत मोहनजोदड़ो का प्रधान मन्दिर थी, और इस प्राचीन नगर के निवासी वहाँ पूजा-पाठ के लिए एकत्र होते थे।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में कुछ वस्तुएँ ऐसी मिली हैं, जिनके आधार पर हम सिन्धु-सभ्यता के लोगों के धर्म के विषय में कुछ उपयोगी बातें जान सकते हैं। ये वस्तुएँ मुद्राएँ (मुद्राङ्क) और धातु पत्थर तथा मिट्टी की बनी हुई मूर्तियाँ हैं। पत्थर की बनी मूर्तियों में सबसे अधिक महत्त्व की वह मूर्ति है, जो कमर के नीचे से टूटी हुई है, और केवल ७ इन्च ऊँची है। अपनी अविकल दशा में यह मूर्ति अधिक बड़ी होगी, इसमें सन्देह नहीं। इस मूर्ति में एक मनुष्य को एक ऐसा चोगा पहने हुए दिखाया गया है, जो बायें कन्धे के ऊपर और दायीं भुजा के नीचे से होकर गया है। चोगे के ऊपर तीन हिस्से वाली पुष्पाकृति बनी हुई है। सम्भवतः, यह पुष्पाकृति धार्मिक चिन्ह की द्योतक थी, क्योंकि इस प्रकार के चिन्ह मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में बहुलता से उपलब्ध हैं। मूर्ति के पुरुष की मूँछें मुँडी हुई हैं, यद्यपि दाढ़ी विद्यमान है। प्राचीन सुमेरिया में उपलब्ध अनेक दैवी और मानुषी मूर्तियों में भी इसी प्रकार से मूँछें मुँडी हुई और दाढ़ी पायी जाती है। मूर्ति में आँखें मुँदी हुई व ध्यानमग्न दिखायी

गई है। मूर्ति की ध्यान-मुद्रा से प्रतीत होता है, कि इसे योगदशा में बनाया गया है। इस बात से प्रायः सब विद्वान् सहमत हैं, कि सिन्धु-सभ्यता की यह मूर्ति किसी देवता की है, और इसका सम्बन्ध वहाँ के धर्म के साथ है।

पत्थर से बनी इस दैवी मूर्ति के अतिरिक्त मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में मिट्टी की भी बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें से एक प्रकार की स्त्री-मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि ऐसी मूर्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। यह स्त्री मूर्ति प्रायः नग्न दशा में बनायी गई है, यद्यपि कमर के नीचे जाँघों तक एक प्रकार कपड़ा भी प्रदर्शित किया गया है। मूर्ति पर बहुत-से आभूषण अंकित किये गये हैं, और सिर की टोपी पंखे के आकार की बनायी गई है, जिसके दोनों ओर दो प्याले या दीपक हैं। ऐसी अनेक स्त्री-मूर्तियों के दीपिकों के बीच में धूम्र के निशान हैं, जिनसे यह सूचित होता है, कि इनमें तेल या धूप जलायी जाती थी। धूम्र की सत्ता इस बात का प्रमाण है, कि ये स्त्री-मूर्तियाँ पूजा के काम में आती थीं। संसार की प्रायः सभी सभ्यताओं में मातृ-देवता की पूजा की प्रथा विद्यमान थी। सिन्धु-सभ्यता में यदि लोग मातृ-देवता की पूजा करें, और उसकी मूर्ति के दोनों पार्श्वों में दीपक जलायें, तो यह स्वाभाविक ही था।

मातृ-देवता की मूर्तियों के अतिरिक्त मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में अनेक पुरुष-मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिन्हें नग्न रूप में बनाया गया है। अनेक प्राचीन सभ्यताओं में लोग त्रिमूर्ति की उपासना किया करते थे। मातृ-देवता, पुरुष और बालक —ये इस त्रिमूर्ति के तीन अंग होते थे। सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में बालक-देवता की कोई मूर्ति नहीं मिली है। अतः यह कल्पना तो नहीं की जा सकती, कि अन्य प्राचीन सभ्यताओं के समान यहाँ भी त्रिमूर्ति की उपासना प्रचलित थी, पर पुरुष-मूर्तियों की सत्ता इस बात को अवश्य सूचित करती है, कि मातृ-देवता के अतिरिक्त वहाँ पुरुष-रूप में भी दैवी शक्ति की पूजा का भाव विद्यमान था।

सिन्धु-सभ्यता के धर्म के सम्बन्ध से अनेक ज्ञातव्य बातें उन मुद्राओं से ज्ञात होती हैं, जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुए हैं। इनमें से एक मुद्रा पर किसी ऐसे नग्न देवता की आकृति अंकित है, जिसके तीन मुख हैं, और जिसके सिर पर सींग बनाए गए हैं। इस देव मूर्ति के चारों ओर अनेक पशु भी बनाए गए हैं। ये पशु हिरण, गेंडा, हाथी, शेर और भैंसे हैं। अनेक विद्वानों का विचार है, कि यह आकृति पशुपति शिव की है, जिसकी पूजा आगे चलकर हिन्दू-धर्म में भी प्रारम्भ हुई। पशुपति शिव की प्रतिमा से अंकित तीन मुद्राएँ अब तक उपलब्ध हुई हैं। यदि इन मुद्राओं में अंकित प्रतिमा को शिव की मान लिया जाय, तो यह स्वीकार करना होगा, कि शैव-धर्म संसार के प्राचीनतम धर्मों में से एक है।

सिन्धु-सभ्यता के लोग मातृदेवता की पूजा के साथ-साथ प्रजनन-शक्ति की भी उपासना करते थे। वहाँ ऐसे अनेक प्रस्तर मिले हैं, जिन्हें विद्वान् लोग योनि और लिङ्ग के प्रतीक मानते हैं। आगे चलकर हिन्दू-धर्म में योनि और लिंग की पूजा ने बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। शैव-धर्म में इस प्रकार की पूजा सम्मिलित है,

और शैव-मन्दिरों में प्रायः योनि और लिंग की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। कोई आश्चर्य नहीं, कि पशुपति शिव के उपासक सिन्धु-सभ्यता के लोग योनि और लिंग की प्रतिमा बनाकर प्रकृति की प्रजनन-शक्ति की भी पूजा करते हों।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में उपलब्ध अनेक मुद्राओं पर पीपल का वृक्ष भी अंकित है। अब तक भी हिन्दू-धर्म में पीपल का वृक्ष पवित्र माना जाता है। बौद्ध-धर्म में भी बोधिवृक्ष के रूप में पीपल की पूजा विद्यमान है। कोई आश्चर्य नहीं, कि भारत में पीपल-सदृश वृक्षों की पूजा सिन्धु-सभ्यता के युग से चली आ रही हो, और इसी सभ्यता के लोगों द्वारा इस ढंग की पूजा बाद के हिन्दू-धर्म में प्रविष्ट हुई हो। अनेक मुद्राओं पर कतिपय पशुओं की प्रतिमाएँ भी अंकित हैं, और कुछ पशुओं की मूर्तियाँ भी मिली हैं। हिन्दू-धर्म में विविध देवताओं के वाहन-रूप में जो बैल, मूषक आदि पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है, सम्भवतः उसका प्रारम्भ भी सिन्धु-सभ्यता के युग में ही हो गया था।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व यह लिखना भी आवश्यक है, कि मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा में जो बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं, वे प्रायः सभी खण्डित दशा में हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि उन्हें जानबूझ कर तोड़ा गया है। सम्भव है, कि जब किन्हीं विदेशी व विधर्मी आक्रान्ताओं ने इस सभ्यता के नगरों को विजय कर उनका विनाश किया हो, तो उन्होंने विद्वेष-वश इन देव मूर्तियों को भी तोड़ डाला हो।

आर्थिक जीवन—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा जैसे विशाल व समृद्ध नगरों की सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि सिन्धु-सभ्यता का आर्थिक जीवन बहुत समृद्ध व उन्नत था। इस सभ्यता के लोगों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था। ये लोग खेती द्वारा अनेक प्रकार के अन्नों को उत्पन्न करते थे। इन अन्नों में गेहूँ और जौ की प्रमुखता थी। इनके कुछ अवशेष भी सिन्धु-सभ्यता के नगरों के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए हैं। पर इस सभ्यता के लोग केवल शाकाहारी ही नहीं थे। वे माँस, मछली, अण्डे आदि का भी भोजन के लिए प्रयोग करते थे। मृत शरीर को गाड़ते हुए मृत मनुष्य के उपयोग के लिए उन्होंने जो विविध सामग्री साथ में रखी थी, उसमें माँस भी सम्मिलित था। यही कारण है, कि मनुष्यों के अस्थिपंजरों के साथ-साथ पशुओं की हड्डियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में खजूर की गुठलियों की उपलब्धि इस बात को सूचित करती है, कि सिन्धु-सभ्यता के निवासी फलों का भी उपयोग करते थे। मोहरों पर अंकित गाय, बैल, भैंस आदि की प्रतिमाएँ इस बात का प्रमाण हैं, कि सिन्धु-सभ्यता में इन पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। लोग इनके दूध, घी आदि का उपयोग करते होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। गाय, बैल और भैंस के अतिरिक्त सिन्धु-सभ्यता के लोग भेड़, बकरी, हाथी, सूअर और कुत्ते भी पालते थे। इन सब पशुओं की हड्डियाँ इस सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त हुई हैं। यह आश्चर्य की बात है कि इन अवशेषों में ऊँट की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं मिला है। सम्भवतः, उस युग में सिन्धु-घाटी की प्राकृतिक दशा ऐसी नहीं थी, कि उसमें ऊँट रह सके। इस बात के प्रमाण भी मिले हैं, कि सिन्धु-सभ्यता में

घोड़े और गधे की भी सत्ता थी। सिन्धु-सभ्यता से पूर्ववर्ती अमरी-नल और कुल्ली-सभ्यताओं में भी ये पशु विद्यमान थे। जंगली पशुओं में गैंडे, शेर, बाघ, भालू, बन्दर और खरगोश से इस सभ्यता के लोग भली-भाँति परिचित थे। इन पशुओं के चित्र मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में उपलब्ध अनेक मुद्राओं पर उत्कीर्ण हैं।

सिन्धु-सभ्यता के लोग गेहूं और जौ की खेती करते थे, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। इस बात का भी प्रमाण मिला है, कि इस युग के मनुष्य कपास भी उत्पन्न करते थे। मोहनजोदड़ो के अवशेषों में एक सूती कपड़ा चाँदी के एक कलश के साथ चिपका हुआ मिला है। विशेषज्ञों के मतानुसार यह कपड़ा वर्तमान समय की खादी से मिलता-जुलता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-घाटी के प्रदेश में सूती कपड़ा बहुतायत के साथ बनता था। यह सुदूरवर्ती देशों में विक्रय के लिए जाता था, और पश्चिमी संसार में उसकी बहुत कद्र थी। प्राचीन ईराक में सूती कपड़े के लिए 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग होता था। यही शब्द और अधिक पश्चिम की ग्रीक भाषा में 'सिन्दन' बन गया। सूत को लपेटने के लिए प्रयुक्त होने वाली बहुत-सी नारियाँ मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में मिली हैं। इनकी उपलब्धि इस बात का प्रमाण है, कि वहाँ घर-घर में सूत कातने की प्रथा विद्यमान थी। वस्त्र-व्यवसाय के समुन्नत होने के कारण सिन्धु-सभ्यता में कपास की खेती का कितना अधिक महत्त्व होगा, इस बात की कल्पना सहज में की जा सकती है।

हड़प्पा के भग्नावशेषों में उन विशाल गोदामों के चिह्न भी पाये गये हैं, जिनका उपयोग अनाज को जमा रखने के लिए किया जाता था। इन अन्न-भण्डारों के समीप ही अनाजों को पीसने का भी प्रबन्ध था। गेहूं और जौ के अतिरिक्त सरसों और राई की खेती के भी प्रमाण सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं।

शिल्प और व्यवसाय—कृषि के अतिरिक्त जो व्यवसाय और शिल्प सिन्धु-सभ्यता में विद्यमान थे, उनके सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें इस युग के खण्डहरों से ज्ञात हुई हैं। मिट्टी के बरतन बनाने की कला इस युग में बहुत उन्नत थी। मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में बहुत-से बरतन पूर्ण या खण्डित रूप में उपलब्ध हुए हैं। ये बरतन कुम्हार के चाक पर बनाये गए हैं, और इन्हें अनेक प्रकार के चित्रों व आकृतियों द्वारा विभूषित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-सभ्यता के कुम्हार पहले चाक पर अनेक प्रकार के बरतन बनाते थे, फिर उन्हें चमकाने के लिए एक विशेष प्रकार का लेप प्रयुक्त करते थे, और विविध प्रकार की चित्रकारी इसके बाद में की जाती थी। अन्त में उन्हें भट्टी में पकाया जाता था और इस प्रकार तैयार हुए बरतन अत्यन्त सुन्दर और मजबूत होते थे। इस युग के कटोरे-कटोरियाँ, कलश, थालियाँ, रकाबियाँ, सुराहियाँ आदि बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं, जो कुम्हार के शिल्प की उत्कृष्टता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। बहुत-से बरतनों पर उस ढंग की चमक भी पायी जाती है, जैसी कि चीनी मिट्टी के बने बरतनों पर होती है।

बरतन न केवल मिट्टी के बनाये जाते थे, अपितु पत्थर और धातु का भी इन के निर्माण के लिए प्रयोग होता था। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में पत्थर के बरतन

अधिक संख्या में नहीं मिले हैं। इनका कारण शायद यह है, कि धातु का ज्ञान हो जाने से उनकी विशेष आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती थी। धातु से बरतन व मूर्तियाँ आदि बनाने के शिल्प पर हम इसी प्रकरण में आगे चलकर विचार करेंगे।

मोहनजोदड़ो की खुदाई से हाथी दाँत का बना हुआ एक फूलदान भी उपलब्ध हुआ है, जिसका यहाँ विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक है। यह फूलदान बहुत सुन्दर है, और इस पर अनेक प्रकार के रेखाचित्र भी उत्कीर्ण किये गये हैं। उस युग में सिन्धु-घाटी में हाथी भी विद्यमान थे, यह पहले लिखा जा चुका है। हाथीदाँत को शिल्प के लिए प्रयुक्त किया जाता था, यह बात इस फूलदान से सूचित होती है। सिन्धु-सभ्यता के खण्डहरों में हाथी-दाँत के कुछ टुकड़े भी मिले हैं, जो इस शिल्प की लोकप्रियता के प्रमाण हैं।

सूती कपड़ों के निर्माण का जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। सिन्धु-घाटी सूती कपड़ों के लिए प्रसिद्ध थी, और वहाँ के वस्त्र पश्चिमी-संसार में दूर-दूर तक बिकने के लिए जाते थे। पर इस सभ्यता के लोग ऊनी और रेशमी वस्त्रों का भी निर्माण करते थे, और तैयार हुए वस्त्रों पर अनेक प्रकार के फूल व अन्य आकृतियाँ भी काढ़ते थे। सम्भवतः, कपड़े को छापने की कला भी उस युग में विकसित हो चुकी थी। कुम्हार के सदृश ही तन्तुवाय (जुलाहा) का शिल्प भी इस युग में अच्छी उन्नत दशा में था। यद्यपि इस सभ्यता की पुरुष-मूर्तियाँ प्रायः नग्न रूप में बनायी गई हैं, पर इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि इस काल में कपड़ा पहनने की प्रथा का अभाव था। नग्न मूर्तियाँ शारीरिक सौन्दर्य को प्रदर्शित करने के लिए बनायी गई थीं, या इन मूर्तियों के दैवी होने के कारण ही इन्हें नग्न रखा गया था। एक पुरुष-मूर्ति का पहले उल्लेख किया जा चुका है, जिसे वस्त्र पहने हुए बनाया गया है। स्त्री-मूर्तियों पर तो कमर से जाँघ तक का वस्त्र सर्वत्र ही प्रदर्शित किया गया है। कुछ स्त्री-मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं, जिनमें कमर से ऊपर भी वस्त्र बनाया गया है। इस युग की सभी पुरुष-प्रतिमाएँ नग्न नहीं हैं। हड़प्पा में एक ऐसी पुरुष-प्रतिमा भी उपलब्ध हुई है, जिसकी टाँगों पर चूड़ीदार पायजामा के ढंग का एक वस्त्र है। कुछ विद्वानों के मत में यह कपड़ा धोती है, जिसे टाँगों के साथ कस कर बाँधा गया था।

सिन्धु-सभ्यता के स्त्री-पुरुष आभूषणों के बहुत शौकीन थे। यही कारण है, कि इस युग की जो स्त्री-मूर्तियाँ व पुरुष-मूर्तियाँ एवं प्रतिमाएँ मिली हैं, उनमें बहुत-से आभूषणों को भी प्रदर्शित किया गया है। सौभाग्यवश, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में वे आभूषण अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें इस युग के स्त्री-पुरुष धारण किया करते थे। ये आभूषण चाँदी और ताँबे के बरतनों में संभालकर रखे हुए मिले हैं, और ये बरतन मकानों के फरश के नीचे गड़े हुए पाए गए हैं, जिससे सूचित होता है कि सुरक्षा के लिए इन्हें जमीन के नीचे गाड़ दिया गया था। आभूषणों से भरा हुआ एक कलश हड़प्पा में फरश से आठ फीट के लगभग नीचे गड़ा हुआ मिला है। जिस स्थान पर यह कलश पाया गया है, वह समृद्ध व धनी लोगों के निवास का मोहल्ला नहीं था। वहाँ गरीब लोगों के छोटे-छोटे घर थे। ऐसा प्रतीत होता है,

कि किसी चोर ने ये आभूषण चोरी द्वारा प्राप्त किये थे, और उन्हें अपने कमरे में आठ फीट नीचे गाड़ दिया था। इस कलश में सोने के बने हुए जो आभूषण व उनके खण्ड मिले हैं, उनकी संख्या ५०० के लगभग है। इनमें सुवर्ण निर्मित बाजूबन्द और हार से लगाकर छोटे-छोटे मनके तक सम्मिलित हैं। मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में भी आभूषणों से पूर्ण अनेक छोटे-बड़े कलश उपलब्ध हुए हैं। यहाँ हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि हम इन आभूषणों का संक्षिप्त वर्णन भी दे सकें। पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक है, कि सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में मिले आभूषणों में अनेक लड़ियों वाले गले के हार, बाजूबन्द, चूड़ियाँ, कर्णफूल, झुमके, नथ आदि बहुत प्रकार के आभूषण विद्यमान हैं। कला की दृष्टि से ये अत्यन्त सुन्दर और उत्कृष्ट हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-सभ्यता में सुनार और जौहरी का शिल्प बहुत उन्नत दशा में था। सुवर्ण के अतिरिक्त चाँदी और बहुमूल्य पत्थरों (लाल, पन्ना, मूँगा आदि) का भी आभूषणों के लिए प्रयोग किया जाता था। ताँबे, हाथीदाँत, हड्डी और मिट्टी के बने हुए भी बहुत से आभूषण इस सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त हुए हैं। इससे सूचित होता है कि जो गरीब लोग सोने-चाँदी के आभूषण नही पहन सकते थे, वे ताँबे आदि के आभूषण पहन कर ही सन्तोष कर लेते थे। पर उस युग के सब मनुष्य आभूषणों के बहुत शौकीन थे, यह सर्वथा सत्य है।

धातु का उपयोग—सिन्धु-सभ्यता के आर्थिक जीवन में धातुओं द्वारा बरतन और औजार बनाने का शिल्प भी बहुत उन्नत था। इन धातुओं में ताँबे को प्रचुरता के साथ प्रयुक्त किया जाता था, यद्यपि चाँदी, ब्रोंज और सीसे का उपयोग भी उस युग के धातुकार भली-भाँति जानते थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई मे अब तक चांदी के केवल तीन बरतन उपलब्ध हुए हैं। पर इन तीन बरतनों की सत्ता इस बात का प्रमाण है, कि इस युग के धनी लोग चाँदी का उपयोग करते थे। ताम्र और ब्रोंज के बरतन बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं, और ये अच्छे सुडौल व सुन्दर हैं। ताम्र का प्रयोग औजारों के लिए विशेष रूप से किया जाता था। सिन्धु-सभ्यता प्रस्तर-युग को पीछे छोड़ चुकी थी और उसके निवासी सब प्रकार के उपकरण ब्रोंज और ताँबे से बनाने लगे थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के खण्डहरों में मिले कुछ ताँबे के कुल्हाड़े लम्बाई में ११ इन्च हैं, और उनका बोझ दो सेर से कुछ अधिक हैं। इनमें लकड़ी को फंसाने के लिए छेद भी विद्यमान हैं। आकार-प्रकार मे ये ठीक वैसे ही हैं, जैसे लोहे के कुल्हाड़े आजकल भारत में प्रयुक्त होते हैं। धातु से निर्मित औजारों में ताँबे की बनी एक आरी भी उपलब्ध हुई है, जिसका हत्था लकड़ी का था। इस आरी में दाँते भी बने हैं, और यह लम्बाई में १६½ इन्च है। पाश्चात्य संसार में रोमन-युग से पूर्व आरी की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, कि सिन्धु-सभ्यता के लोग अब से पाँच हजार वर्ष के लगभग पूर्व भी आरी का प्रयोग करते थे, जबकि पाश्चात्य दुनिया में इसकी सत्ता को दो हजार साल से पूर्व नहीं ले जाया जा सकता। इस आरी की सत्ता से यह भली-भाँति सूचित हो जाता है, कि बढ़ई का शिल्प सिन्धु-सभ्यता में भली-भाँति विकसित था, और उसके नगरों में लकड़ी का

प्रचुरता के साथ उपयोग किया जाता था। इस युग में अस्त्र-शस्त्र भी धातु के बनते थे। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में परशु, तलवार, कटार, धनुष-बाण, बरछो, भाला, छुरी आदि अनेक प्रकार के हथियार मिले हैं, जो सब तांबे या ब्रोंज के बने हैं। ये हथियार जहां शिकार के काम में आते थे, वहां युद्ध के लिए भी उनका उपयोग होता था। छोटे-छोटे चाकू भी इन अवशेषों में मिले हैं, जो घरेलू कार्य के लिए प्रयुक्त होते होंगे। पत्थर काटने वाली छेनियों की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि पत्थर तराशने का शिल्प भी इस युग में विकसित हो गया था। ब्रोंज के बने मछली पकड़ने के कांटे भी इस सभ्यता के अवशेषों में उपलब्ध हुए हैं। रावी और सिन्धु नदियों के तट पर स्थित होने के कारण इन नगरों में मछली पकड़ने का व्यवसाय अवश्य ही विकसित दशा में होगा, और इसी प्रयोजन से इन कांटों का प्रयोग किया जाता होगा। धातुओं का प्रयोग केवल बरतन और औजार बनाने के लिए ही नहीं होता था। इस युग के अवशेषों में ताम्र और ब्रोंज की बनी अनेक मूर्तियां भी उपलब्ध हैं, जो धातु शिल्प की उत्कृष्टता के जीवित जागृत प्रमाण हैं।

तोल और माप के साधन—सिन्धु-सभ्यता की विविध बस्तियों के अवशेषों में तोल के बहुत-से बट्टे भी उपलब्ध हुए हैं। ये बट्टे पत्थर के बने हैं, और इन्हें एक निश्चित आकार (चौकोर घन के आकार) में बनाया गया है। सबसे छोटा बाट तोल में १३·६४ ग्राम के बराबर है। इस छोटे बाट को अगर इकाई मान लिया जाय, तो १,२,४,८,१६,३२,६४,१६०, २००. ३२० और ६४० इकाइयों के बाट उपलब्ध हुए हैं। यह बात बड़े आश्चर्य की है, कि भारत की प्राचीनतम सभ्यता में भी भार के विविध अनुपात को सूचित करने के लिए १,४,८,१६ की पद्धति का अनुसरण किया जाता था। आधुनिक समय का सेर १६ छटांकों में विभक्त था, और अधपौवा, पौवा व अध-सेरा के बाट ही भारत में तोल के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। इस तरह के बाट केवल मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों में ही नहीं मिले हैं, अपितु छन्नूदड़ो, मही आदि सिन्धु-सभ्यता की अन्य बस्तियों के अवशेषों में भी प्राप्त हुए हैं। हजारों वर्ग-मील में विस्तृत इस सिन्धु-सभ्यता में सर्वत्र एक सदृश बाटों की उपलब्धि इस बात का प्रमाण है, कि उसका राजनीतिक व आर्थिक संगठन बहुत दृढ़ था। तोलने के लिए उस युग में तराजू का प्रयोग होता था। धातु की बनी तराजू के भी अनेक खण्ड इस सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं।

मोहनजोदड़ो के खण्डहरों में सीपी के बने 'फुटे' का एक टुकड़ा मिला है, जिसमें ६ एक समान विभाग स्पष्ट रूप से अंकित हैं। ये विभाग ०·२६४ इन्च के बराबर हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह फुटा अच्छा लम्बा था, और सीपी के जिन टुकड़ों से उसे बनाया गया था, उन्हें परस्पर जोड़ने के लिए धातु का प्रयोग किया गया था। हड़प्पा के अवशेषों में ब्रोंज की एक शलाका मिली है, जिसपर नापने के लिए छोटे-छोटे विभाग अंकित हैं। ये विभाग लम्बाई में ०·३६७६ इन्च हैं। इन दो 'फुटों' के आधार पर सिन्धु-सभ्यता की ईंटों तथा कमरों की लम्बाई-चौड़ाई को मापकर विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है, कि इस युग का फुट १३·२ इन्च लम्बा होता

था। इस फुटे के अतिरिक्त माप का एक अन्य मान था, जो लम्बाई में २०·४ इन्च होता था। सिन्धु-सभ्यता में जो भी मकान बनाये गये, व जो ईंटें बनायी गई थीं, वे इन दो मानों में से किसी न किसी मान के अनुसार ठीक उतरती हैं।

व्यापार—तोल और माप के इन निश्चित मानों की सत्ता इस बात की सूचक है, कि इस युग में व्यापार अच्छी उन्नत दशा में था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों में जो बहुत-सी वस्तुएँ मिली हैं, वे सब उसी प्रदेश की उपज व कृति नहीं हैं। उनमें से अनेक वस्तुएँ सुदूरवर्ती प्रदेशों से व्यापार द्वारा प्राप्त की गई थीं। सिन्धु नदी की घाटी में तांबा, चांदी, सोना आदि धातुएँ प्राप्त नहीं होतीं। सम्भवतः, सिन्धु-सभ्यता के लोग चाँदी, टिन, सीसा और सोना अफगानिस्तान व और भी दूर ईरान से प्राप्त करते थे। अनेक प्रकार के बहुमूल्य पत्थर बदख्शां जैसे सुदूरवर्ती प्रदेशों से आते थे। तांबे के लिए मुख्यतया राजपूताना पर निर्भर रहना पड़ता था। सीपी, शंख, कौड़ी आदि का प्रयोग सिन्धु-सभ्यता में प्रचुरता के साथ हुआ है। सम्भवतः, ये सब काठियावाड़ के समुद्रतट से आती थीं। इसी प्रदेश से मूंगा, मोती, आदि बहुमूल्य रत्न भी आते थे, जिनका उपयोग आभूषणों के लिये किया जाता था। सिन्धु-सभ्यता के भग्नावशेषों में देवदार के शहतीरों के खण्ड भी मिले हैं। देवदार का वृक्ष केवल पहाड़ों में होता है। हिमालय से इतनी दूरी पर स्थित सिन्धु-सभ्यता के नगरों में देवदार की लकड़ी की उपलब्धि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि इन नगरों का पार्वत्य प्रदेशों के साथ भी व्यापार था।

यह व्यापार तभी सम्भव था, जब कि व्यापारियों की श्रेणी भली-भांति विकसित हो चुकी हो, और आवागमन के साधन भी अच्छे उन्नत हों। व्यापारियों के काफिले (सार्थ) स्थल और जल दोनों मार्गों से दूर-दूर तक व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। इस युग में नौकाओं तथा छोटे जहाजों का प्रयोग होता था, यह बात असन्दिग्ध है। इस सभ्यता के खण्डहरों में उपलब्ध हुई एक मोहर पर एक जहाज की आकृति सुन्दररूप से अंकित की गई है। इसी प्रकार मिट्टी के बरतन के एक टुकड़े पर भी जहाज का चित्र बनाया हुआ मिला है। ये चित्र इस बात को भली भांति सूचित करते हैं कि सिन्धु-सभ्यता के लोग जहाजों और नौकाओं का प्रयोग करते थे। स्थल-मार्ग द्वारा आवागमन के लिए जहाँ घोड़े और गधे जैसे पशु प्रयुक्त होते थे, वहाँ साथ ही बैलगाड़ियाँ भी उस युग में विद्यमान थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में खिलौने के तौर पर बनायी गई मिट्टी की छोटी-छोटी गाड़ियाँ बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। सम्भवतः, बच्चे इन गाड़ियों से खेलते थे। पर खिलौने के रूप में गाड़ियों को बनाना ही इस बात का प्रमाण है, कि उस युग में इनका बहुत अधिक प्रचार था। केवल बैलगाड़ी ही नहीं, इस युग में इक्के भी प्रयुक्त होते थे। हड़प्पा के खण्डहरों में ब्रोंज का बना एक छोटा-सा इक्का मिला है, जिसे सम्भवतः उस युग में प्रयुक्त होनेवाले इक्के के नमूने पर बनाया गया था। इसी तरह का एक इक्का छन्हूदड़ो के खण्डहरों में भी मिला है। हड़प्पा और छन्हूदड़ो में ४०० मील का अन्तर है। पर इतने अन्तर

पर स्थित इन दो बस्तियों में एक ही तरह के इक्के का मिलना इस बात को सूचित करता है, कि सिन्धु-सभ्यता में सर्वत्र बैलगाड़ी के साथ-साथ इक्के का भी चलन था।

इस युग की सिन्धु-सभ्यता में न केवल अन्तर्देशीय व्यापार अच्छा उन्नत था, अपितु विदेशी व्यापार भी बहुत विकसित दशा में था। सिन्धु सभ्यता से पूर्व के काल की दक्षिणी बिलोचिस्तान की कुल्ली-सभ्यता के व्यापारी भी सुदूर पश्चिमी एशिया में व्यापार के लिए आते-जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के लोग भी पश्चिमी एशिया के विविध देशों से व्यापारिक सम्बन्ध रखते थे, इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन सुमेरिया के अवशेषों में अनेक ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो हड़प्पा की मुद्राओं से हूबहू मिलती जुलती हैं। ये मुद्राएँ सुमेरिया की अपनी मुद्राओं से सर्वथा भिन्न हैं। इनमें से एक मुद्रा पर सूती कपड़े का निशान भी अंकित है, जो सिन्धु-सभ्यता में बड़ी मात्रा में तैयार होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु देश के व्यापारी सुमेरिया में बसे हुए थे, और वहां वे मुख्यतया कपड़े का व्यापार करते थे। इसी प्रकार मोहनजोदड़ो में कुछ ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो ठीक सुमेरियन शैली की हैं। ये मुद्राएँ या तो सुमेरियन व्यापारियों की सिन्ध देश में सत्ता को सूचित करती हैं, और या यह भी सम्भव है, कि सुमेरिया से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाले कुछ सिन्धुदेशीय व्यापारियों ने सुमेरियन शैली पर अपनी मुद्राओं का निर्माण किया हो। सिन्धु-सभ्यता के व्यापारी न केवल सुमेरिया के साथ व्यापार करते थे, अपितु ईरान से भी उनका व्यापारी सम्बन्ध स्थापित था। ईरान के प्राचीन भग्नावशेषों में अनेक ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं, जो वहाँ सिन्धु देश से गई मानी जाती हैं। यह विदेशी व्यापार समुद्र-मार्ग द्वारा होता होगा, यह कल्पना असंगत नहीं है, क्योंकि सिन्धु-सभ्यता के लोग जहाज से भली भांति परिचित थे। पुरातत्त्व के पण्डितों के अनुसार सिन्ध देश का पश्चिमी एशिया के देशों के साथ यह व्यापार-सम्बन्ध तीसरी सहस्राब्दि ई० पू० में विद्यमान था।

मुद्रा—इस प्रकरण में हमने अनेक बार सिन्धु-सभ्यता की मुद्राओं (मुद्राङ्कों) का उल्लेख किया है। ये मुद्राएँ अच्छी बड़ी संख्या में मिली हैं, और इन पर किसी पशु, देवता या वृक्ष की प्रतिमा अंकित है। प्रतिमा के साथ-साथ कुछ लेख भी उत्कीर्ण हैं, जिन्हें अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। ये मुद्राएँ छापे के काम में लायी जाती थी। सम्भवतः, उत्पादक या व्यापारी लोग इन्हें अपने विक्रेय पदार्थों को मुद्रित करने के काम में लाते थे। इस प्रकार की मुद्राएँ संसार की अन्य प्राचीन सभ्यताओं के अवशेषों में भी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं।

कला—सिन्धु-सभ्यता के शिल्प का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इस युग में चित्रण-कला, मूर्ति-निर्माण-कला और संगीत अच्छी उन्नत दशा में थे। मिट्टी के बरतनों को किस प्रकार सुन्दर रेखाचित्रों और विविध प्रकार की आकृतियों द्वारा विभूषित किया जाता था, इसका निर्देश भी हमने ऊपर किया है। सिन्धुसभ्यता की कला में पत्थर और धातु की बनी हुई मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। धातु की बनी हुई नर्तकी की एक मूर्ति इतनी सुन्दर है, कि वह बिल्कुल सजीव प्रतीत होती है। नर्तकी का शरीर नग्न है, यद्यपि उसपर बहुत से आभूषण बनाये गये

हैं। सिर के केशों का प्रसाधन मूर्ति में बहुत ही सुन्दर रूप से प्रदर्शित किया गया है। इस नर्तकी का रूप कुल्ली-सभ्यता के अवशेषों में उपलब्ध स्त्री-मूर्तियों से मिलता-जुलता है। अतः यह अनुमान किया गया है, कि जिस स्त्री की यह मूर्ति है, वह सिन्धु देश की न होकर दक्षिणी बिलोचिस्तान की थी। नर्तनक्रिया में दक्ष होने के कारण सम्भवतः कोई व्यापारी उसे सिन्धु देश ले आया होगा। इस युग की अन्य मूर्तियाँ भी मूर्ति-निर्माण-कला की उत्तम उदाहरण हैं।

सिन्धु-सभ्यता के लोग संगीत और नृत्य के शौकीन थे, यह बात केवल नर्तकी की मूर्ति द्वारा ही सूचित नहीं होती, अपितु उन छोटे-छोटे वाद्यों द्वारा भी प्रकट होती है, जो इस युग के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए हैं। पक्षियों की कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनकी पूँछ से सीटी या बांसुरी बजाने का उपयोग लिया जा सकता था। तबले और ढोल के चित्र भी कुछ स्थानों पर अंकित मिले हैं।

अपने केशों के प्रसाधन के लिए इस युग के लोग दर्पण और कंघे का प्रयोग करते थे। ताँबे के बने हुए दर्पण इस सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं, और हाथीदाँत के बने एक कंघे से यह सूचित होता है, कि इस समय में किस ढंग के कंघे प्रयुक्त होते थे। शृंगार की वस्तुएँ उस समय में भी उपयोग में लायी जाती थीं। पत्थर के बने हुए छोटे-छोटे ऐसे पात्र मिले हैं, जो सम्भवतः शृंगार-प्रसाधन की वस्तुओं को रखने के लिए प्रयोग में लाये जाते थे।

लिपि और लेखन कला—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में जो बहुत-सी मुद्राएँ मिली हैं, उन पर अनेक प्रकार के लेख उत्कीर्ण हैं। लेख केवल इन मुद्राओं पर ही नहीं मिले, अपितु ताम्रपत्रों और मिट्टी के बरतनों पर भी मिले हैं। खेद की बात है, कि सिन्धु-सभ्यता की इस लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। अनेक विद्वानों ने इसे पढ़ने का प्रयत्न किया है, और कुछ का यह भी दावा है, कि वे इस लिपि को पढ़ सकने में सफल हुए हैं। पर अभी तक पुरातत्व-शास्त्र के बहुसंख्यक विद्वान् यही मानते हैं, कि यह लिपि पढ़ी नहीं जा सकी है, और जिन विद्वानों ने इसे पढ़ने का दावा किया है, उनका दावा उन्हें स्वीकार्य नहीं है। सिन्धु-सभ्यता के ये लेख चित्र-लिपि में हैं, जिसका प्रत्येक चिह्न किसी विशेष शब्द या भाव को प्रकट करता है। इस प्रकार के ३९६ चिह्नों की सूची अब तक बनायी गई है। सुमेरिया की प्राचीन मे लिपि में कुल मिलाकर ९०० चिह्न प्रयुक्त होते थे, और उरुक की प्राचीन लिपि में २००० चिह्न। ज्यों-ज्यों लेखन-कला विकसित होती जाती है, लिपि-चिह्नों की संख्या कम होती जाती है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए, तो यह स्वीकार करना होगा, कि सिन्धु-सभ्यता की लिपि प्राचीन संसार की अन्य लिपियों की अपेक्षा अधिक उन्नत और परिष्कृत थी। कुछ विद्वानों ने प्रतिपादित किया है, कि सिन्धु-सभ्यता की यह लिपि पहली पंक्ति में दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी, और दूसरी पंक्ति में बायीं ओर से दाहिनी ओर। यह आश्चर्य की बात है, कि सिन्धु-सभ्यता की लिपि में लिखे हुए कोई बड़े उत्कीर्ण लेख अभी तक नहीं मिल सके हैं। मुद्राओं और पात्रों

पर लिखे या उत्कीर्ण किए गए छोटे लेखों के आधार पर इस लिपि को सन्तोषजनक रीति से पढ़ सकना बहुत सुगम प्रतीत नहीं होता।

सिन्धु-सभ्यता में लिखने के लिए स्याही का भी उपयोग होता था, यह बात छन्नूदड़ो के भग्नावशेषों में उपलब्ध एक दवात से सूचित होती है। यह दवात मिट्टी की बनी है। इसकी उपलब्धि से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि सिन्धु-सभ्यता के लोग अपने लेखों को केवल उत्कीर्ण ही नहीं करते थे, अपितु कलम-दवात से लिखते भी थे।

(२) सिन्धु-सभ्यता के निवासी

ऊपर जिस उन्नत सिन्धु-सभ्यता का वर्णन किया गया है, उसका विकास किन लोगों ने किया था और कौन मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा जैसे नगरों में निवास करते थे, अभी तक इस सम्बन्ध में कोई ऐसा मत प्रतिपादित नहीं किया जा सका है जिसे सर्वसम्मत कहा जा सके। जब तक सिन्धु-घाटी की लिपि को पढ़ा नहीं जायेगा, तब तक शायद इस प्रश्न का सन्तोषजनक निर्णय कर सकना सम्भव भी नहीं होगा। जो विद्वान् सप्तसिन्धु देश को आर्यों का आदि निवासस्थान मानते हैं, वे यह कभी स्वीकार नहीं कर सकते कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता किन्हीं आर्य-भिन्न जातियों द्वारा विकसित की गई थी और आर्यों ने कहीं बाहर से आकर उसे नष्ट किया था। ये विद्वान् यही मानते हैं कि सिन्धु-सभ्यता के नगर आर्यों द्वारा ही आबाद थे। कतिपय विद्वानों ने तो सिन्धु-घाटी की लिपि को आर्यों की प्राचीनतम लिपि प्रतिपादित किया है, और उसमें लिखे हुए शब्दों को वैदिक भाषा के शब्द पढ़ा है। पर अभी इनके मत को मान्यता प्राप्त नहीं हुई है। इस समय तक विद्वान् लोगों ने सिन्धु-सभ्यता के निवासियों के सम्बन्ध में जो मत प्रगट किये हैं, उन्हें संक्षेप के साथ उल्लिखित करने के अनन्तर हम उन विद्वानों के मन्तव्य पर भी हम प्रकाश डालेंगे, जो सिन्धु-सभ्यता को वैदिक सभ्यता प्रतिपादित करते हैं या वैदिक आर्यों से जो उसका घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में मनुष्यों के जो अस्थिपंजर मिले हैं, उनका अनुशीलन कर यह निर्णय करने का प्रयत्न किया गया है, कि सिन्धु-सभ्यता के निवासी नसल और जाति की दृष्टि से कौन थे। यह तो स्पष्ट ही है, कि इस सभ्यता के प्रधान नगरों की आबादी मिश्रित थी। व्यापार, नौकरी व अन्य आकर्षणों से आकृष्ट होकर अनेक नसलों और जातियों के लोग इन नगरों में आकर निवास करते थे। यही कारण है, कि इनसे उपलब्ध हुए मानव अस्थिपंजर विविध प्रकार के लोगों की सत्ता को सूचित करते हैं। कर्नल स्यूअल और डा० गुहा के मतानुसार इन नगरों में उपलब्ध हुए अस्थिपंजरों से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि इनके निवासी चार विभिन्न नसलों के थे। ये नसलें निम्नलिखित हैं—आस्ट्रेलोग्रड, भूमध्यसागरीय, मंगोलियन और अल्पाइन। मंगोलियन और अल्पाइन नसल के लोगों की केवल एक-एक खोपड़ी सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त हुई है। इससे

सूचित होता है, कि इन नसलों के लोग सिन्धु देश के क्षेत्र में बहुत कम संख्या में निवास करते थे। सिन्धु देश के बहुसंख्यक निवासी आस्ट्रेलोयड और भूमध्यसागरीय नसलों के थे। इनमें भी भूमध्यसागरीय नसल का प्राधान्य था। विद्वानों का विचार है, कि आर्य जाति के इतिहास के रंगमंच पर प्रकट होने से पूर्व पृथिवी के अनेक प्रदेशों पर (विशेषतया भूमध्यसागर के तटवर्ती क्षेत्रों में और पश्चिमी एशिया में) जिन लोगों ने मानव-सभ्यता का विकास किया था, उन्हें हम सामूहिक रूप से भूमध्यसागरीय नसल का कह सकते हैं। इसी नसल को आइबीरियन भी कहा जाता है। इस नसल के लोग रंग में कुछ सांवले और कद में छोटे होते थे। संसार की प्राचीनतम सभ्यता का विकास इसी नसल के लोगों ने किया था। भारत के द्रविड़ लोग भी इसी आइबीरियन नसल की एक शाखा माने जाते हैं, और अनेक विद्वानों का मत है, कि सिन्धु-सभ्यता का विकास इन्हीं द्रविड़-आइबीरियन लोगों द्वारा हुआ था। वर्तमान समय में द्रविड़ लोग केवल दक्षिणी भारत में निवास करते हैं। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राचीन समय में द्रविड़ लोग उत्तरी भारत में भी निवास करते थे। एक द्रविड़ भाषा (ब्राहुई) भारत के पश्चिमी कोने में कलात के प्रदेश में भी बोली जाती है। सुदूर कलात में ब्राहुई नामक एक जाति निवास करती है, जिसकी भाषा द्रविड़-वंश की है। ब्राहुई बोलने वालों की कुल संख्या १ लाख ८४ हजार है। भारत के पश्चिमी कोने में एक द्रविड़ भाषा की सत्ता से कुछ विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है, कि प्राचीन काल में द्रविड़ लोग केवल दक्षिणी भारत में ही आबाद नहीं थे, वे उत्तरी व पश्चिमी भारत में भी बसे हुए थे, और आर्यों के आक्रमण द्वारा वे अपना पुराना अभिजन छोड़कर दक्षिण की ओर चले जाने के लिए विवश हुए थे। पर सिन्धु-सभ्यता के निवासियों का द्रविड़ होना अभी सब विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। ब्राहुई के रूप में एक द्रविड़ भाषा का भारत के पश्चिमी कोने में पाये जाने का यह भी कारण हो सकता है, कि दक्षिणी भारत के कतिपय द्रविड़ लोग पश्चिमी देशों के साथ होनेवाले व्यापार के सिलसिले में उत्तर-पश्चिम में जा बसे हों, और ब्राहुई लोग द्रविड़ों के एक उपनिवेश की सत्ता को सूचित करते हों।

सिन्धु-सभ्यता का विनाश बाह्य आक्रमणों द्वारा हुआ था। २००० ई० पू० के लगभग संसार की प्राचीन सभ्यताओं के ऊपर बाह्य शत्रुओं के हमले शुरू हो गए थे। इसी समय के लगभग एशिया माइनर के प्रदेश पर हत्ती या खत्ती (हित्ताईत) जाति ने आक्रमण किया था, और वहां की पुरातन सभ्यताओं का विनाश कर अपने राज्य की स्थापना की थी। ये खत्ती लोग उस आर्य जाति की एक शाखा थे, जो इस समय अपने अभिजन को छोड़कर भूमध्यसागरीय या आइबीरियन जातियों द्वारा विकसित सभ्यताओं के ध्वंस में तत्पर थी। इसी आर्य-जाति की अन्य शाखाओं ने ईराक, ईरान आदि पश्चिमी एशिया की अन्य प्राचीन सभ्यताओं को विनष्ट किया। २००० ई० पू० के कुछ समय बाद आर्य जाति की ही एक शाखा ने भारत पर आक्रमण कर उन सभ्यताओं को नष्ट किया, जो उस समय इस प्रदेश में विद्यमान थीं। सिन्धुसभ्यता का विनाश भी आर्य लोगों द्वारा हुआ। आर्यों ने जिन लोगों के दुर्गों व पुरों का ध्वंस

किया, उन्हें वे 'दस्यु' या 'दास' कहते थे। सिन्धु-सभ्यता के लोगों का अन्य कोई नाम हमें ज्ञात नहीं है। अतः यदि हम भी उन्हें दस्यु या दास संज्ञा दें, तो अनुचित नहीं होगा। ये दोनों शब्द संस्कृत में डाकू और गुलाम के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। आर्यों ने जिन लोगों को नष्ट किया, उनके नाम को यदि वे इन हीन अर्थों में प्रयुक्त करने लगे हों, तो यह अस्वाभाविक नहीं।

सिन्धु-सभ्यता २००० ई० पू० के लगभग तक कायम रही थी।

सिन्धु-सभ्यता के निवासियों के सम्बन्ध में जिस मत का उल्लेख इस प्रकरण में ऊपर किया गया है, उसके प्रतिपादकों द्वारा वे युक्तियां भी प्रस्तुत की जाती हैं जिनके कारण इस सभ्यता के निवासियों को वैदिक युग से आर्य नहीं माना जा सकता। ये युक्तियां निम्नलिखित हैं—(१) वैदिक युग के आर्य प्रधानतया ग्रामों के रहने वाले थे। वे अभी बड़े नगरों के विकास में तत्पर नहीं हुए थे। वेदों में नगरों का उल्लेख अवश्य मिलता है। पर ये नगर ऐसे हैं, जो आर्यों के शत्रुओं के हैं और जिन्हें आर्यों ने विजय किया था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में गृत्समद ऋषि ने इन्द्र से प्रार्थना की है कि वह अपने वज्र से दस्युओं के 'आयसी' (लोहनिर्मित) पुरों को ध्वंस करें।[1] एक अन्य मन्त्र में इन्द्र द्वारा शम्बर के सौ पुरों को नष्ट किये जाने का वर्णन किया गया है।[2] इसी प्रकार अन्यत्र भी वेदों में जहां पुरों व दुर्गों का उल्लेख है, वह प्रायः इन्द्र द्वारा उनके नष्ट किये जाने के प्रसंग में ही है। इन्द्र आर्यों का देवता था, और उसी की कृपा से या उसी के नेतृत्व में आर्य लोग अपने शत्रुओं का ध्वंस करने में समर्थ हुए थे। अभी स्वयं आर्यों ने पुरों का निर्माण करना प्रारम्भ नहीं किया था। पर सिन्धु-सभ्यता के लोग नगरों के निवासी थे, और वे बड़े-बड़े नगरों का निर्माण कर सकने में समर्थ हुए थे। इस दशा में सिन्धु-सभ्यता के निवासी आर्य जाति के नहीं हो सकते। (२) सिन्धु-सभ्यता के भग्नावशेषों में लोहे का कोई औजार व बरतन आदि उपलब्ध नहीं हुआ है। सोने, तांबे, कांसे आदि की वस्तुएं वहां अवश्य मिली हैं, पर लोहे की नहीं। इससे सूचित होता है कि सिन्धु-सभ्यता के लोगों को लोहे का परिज्ञान नहीं था। पर वैदिक साहित्य में लोहे का उल्लेख मिलता है। यदि 'अयस्' का अर्थ लोहा न होकर तांबा भी हो, तो भी यजुर्वेद में स्पष्ट रूप से ऐसी धातु का उल्लेख है जो लोहा ही है।[3] क्योंकि सिन्धु-सभ्यता के लोग लोहे से अपरिचित थे, अतः वे वैदिक आर्य नहीं हो सकते। (३) सिन्धु-सभ्यता की खुदाई में गाय और घोड़े की कोई मूर्ति नहीं मिली है, और न उनकी प्रतिमाएं ही किसी मुद्राङ्क पर अंकित हैं। इससे यह सूचित होता

---

१. तस्मै तवस्यमनुदायि सत्रेन्द्राय देवेभिरर्णसातौ।
प्रति यदस्य वज्रं बाह्वोर्धुर्हत्वी दस्यून्पुर आयसीर्नितारीत्॥' ऋग्वेद २।२०।८

२. अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।
यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्रमपावपद्भरता सोममस्मै॥" ऋग्वेद २।१४।६

३. 'हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामञ्च मे लोहञ्च मे सीसञ्च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।'
यजुर्वेद १८।१३

है कि सिन्धु-सभ्यता के आर्थिक जीवन में इन पशुओं का विशेष महत्त्व नहीं था। सम्भवतः, वे घोड़े से तो सर्वथा अपरिचित थे, और गाय से परिचित होते हुए भी (क्योंकि वहां के मुद्राङ्कों पर वृषभ की प्रतिमाएं अंकित हैं) उनके जीवन में उसका विशिष्ट स्थान नहीं था। इसके विपरीत वैदिक साहित्य में घोड़े और गाय का बारम्बार उल्लेख मिलता है, और आर्य लोग गोधन को बहुत महत्त्व देते थे। (४) वेदों के धर्म में देवताओं की पूजा का विशिष्ट स्थान था, और उनकी पूजा के लिए याज्ञिक कर्मकाण्ड का आश्रय लिया जाता था। मूर्तिपूजा का वैदिक युग में या तो प्रारम्भ ही नहीं हुआ था, और यदि मूर्तिपूजा का श्रीगणेश हुआ भी था तो उसका विशेष महत्त्व नहीं था। पर सिन्धु-सभ्यता के लोग मूर्तिपूजक थे, और इसीलिए उसके भग्नावशेषों में मूर्तियां अच्छी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। वैदिक युग के आर्य देवताओं की पूजा के लिए जिन यज्ञकुण्डों में अग्नि का आधान किया करते थे, उनका कोई भी चिह्न या अवशेष सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में नहीं मिला है। (५) सिन्धु-सभ्यता के भग्नावशेषों में एक ऐसा मुद्रांक उपलब्ध हुआ है जिस पर अंकित प्रतिमा को पशुपति शिव की प्रतिमा माना जाता है। इसके सम्बन्ध में इसी अध्याय में पहले लिखा भी जा चुका है। वैदिक देवताओं में इन्द्र प्रधान है। रुद्र भी एक वैदिक देवता है, और ऋग्वेद के एक मन्त्र में उसका एक विशेषण शिव भी दिया गया है[1], पर वैदिक देवताओं में उसका वह महत्त्व नहीं है जो इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि का है। आर्य धर्म में पशुपति शिव को जो महत्त्व बाद के समय में प्राप्त हुआ, सम्भवतः वह सिन्धु-सभ्यता के लोगों से सम्पर्क के कारण ही था। पर यह स्पष्ट है कि सिन्धु-सभ्यता के धर्म का वह रूप नहीं था, जो वैदिक साहित्य द्वारा ज्ञात होता है। इन तथ्यों को दृष्टि में रख कर यह प्रतिपादित किया जाता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता का विकास उस समय में हुआ था, जब कि आर्य लोग भारतीय इतिहास के रंगमंच पर प्रकट नहीं हुए थे। इस सभ्यता के लोगों को युद्ध में परास्त कर आर्य भारत में बस गये, और उन्होंने बहुत-सी बातें सिन्धु घाटी के लोगों से सीखीं।

जो विद्वान् सप्तसिन्धव देश को आर्यों का आदि निवास-स्थान मानते हैं, वे न केवल इन युक्तियों का प्रत्याख्यान करने का प्रयत्न करते है, अपितु ऐसे तथ्य भी प्रस्तुत करते है जिनसे सिन्धु-घाटी की सभ्यता का वैदिक आर्यों की सभ्यता होना सूचित होता है। उनका कहना है कि वेदों में दस्युओं के पुरों का उल्लेख अवश्य आया है, पर ये दस्यु आर्यभिन्न जाति के थे यह सुनिश्चित रूप से कह सकना कठिन है। निरुक्त के अनुसार कृषि आदि कर्मों को क्षति पहुँचाने वाले 'दस्यु' कहाते हैं। जो लोग सुव्यवस्थित सामाजिक व आर्थिक जीवन में विघ्न डालें, दस्यु उन्हीं को कहा जाता था। वर्तमान समय में भी चोर डाकू आदि समाजविरोधी व्यक्ति ही दस्यु कहाते हैं।

---

१. स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन।
येभिः शिवः स्ववाँ एवयावभिर्दिवः सिषक्ति स्वयशा निकामभिः॥'

ऋग्वेद १०।९२।९

प्राचीन समय में भी ऐसे लोगों की सत्ता थी और वे शक्तिशाली तथा सुसंगठित भी होते थे। उन्हीं के पुरों या गढ़ों का ध्वंस किये जाने की बात ऋग्वेद में कही गई है। पर इससे यह परिणाम कैसे निकाला जा सकता है कि पुर केवल दस्युओं के ही होते थे, उन्हें परास्त करने वालों के नहीं, और दस्यु उन लोगों को कहा जाता था जिन्होंने कि सिन्धु-सभ्यता का विकास किया था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह कहा गया है कि (अयस् के) आयसीः और अधृष्टाः (अटूट) पुर बनाओ,[1] जिससे आर्यों के पुरों की सत्ता स्पष्ट रूप से सूचित होती है। सिन्धु-सभ्यता के लोग लोहे से अपरिचित थे और अस्त्र-शस्त्रों तथा उपकरणों के लिए वे प्रधानतया तांबे का उपयोग करते थे। यही बात ऋग्वेद के युग के आर्यों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'अयस्' का अर्थ तांबा किया जाता है, लोहा नहीं। लोहे का स्पष्ट रूप से उल्लेख यजुर्वेद में है, जिसे बाद के काल का माना जाता है। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में लोहे का न पाया जाना और ऋग्वेद में लोहे का उल्लेख न होना यह संकेत करते हैं कि दोनों साधनों द्वारा जिन सभ्यताओं का परिचय मिलता है उनमें बहुत सादृश्य था। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में उपलब्ध मुद्राङ्कों पर वृषभ की प्रतिमा अंकित है, और वहाँ मिट्टी की बनी हुई ऐसी छोटी-छोटी गाड़ियाँ भी मिली हैं जिनसे बैल जुड़े होते थे। खिलौनों के रूप में प्राप्त ये बैलगाड़ियाँ और वृषभ की प्रतिमा से अंकित मुद्राङ्क यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि सिन्धु-सभ्यता के लोगों का गाय-बैल से परिचय था। यहाँ खिलौनों के रूप में ऐसे इक्के भी प्राप्त हुए हैं, जिन्हें चलाने के लिये घोड़े प्रयुक्त होते होंगे। गाय और घोड़े की मृण्मूर्ति न मिलना आकस्मिक भी हो सकता है। वैदिक युग में देवताओं की मूर्तियाँ नहीं बनती थीं, यह भी पूर्णतया सत्य नहीं है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह कहा गया है कि इन्द्र की मूर्ति के लिए दस गौवों का मूल्य भी पर्याप्त नहीं है।[2] इससे सूचित होता है कि वैदिक युग में देवताओं की मूर्तियाँ बना कर उनकी पूजा भी प्रारम्भ हो चुकी थी, यद्यपि देवताओं की पूजा का प्रधान ढंग याज्ञिक अनुष्ठान ही था। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में भी मूर्तियाँ इतनी अधिक संख्या में नहीं मिली हैं कि मूर्तिपूजा को ही वहाँ के धर्म का प्रधान अंग माना जा सके। सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेषों में जो एक ऐसा मुद्रांक मिला है जिस पर पशुपति शिव की प्रतिमा अंकित है, उससे तो यही समझा जाना चाहिए कि यह सभ्यता वैदिक आर्यों की ही थी, क्योंकि पशुपति शिव वैदिक देवताओं में अन्यतम हैं। अथर्ववेद में चतुष्पद और द्विपद पशुओं के पशुपति से यजमान के कल्याण और समृद्धि की प्रार्थना की गई है।[3] अथर्ववेद के एकादश काण्ड का दूसरा अध्याय तो पशुपति रुद्र की स्तुति

---

१. 'व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमस दृंहता तम्॥' ऋग्वेद १०।१०१।८

२. 'क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।
यदा वृत्राणि जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत्॥' ऋग्वेद ४।२४।१०

३. य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम्॥' अथर्ववेद २।३४।१

में ही है। उसके एक मन्त्र में पशुपति का जो वर्णन है, वह मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रांक पर अंकित पशुपति की प्रतिमा से मिलता-जुलता है। उसमें पशुपति के चतुर्मुखी होने और पाँच प्रकार के पशुओं से घिरे हुए होने का स्पष्ट वर्णन है।[1]

सिन्धु घाटी की सभ्यता वैदिक आर्यों की ही थी, इस पक्ष में एक प्रबल युक्ति इस मुद्रांक का उपलब्ध होना है, जिस पर कि एक वेदमन्त्र को चित्रलिपि द्वारा प्रस्तुत किया गया है।[2] इस मन्त्र का भाव यह है कि दो पक्षी एक पेड़ पर बैठे हैं, ये पक्षी साथ-साथ रहते हैं और एक दूसरे के सखा हैं। इनमें से एक स्वादु फल का भक्षण कर रहा है और दूसरा फल को न खाता हुआ केवल उसे देख रहा है। सिन्धु-घाटी सभ्यता के एक मुद्रांक पर इस वैदिक मन्त्र का सुस्पष्ट चित्रण यह प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त है कि इस सभ्यता का वैदिक आर्यों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था, या इसका विकास आर्यों द्वारा ही किया गया था।

सिन्धु-घाटी सभ्यता की लिपि को पढ़ने का जिन विद्वानों ने प्रयत्न किया है, उनमें ऐसे भी हैं जो इस लिपि में लिखे हुए शब्दों को वैदिक शब्द प्रतिपादित करते हैं। डा० प्राणनाथ ने तन्त्र-ग्रन्थों के आधार पर सिन्धु-सभ्यता की लिपि की वर्णमाला तथा अक्षरों का जो निरूपण किया है, उनके अनुसार मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों से उपलब्ध मुद्रांकों आदि पर वैदिक शब्द ही अंकित हैं। कतिपय अन्य विद्वानों ने भी पृथक् ढंग से इसी मत का समर्थन किया है। यदि सप्तसिन्धव देश को आर्यों का आदि निवास स्थान मान लिया जाए, तो सिन्धु-घाटी में वैदिक युग से पूर्ववर्ती किसी सभ्यता की सत्ता की सम्भावना ही नहीं रहती। पर यह विषय इतना विवादग्रस्त है कि अभी सिन्धु-घाटी की सभ्यता के सम्बन्ध में कोई भी मत सुनिश्चित रूप से प्रतिपादित कर सकना सम्भव नहीं है। जब सिन्धु-घाटी की प्राचीन लिपि निर्विवाद रूप से पढ़ ली जाएगी, तभी इस बात का निर्णय हो सकेगा कि वहाँ की सभ्यता का विकास आर्य जाति द्वारा किया गया था या उससे पूर्ववर्ती किसी अन्य जाति द्वारा।

(३) दस्यु और दास

वैदिक संहिताओं के अनेक स्थलों पर इन्द्र द्वारा दस्युओं और दासों के परास्त किये जाने का वर्णन है। ये दस्यु और दास सुदृढ़ पुरों (नगरों) में निवास करते थे, और बहुत सम्पन्न एवं समृद्ध थे। वेदों के इन्हीं वर्णनों के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि सिन्धु-सभ्यता के निवासियों की ही संज्ञा दस्यु एवं दास थी, जिन्हें परास्त कर आर्यों ने इस सभ्यता के क्षेत्र पर अपना अधिकार स्थापित किया था।

---

१. चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥' अथर्ववेद ११।२।९

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।" ऋग्वेद १।१६४।२०

दस्युओं और दासों के परास्त व नष्ट किये जाने के सम्बन्ध में कतिपय मन्त्रों का यहाँ उल्लिखित करना उपयोगी होगा। एक मन्त्र में यह कहा गया है कि दभीति के लिए इन्द्र ने अपनी माया द्वारा तीस सहस्र दासों को धराशायी कर दिया[1] और एक सहस्र दस्युओं को रस्सी बिना ही फाँसी लगाकर मार डाला[2]। दधीचि और मातरिश्वा के लिए इन्द्र ने गोत्र (गोव्रज या गोचर भूमि) दस्युओं से जीत लिया,[3] और दासों के सात पुरों पर अधिकार कर लिया।[4] वेदों में कितने ही स्थानों पर इन्द्र को दस्योर्हन्ता[5] (दस्युओं का घातक) और दस्युहा[6] (दस्युओं का घातक) आदि कहा गया है और उस द्वारा दस्युओं व दासों के ध्वंस का उल्लेख है।[7] दस्यु लोगों के अनेक नेताओं या राजाओं के नाम भी वेदों में आये हैं और इन्द्र द्वारा उन्हें परास्त करने का वर्णन किया गया है। ऐसा एक दस्यु शम्बर था, जिसके पास बहुत-से पुर (दुर्गरूप नगर) थे। इनकी संख्या ९०,९९ और १०० बतायी गई है। सम्भवतः ये दुर्ग पर्वत (गिरि) पर स्थित थे। इन्द्र ने शम्बर को परास्त कर इन दुर्गों पर दिवोदास और अतिथिग्व का अधिकार स्थापित कराया।[8] दिवोदास और अतिथिग्व एक ही व्यक्ति के परिचायक हैं या दो भिन्न व्यक्तियों के, इस प्रश्न पर मतभेद है। पर यह स्पष्ट है कि आर्य जाति के इन दो वीर नेताओं ने इन्द्र देवता की सहायता से दस्युराज शम्बर को परास्त कर उसके पुरों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। एक अन्य दास या दस्यु राजा पिप्रु था। इसके पास भी बहुत-से पुर या दुर्ग थे, जिन्हें ऋजिश्वा के लिए इन्द्र द्वारा जीत लिया गया था। इन्द्र द्वारा पचास हजार 'कृष्ण' (काले रंग वाले) लोगों को परास्त करने और उनके पुरों को नष्ट करने के अनन्तर पिप्रु को ऋजिश्वा के सम्मुख

---

१. 'अस्वापयद् दभीतये सहस्रा त्रिंशतं। दासानामिन्द्रो मायया ॥'
२. 'अरज्जौ दस्यून्त्समुनब्दभीतये सुप्राव्यो अभवः सास्युक्थ्यः ॥" ऋग्वेद २।१३।९
३. "अहं दस्युभ्यः परिनृम्णमा ददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने।"
ऋग्वेद १०।४८।२
४. सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्द्धन्दासीः पुरुकुत्साय शिक्षन्।' ऋग्वेद ६।२०।१०
५. 'यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः।' ऋग्वेद २।१२।१०
६. 'स वज्रभृद् दस्युहा भीम उग्रः।' ऋग्वेद १।१००।१२
७. इन्द्रो यो दस्यूंरधरां अवातिरत्।' ऋग्वेद १।१०१।५
'अरन्धयः शर्धत इन्द्र दस्यून्।' ऋग्वेद ६।२३।२
८. 'भिनत्पुरो नवतिमिन्द्र पूरवे दिवोदासाय महि दाशुषे नृतो वज्रेण दाशुषे नृतो।
अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत् ॥' ऋग्वेद १।१३०।७
'अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।
यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्रमपावपद् भरता सोममस्मै ॥' ऋग्वेद १।१४।६
'दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्रः पुरो व्यैरच्छम्बरस्य।' ऋग्वेद २।१९।६

सिर झुका देने के लिए विवश किया गया था।[1] दास लोगों का एक अन्य नेता नमुचि था, जिसे परास्त करने से पूर्व इन्द्र को उसके ९९ पुरों को ध्वंस करना पड़ा था।[2] पिप्रु और नमुचि को वेदों में कहीं दास कहा गया है, और कहीं असुर। इससे इनके आर्यभिन्न जाति का होने का संकेत मिलता है। इसी प्रकार धुनि, चुमुरि और वर्चिन् भी दासों के नेता थे, जिन्हें इन्द्र ने पराभूत किया था।[3] इन्हें कतिपय मन्त्रों में असुर भी कहा गया है। इभीक, दृभिका, अनर्शनि सृबिन्द और इलीबिस आदि कतिपय अन्य दास-नेताओं का भी उल्लेख वेदों में आया है[4], और इन्द्र द्वारा उनको पराजित किये जाने का वर्णन किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक संहिताओं में दस्युओं और दासों तथा उनके नेताओं का जिस रूप में उल्लेख हुआ है, उससे डाकू या गुलाम अभिप्रेत नहीं हो सकते। वे स्पष्टतया ऐसे जनसमूहों को सूचित करते हैं, जो आर्यों के शत्रु थे और जिन्हें परास्त करने के लिए आर्य नेताओं को इन्द्र के साहाय्य की आवश्यकता हुई थी। दस्यु और दास आर्यों से स्पष्टतया भिन्न थे, यह वेद-मन्त्रों की साक्षी से ही प्रमाणित हो जाता है। एक मन्त्र में कहा गया है कि कौन आर्य है और कौन दस्यु है, इसकी पहचान करो।[5] इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में दासों को आर्यों से भिन्न कहा गया है।[6] वैदिक आर्यों के दस्युओं और दासो से घोर युद्ध हुए थे, और उन्हें परास्त करके ही आर्य लोग इस देश में अपने पैर जमा सके थे। दास व दस्यु पहले यहाँ स्थायी रूप से बसे हुए थे। उनके बहुत-से दुर्ग और पुर भी यहाँ विद्यमान थे, जिन्हें इन्द्र द्वारा दिवोदास आदि आर्य नेताओं के लिए ध्वंस कर दिया गया था। वेदों द्वारा सूचित ऐतिहासिक तथ्यों को दृष्टि में रख कर यदि यह मन्तव्य प्रतिपादित किया जाए कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता दस्युओं व दासों द्वारा ही विकसित की गई थी, तो इसे सर्वथा असंगत या अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।

दस्युओं व दासों के विषय में कतिपय ऐसी बातों का भी वेदों में उल्लेख है, जिनसे उनके धार्मिक विश्वासों तथा शारीरिक विशेषताओं का कुछ आभास प्राप्त किया जा सकता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में दस्यु के लिए 'अयज्वानम्' (यज्ञ न करने वाले), 'अदेवयुम्' (देवताओं को न मानने वाले) और 'अन्यव्रतम्' (भिन्न आचरण

---

१. 'त्वं पिप्रुं मृगयं शूशुवांसमृजिश्वने वैदथिनाय रन्धीः।
पञ्चाशत् कृष्णा निवपः सहस्रात्कं न पुरो जरिमा वि दर्दः॥' ऋग्वेद ४।१६।१३

२. 'तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत्पुरो नवतिं च सद्यः'
निवेशने शततमाविवेषीरहन् च वृत्रं नमुचिमुताहन्॥' ऋग्वेद ७।१९।५

३. 'त्वं ह त्यदिन्द्र विश्वमाजौ सस्तो धुनी चुमुरी या ह सिष्वप्।' ऋग्वेद ६।२०।१३
'अहन् दासा वृषभो वस्नयन्तोदव्रजे वर्चिनं शम्बरं च।' ऋग्वेद ६।४७।२१

४. दृभिका, ऋग्वेद २।१४।३; सृबिन्द, ऋग्वेद ८।३२।२; इलीबिश,
ऋग्वेद १।३३।१२

५. 'विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।' ऋग्वेद १।५१।८

६. 'अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्।' ऋग्वेद १०।८६।१९

वाले) विशेषणों का प्रयोग किया गया है ।[1] एक अन्य मन्त्र में दस्यु को 'अब्रह्मा' (ब्रह्म या वेद को न मानने वाले) और 'मायावान्' कहा गया है।[2] दस्यु के लिए 'अव्रत' विशेषण का प्रयोग अनेक मन्त्रों में हुआ है ।[3] ये सब बातें यह सूचित करने के लिए पर्याप्त हैं, कि दस्यु जाति के लोग न वैदिक देवताओं को मानते थे, न याज्ञिक अनुष्ठान करते थे, न वे वेदों में विश्वास रखते थे और न आर्यों के व्रतों या सदाचरण के नियमों का पालन करते थे । धार्मिक दृष्टि से वे आर्यों से सर्वथा भिन्न थे । वेदमन्त्रों में दस्युओं को 'अनासः' (नासिकारहित, जिसकी नाक चपटी हो) और 'मृध्रवाचः'[4] भी कहा गया है । 'मृध्रवाचः' के अभिप्राय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । यास्काचार्य ने निरुक्त में इसका अर्थ 'मृदुवाचः' किया है । यही विशेषण पणियों के लिए भी प्रयुक्त किया गया हैं । कतिपय विद्वान् मृध्रवाचः का अर्थ 'अस्पष्ट वाणी वाले' करते हैं । जिस प्रकार दस्युओं की मुखाकृति 'अनास' होने के कारण आर्यों से भिन्न थी, वैसे ही उनकी वाणी या भाषा में भी आर्यों से भिन्नता विद्यमान थी ।

जिन दस्युओं व दासों को आर्यों ने घोर युद्धों में परास्त कर उनकी पुरियों का ध्वंस किया था, उनके प्रति आर्यों का व्यवहार अत्यन्त कठोर रहा होगा, यह कल्पना सहज में की जा सकती है । पराभूत दस्यु व दास जातीय लोगों को आर्यों ने अपना गुलाम बना लिया होगा, जिसके कारण दास शब्द ही गुलाम या नौकर के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा । दस्यु शब्द का प्रयोग भी आर्यों द्वारा बुरे अर्थ में किया जाने लगा, और चोरों तथा डाकुओं की संज्ञा दस्यु हो गई । आर्यों द्वारा परास्त होकर दस्यु व दास जाति के बहुत-से व्यक्ति पर्वतों की गुहाओं में जाकर छिप गए थे और इस प्रकार वे अपने को आर्यों के कोप से बचा सकने में समर्थ हुए थे । ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि गृत्समद ने इन्द्र के वीरकृत्यों का परिगणन करते हुए कहा है कि उसने दास वर्ग के लोगों को गुहाओं में छिप जाने के लिए विवश किया था ।[5] इस प्रकार जो दस्युजातीय लोग आर्यों के दास्यत्व में आने से बच गए थे, उनका कुछ परिचय ऐतरेय ब्राह्मण से प्राप्त किया जा सकता है । वहाँ आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब आदि दस्युजातियों का उल्लेख किया गया है ।[6] सम्भवतः, ये ही वे जातियाँ थीं, जो इन्द्र की सहायता से आर्यों द्वारा परास्त की गई थीं, और जिन्होंने आर्यों से अपनी रक्षा करने के लिए सुदूरवर्ती पार्वत्य एवं जांगल प्रदेशों में जाकर आश्रय ग्रहण किया था ।

---

१. 'अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् ।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ॥' ऋग्वेद ८।७०।११

२. 'अक्रतिभिस्तमिषणो सुम्नहूतो नि मायावानब्रह्मा दस्युरर्त ।' ऋग्वेद ४।१६।९

३. 'सूर्वन्तो दस्युमायवो व्रतैः सीक्षन्तो अव्रतम् ।' ऋग्वेद ९।१४।३

४. 'अनासो दस्यूंरमृणो वधेन नि दुर्योण आवृणङ् मृध्रवाचः ।' ऋग्वेद ५।२९।१०

५. 'येनेमा विश्वाच्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥' ऋग्वेद २।१२।४

६. ऐतरेय ब्राह्मण ३३।६

यह तो स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों को भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए घोर युद्धों की आवश्यकता हुई थी। इन्द्र की स्तुति में जो सूक्त ऋग्वेद में विद्यमान हैं, उनसे इन युद्धों का कुछ आभास मिल जाता है। सिन्धु-घाटी की जिस सभ्यता के भग्नावशेष मोहनजोदड़ो, हड़प्पा व अन्यत्र उपलब्ध हुए हैं, वह दस्यु व दास जातीय लोगों की थी और उसे नष्ट करके ही आर्यों ने भारत के सप्तसिन्धव व अन्य प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था, इस मन्तव्य में कुछ युक्तियुक्तता है, यह स्वीकार करना होगा।

छठा अध्याय

आर्य-जाति और उसका मूल निवासस्थान

(१) आर्य-जाति

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब कतिपय यूरोपियन विद्वानों ने भारत के सम्पर्क में आकर संस्कृत भाषा का अध्ययन शुरू किया, तो उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, कि संस्कृत की लेटिन और ग्रीक भाषाओं के साथ बहुत समता है। यह समता केवल शब्दकोष में ही नहीं है, अपितु व्याकरण में भी है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में यह 'आविष्कार' बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसे प्रकट करने वाले प्रथम विद्वान् केअर्दू थे, जिन्होंने १७६७ ई० में ग्रीक और लेटिन की संस्कृत के साथ समता का प्रतिपादन किया था। केअर्दू फ्रेंच थे, और इसी कारण ब्रिटिश विद्वानों ने उनके आविष्कार पर अधिक ध्यान नहीं दिया। उनके कुछ समय बाद सर विलियम जोन्स नामक अंग्रेज विद्वान् ने १७८६ ई० में इसी तथ्य को प्रकट किया, और उन्होंने यह प्रतिपादित किया, कि सस्कृत, लेटिन, ग्रीक, जर्मन और केल्टिक भाषाएँ एक ही भाषा-परिवार की हैं, और इनका मूल उद्गम स्थान एक ही है। जोन्स की इस स्थापना से यूरोप के विद्वानों में एक तहलका-सा मच गया। हीगल ने तो यहाँ तक लिख दिया, कि जोन्स का यह आविष्कार एक नई दुनिया के आविष्कार के समान है। इस समय से उस नये विज्ञान का प्रारम्भ हुआ, जिसे हम तुलनात्मक भाषाविज्ञान कहते हैं। संसार की वर्तमान और प्राचीन भाषाओं का अध्ययन कर विद्वान लोग शब्दकोष और व्याकरण की दृष्टि से उनकी तुलना करने लगे, और उन्हें विविध भाषा-परिवारों में विभक्त करने लगे। इस विवेचना से विद्वानों ने यह परिणाम निकला, कि इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिश, ग्रीक, केल्टिक, जर्मन, इङ्गलिश, ट्यूटानिक, स्लावोनिक, लिथुएनियन, लेटिन, अल्बेनियन आदि यूरोपीयन भाषाएँ, उत्तरी भारत की हिन्दी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, बंगाली, उड़ीसा आदि भाषाएं और पश्चिमी एशिया की जन्द, पर्शियन, पश्तो, बलूची, कुर्द और आर्मीनियन भाषाएँ एक विशाल भाषा-परिवार की अंग हैं। यूरोप और एशिया की इन सब भाषाओं मे शब्दकोष और व्याकरण की जो आश्चर्यजनक समता है, वह आकस्मिक नही हो सकती। इस समता का कारण यही हो सकता है कि इन विविध भाषाओं को बोलने वाले लोगों के पूर्वज किसी अत्यन्त प्राचीन काल में एक स्थान पर निवास करते थे, और एक भाषा बोलते थे। बाद में जब वे अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर विविध प्रदेशों में बस गये, तो उनकी भाषाएँ पृथक् रूप से विकसित हो गईं। पर उनमें वह समता कायम रही, जो हमें इस समय

आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। जिस प्रकार गुजराती, मराठी, बंगाली, हिन्दी आदि विविध भारतीय भाषाओं का उद्गम प्राचीन संस्कृत भाषा से हुआ, वैसे ही यूरोप और एशिया की इन भाषाओं का स्रोत एक ऐसी प्राचीन भाषा थी, जिसका स्वरूप हमें अज्ञात है। यदि यह बात सत्य है, कि अटलांटिक महासागर के समुद्र-तट से भारत तक विस्तृत इस विशाल क्षेत्र में (पश्चिमी एशिया की सेमेटिक भाषाओं और यूरोप की तुर्क, मगयार और फिन भाषाओं के क्षेत्रों को छोड़कर) जो भाषाएँ अब बोली जाती हैं उनका उद्गम एक है, तो साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा, कि इनको बोलने वाले लोग भी एक विशाल जाति के अंग हैं, और किसी प्राचीन काल में वे एक स्थान पर ही निवास करते थे। अनेक विद्वानों ने शरीर की रचना और आकृति के आधार पर भी इस मन्तव्य की पुष्टि की, और यह बात सर्वमान्य-सी हो गई, कि यूरोप, ईरान और भारत के बहुसंख्यक निवासी जाति की दृष्टि से एक हैं, और उनके रंग, रूप व भाषा आदि में जो भेद इस समय दिखायी देता है, उसका कारण जलवायु की भिन्नता और चिरकाल से एक-दूसरे से पृथक् रहना है।

इस जाति का नाम क्या हो, इस सम्बन्ध में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। इसके लिए विविध लेखकों ने 'इण्डो-जर्मन', 'इण्डो-यूरोपीयन', 'इण्डो-ईरानियन', 'आर्यन्' आदि विविध नामों का उपयोग किया है। कुछ लेखकों ने इसके लिए 'वीरा:' या 'वीरोस्' शब्द चुना है, क्योंकि इस भाषा-परिवार की अनेक प्राचीन भाषाओं में मनुष्य के लिए 'वीर' या इससे मिलते-जुलते शब्द विद्यमान हैं। पर अधिक प्रचलित शब्द 'आर्यन्' या 'आर्य' है, और हमने भी इसी को उपयुक्त समझा है। संस्कृत और प्राचीन ईरानियन भाषाओं में आर्य शब्द ही अपनी जाति के लिए प्रयुक्त होता था। भारत के आर्य लोग तो अपने को आर्य कहते ही थे, ईरानी लोग भी इसी का उपयोग करते थे। ईरान शब्द स्वयं आर्य का अपभ्रंश है, और इस शब्द की स्मृति आयरलैण्ड के 'आयर' शब्द में भी विद्यमान है। इन दृष्टियों से बहुसंख्यक विद्वान् इस विशाल जाति के लिए आर्य संज्ञा का उपयोग करना ही उपयुक्त समझते हैं।

(२) आर्य-जाति का मूल अभिजन

जो विशाल आर्य-जाति इस समय अटलांटिक महासागर से भारत तक फैली हुई है, उसका मूल अभिजन (निवास-स्थान) कौन-सा था, इस सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। इसमें से कतिपय प्रमुख मतों पर हम यहाँ संक्षेप से प्रकाश डालेंगे:—

(१) **मध्य एशिया**—आर्य-जाति का मूल अभिजन मध्य-एशिया (ईरान के उत्तर और कैस्पियन सागर के पूर्व) में था, इस मत को सबसे पूर्व १८२० ई० में जे० जी० र्‌होड ने प्रतिपादित किया था। ईरान की प्राचीन अनुश्रुति को दृष्टि में रख कर र्‌होड ने यह मत स्थिर किया, कि आर्य लोग शुरू में बैक्ट्रिया में निवास करते थे, और वहाँ से वे दक्षिण-पूर्व और पश्चिम दिशाओं में फैले। श्लीगल और पॉट ने र्‌होड के मत का समर्थन किया। पॉट का कथन था, कि बाद के इतिहास में हम देखते हैं

कि कितनी ही जातियाँ मध्य-एशिया के क्षेत्र से पूर्व और पश्चिम की तरफ फैलीं। जो प्रक्रिया बाद के इतिहास में हुई, वही प्राचीन युग में भी हुई थी, और आर्य लोग इसी क्षेत्र से अन्य प्रदेशों में आकर बसे थे। सन् १८५६ में प्रोफेसर मैक्स मूलर ने मध्य-एशिया के आर्यों का मूल निवास-स्थान होने के मत की प्रबलता के साथ पुष्टि की। आर्य लोग पहले मध्य-एशिया में निवास करते थे, उनकी एक शाखा दक्षिण-पूर्व की ओर चली गई। इसी से आगे चलकर ईरानी और भारतीय आर्यों के रूप में दो उपशाखाएँ हो गईं। ईरानी और भारतीय आर्य चिरकाल तक एक साथ रहे थे। यही कारण है, कि उनमें बहुत अधिक समता पायी जाती है। आर्य जाति की अन्य शाखाएँ पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ती गईं, और धीरे-धीरे सारे यूरोप में फैल गईं। सन् १८७४ में प्रोफेसर सेग्रस ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर मध्य-एशिया में आर्यों के मूल अभिजन होने के मत की पुष्टि की। उन्होंने कहा, कि वेद और जेन्दावस्ता के अनुशीलन से यह सूचित होता है, कि आर्य लोग पहले एक ऐसे स्थान पर रहते थे, जहाँ शीत की अधिकता थी। ऋग्वेद में वर्ष को सूचित करने के लिए 'हिम' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ अनेक मन्त्रों में ऐसे पद आये हैं, जिनमें 'हिम' से वर्ष ही अभिप्रेत है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में सौ हिमों (वर्षों) तक जीवित रहने की प्रार्थना की गई है।[1] भारत में अधिक हिमपात नहीं होता। सप्त-सिन्धव देश में तो इसका प्रायः अभाव ही रहता है। मध्य-एशिया जैसे शीतप्रधान प्रदेश में ही हेमन्त ऋतु का इतना महत्त्व हो सकता है, कि उससे ही वर्ष को सूचित किया जाए। ऋग्वेद के एक मंत्र से घोड़े के खाये जाने का भी संकेत मिलता है।[2] साथ ही, उसमें नाव चलाने का भी उल्लेख है,[3] और वृक्षों में पीपल तथा अन्नों में यव का वर्णन है। अतः आर्यों का मूल अभिजन कोई ऐसा प्रदेश होना चाहिये, जहाँ खूब सरदी पड़ती हो, नाव चलाने की सुविधा हो, घोड़ों की प्रचुरता हो, और पीपल का वृक्ष भी होता हो। मध्य एशिया का प्रदेश ऐसा ही है। कैस्पियन सागर के समीप होने के कारण वहाँ नौकानयन की सुविधा है, और ऋग्वेद में उल्लिखित जीव व वनस्पतियाँ वहाँ उपलब्ध हैं। क्योंकि जेन्दावस्ता में इस बात का भी निर्देश मिलता है, कि आर्य लोग पहले बैक्ट्रिया में निवास करते थे, अतः कैस्पियन सागर के पूर्ववर्ती मध्य एशिया के प्रदेश को ही आर्यों का मूल निवासस्थान मानना उपयुक्त होगा।

(२) **उत्तरी ध्रुव**—भारत के प्रसिद्ध विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने आर्यों के मूल अभिजन के सम्बन्ध में यह मत प्रतिपादित किया, कि शुरू में आर्य लोग उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में रहते थे। जलवायु की स्थिति में परिवर्तन होने के कारण

---

१. 'इदं सु मे मरुतो हर्यता वचो यस्य तरेम तरसा शतं हिमाः।' ऋग्वेद ५।५४।१५

२. 'ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु॥' ऋग्वेद १।१६२।१२

३. 'अवविद्धं तौग्र्यमप्स्वन्तरनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्।
चतस्रो नावो जठलस्य जुष्टा उदश्विभ्यामिषिताः पारयन्ति॥' ऋग्वेद १।१८२।६

बाद में वे अन्य स्थानों पर जाने के लिए विवश हुए। तिलक ने इस मत को प्रधानतया वैदिक संहिताओं के आधार पर पुष्ट किया था। इसमें सन्देह नहीं, कि ऋग्वेद के निर्माण के समय आर्य लोग सप्तसिन्धव (पंजाब एवं समीपवर्ती प्रदेश) देश में आ चुके थे। पर उस युग की स्मृति अभी उनमें विद्यमान थी, जबकि वे उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में निवास करते थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में छह मास की रात और छह मास के दिन का वर्णन आता है।[1] एक सूक्त में उषा की स्तुति की गई है। यह वैदिक उषा भारत की उषा नहीं है, जो कुछ मिनटों तक रहती है। यह एक अत्यन्त सुदीर्घकाल तक रहने वाली उषा है, जो समाप्त ही नहीं होती है।[2] ऐसी उषा उत्तरी ध्रुव के प्रदेशों में ही होती है, मध्य-एशिया या भारत में नहीं। महाभारत में सुमेरु पर्वत का वर्णन आता है, जहाँ देव लोगों का निवास है। सूर्य, चन्द्र और तारे मेरु की प्रदक्षिणा करते है। सुमेरु के क्षेत्र में एक साल का अहोरात्र होता है। इस पर्वत पर बहुत-सी वनस्पतियाँ व औषधियाँ भी उत्पन्न होती है।[3] जिस पर्वत पर एक साल का अहोरात्र होता हो, वह केवल उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में ही हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि महाभारत के इस वर्णन मे उस समय की स्मृति सुरक्षित है, जब कि आर्य लोग उत्तरी ध्रुव मे निवास करते थे, और जब कि हिमप्रलय के पूर्ववर्ती समय मे वह प्रदेश वनस्पति आदि से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्यों के निवासयोग्य था। यद्यपि आर्य लोग वहाँ से चले आये थे, पर अपने प्राचीन अभिजन को वे आदर की दृष्टि से देखते थे, और यह कल्पना करते थे, कि देव लोग अब तक भी वहाँ निवास करते हैं।

प्राचीन ईरानियों के धर्मग्रन्थ जेन्दावस्ता की प्रथम पुस्तक वेन्दिदाद में भी कतिपय ऐसे निर्देश मिलते हैं, जो आर्यों के मूल अभिजन पर प्रकाश डालते हैं। उनके अनुसार अहुरमज्द ने पहले-पहल 'ऐर्य्यन वेइजो' (आर्यों का बीज या मूल) का निर्माण किया। इस प्रदेश में सरदी के दस महीने और गरमी के दो महीने होते थे। ऐर्य्यन वेइजो के बाद अहुरमज्द ने सुग्ध और फिर मोउरु का निर्माण किया। अनेक विद्वानों

---

१. ऋग्वेद १०।१३८।३ और २।२७।१४

२. 'तानी दहानि बहुलान्यासन्या प्राचीन मुदिता सूर्यस्य।
यतः परिजार इवाचरन्त्युषो ददृक्षे न पुनर्यतीव ।। ऋग्वेद ७।७६।३
इस मन्त्र में यह निर्देश विद्यमान है, कि उषा के प्रकट होने और सूर्य के उदय होने के बीच बहुत 'अहः' (समय) बीत गया। यह उत्तरी ध्रुव में ही सम्भव है। इसी प्रकार
'शश्वत्पुरोषा व्युवास देव्यथो अद्येदं व्यावो मघोनी।' (ऋग्वेद १।११३।१३
मन्त्र में यह कहा गया है कि पुरातन समय में उषा शाश्वत (बहुत सुदीर्घ समय तक) प्रकाश करती थी। यह उस युग की स्मृति में कहा गया है, जब आर्यों का निवास उत्तरी ध्रुव में था।

३. महाभारत वनपर्व, अध्याय १३४, १६४।

के अनुसार यह ऐर्य्यन वेइजो देश उत्तरी ध्रुव के समीप ही कहीं स्थित था। जेन्दा-वस्ता में अहुरमज्द द्वारा निर्मित विविध देशों का जो क्रम लिखा गया है, अनेक विचारकों के अनुसार वह आर्यों के विस्तार को सूचित करता है। पर ऐर्य्यन वेइजो उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में ही कहीं था, इस बात से सब विद्वान् सहमत नहीं हैं। कतिपय विद्वान् इस प्रदेश को ईरान के उत्तर में स्थित मानते हैं।

(३) **सप्तसिन्धव देश**—भारत के ही कुछ अन्य विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया, कि आर्य लोगों का मूल अभिजन सप्तसिन्धव देश था। सरस्वती, शतुद्रि, विपाशा, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता और सिन्धु—इन सात नदियों द्वारा सिञ्चित प्रदेश का प्राचीन नाम सप्तसिन्धव देश था। आर्य लोगों का यही प्राचीन अभिजन था, और यहीं से वे सारे भारत में तथा पश्चिम की ओर यूरोप तक फैले। इस मत के प्रधान समर्थक श्री अविनाशचन्द्र दास हैं। उन्होंने बड़े विस्तार से यह प्रतिपादित किया है, कि ऋग्वेद के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है, कि आर्य लोग इन सात नदियों के प्रदेश में निवास करते थे। उस समय वर्तमान राजपूताना, पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल के प्रदेशों में समुद्र था। इन्हीं को वैदिक आर्य दक्षिणी और पूर्वी समुद्र कहते थे। ऋग्वेद के आधार पर ही श्रीयुत दास ने यह प्रदर्शित किया है, कि आर्यों की एक शाखा अहुरमज्द (असुर मेधावी) की उपासिका होने के कारण अन्य आर्यों के साथ संघर्ष में व्यापृत हुई और उनसे परास्त होकर पश्चिम में जाकर ईरान में बस गई। वैदिक आर्य देवों के उपासक थे, और ईरान में बसने वाले आर्य असुरों के। पहले ये एक साथ सप्तसिन्धव देश में निवास करते थे। पर धार्मिक मतभेद के कारण इनमें घोर संग्राम हुआ, जिसे वैदिक साहित्य से देवासुर-संग्राम कहा गया है। इसमें असुर लोग परास्त हुए और अपना मूल अभिजन छोड़कर पश्चिम में ईरान के प्रदेशों में बस जाने के लिए विवश हुए। सप्तसिन्धव के क्षेत्र में निवास करने वाली एक अन्य आर्य-जाति, जिसे 'पणि' कहते थे, व्यापार में विशेष कुशल थी। वह भी पश्चिम की ओर जाकर बस गई, और आगे चलकर प्युनिक व फिनीशियन जाति कहायी। पश्चिमी एशिया के सेमेटिक लोगों पर इस पणि-जाति का बहुत प्रभाव पड़ा। आर्य-जाति की अन्य शाखाएँ सप्तसिन्धव देश से यूरोप में भी गई, और यूरोप की भाषाओं तथा संस्कृत एवं प्राचीन ईरानी भाषाओं में जो समता दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण आर्य-जातियों का यह विस्तार ही है।

श्रीयुत दास ने लोकमान्य तिलक की उन युक्तियों की भी विस्तृत रूप से आलोचना की, जिनके आधार पर उत्तरी ध्रुव को आर्यों का मूल अभिजन प्रतिपादित किया गया था। उनके मत में यह तो स्पष्ट ही है, कि ऋग्वेद के समय के आर्य सप्त-सिन्धव देश में निवास करते थे। उत्तरी ध्रुव की सुदीर्घ उषा, और छह मास के दिन तथा रात का जो वर्णन कहीं-कहीं वैदिक सूक्तों में आ जाता है, उसका कारण यह भी हो सकता है, कि वैदिक आर्यों को सप्तसिन्धव देश से बाहर के अन्य देशों का भी ज्ञान था।

श्री अविनाशचन्द्र दास ने जिस युक्ति-परम्परा द्वारा सप्तसिन्धव देश को आर्यों

का मूल निवासस्थान प्रतिपादित किया है, उस पर कुछ अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डालना उपयोगी है, क्योंकि यह मत भारत के अन्य भी अनेक विद्वानों को स्वीकार्य है। ऋग्वेद में भारतीय इतिहास की प्राचीनतम घटनाओं का सम्बन्ध सिन्धु, सरस्वती तथा सप्तसिन्धव देश की अन्य नदियों के साथ जोड़ा गया है। एक सूक्त में इन्द्र के उन वीर कृत्यों का उल्लेख है जो उस द्वारा सबसे पहले (प्रथमानि) किये गये थे।[1] इनका वर्णन करते हुए यह भी कहा गया है कि इन्द्र ने सात नदियों (सप्तसिन्धून्) को अप्रतिहत प्रवाह वाली बनाया।[2] ये सात नदियां सप्तसिन्धव देश की ही थीं। अन्यत्र एक मन्त्र में कहा गया है, कि महान् इन्द्र ने सिन्धु (नदी) पर आश्रय ग्रहण किए हुए मायावी वृत्र का घात कर दिया।[3] सिन्धु नदी के समान सरस्वती, विपाशा आदि अन्य नदियों का भी इन्द्र के समान सम्बन्ध ऋग्वेद में निर्दिष्ट है। एक मन्त्र में सरस्वती को 'वृत्रघ्नी' कहा गया है,[4] और वृत्र के विनाश के लिए इन्द्र द्वारा उसका साहाय्य प्राप्त करने का संकेत किया गया है।[5] सरस्वती नदी के साथ वैदिक ऋषि इतनी आत्मीयता अनुभव करते थे कि एक मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि वह सदा उनका पालन करती रहे, उनके साथ सदा मैत्री भाव से रहे और उसके क्षेत्रों तथा अरण्यों को उन्हें कभी छोड़ना न पड़े।[6] सरस्वती की सप्त स्वसाओं का भी एक मन्त्र में उल्लेख है,[7] जिनसे सप्तसिन्धव की सात नदियाँ ही अभिप्रेत हैं। इन्द्र आर्यों का प्रधान देवता था। वेदों के कितने ही सूक्तों में उसकी स्तुति तथा उसके वीरकृत्यों का वर्णन विद्यमान है। उसके जो सबसे पुराने (प्रथमानि) वीरकृत्य थे, उनका सम्बन्ध सिन्धु और सरस्वती के ही साथ था, किसी ऐसे प्रदेश से नहीं जो भारत के क्षेत्र से बाहर हो। ऋग्वेद में कोई भी ऐसा मन्त्र नहीं है, जिससे आर्यों के कहीं बाहर से आकर सिन्धु व सरस्वती के प्रदेश में बसने का संकेत मिलता हो।

सोम प्राचीन आर्यों का प्रिय पेय था। यज्ञ के लिए भी उसका बहुत उपयोग था। वैदिक यज्ञों में सोमयाग का प्रमुख स्थान था, और उसका अनुष्ठान वैदिक धर्म का प्राचीनतम अंग था। यज्ञों के अतिरिक्त सामान्य जीवन में भी आर्य लोग सोम का

---

१. इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥ ऋग्वेद १।३२।१

२. अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन्देव एकः।
अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्तसिन्धून् ॥ ऋग्वेद १।३२।१२

३. इन्द्रो महां सिन्धुमाशयानं मायाविनं वृत्रमस्फुरन्निः। ऋग्वेद २।११।६

४. उतस्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः। वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम् ॥
ऋग्वेद ६।६१।७

५. यस्त्वा देवि सरस्वत्युपब्रूते धने हिते। इन्द्रं न वृत्रतूर्ये। ऋग्वेद ६।६१।५

६. सरस्वत्यभि नो नेषि वस्यो माप स्फरीः पयसा मा न आधक्।
जुषस्व नः सख्या वेश्या च मा त्वत्क्षेत्राण्यरणानि गन्म ॥ ऋग्वेद ६।६१।१४

७. उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा। सरस्वती स्तोम्या भूत् ॥
ऋग्वेद ६।६१।१०

पान किया करते थे। इन्द्र के विषय में तो एक मन्त्र में यहाँ तक कह दिया गया है, कि जन्म के साथ ही उसने पीयूष (अमृत) के समान सोम का पान प्रारम्भ कर दिया था।[1] सोम एक वनस्पति का नाम था, जिसके रस को अत्यन्त गुणकारी व बलवर्धक माना जाता था। यह वनस्पति शर्यणावत तथा मुञ्जवान् पर्वत पर उगती थी।[2] शर्यणावत की भौगोलिक स्थिति स्पष्ट नहीं है, पर मुञ्जवान् पर्वत हिमालय के उत्तरी क्षेत्र में था, यह निर्विवाद है। महाभारत में हिमगिरि के पृष्ठभाग में मुञ्जवान् नामक पर्वत की स्थिति बतायी गई है।[3] ऋग्वेद के एक मन्त्र में सिन्धु नदी को सोम की माता कहा गया है,[4] और एक अन्य मन्त्र से यह संकेत मिलता है कि यह वनस्पति सिन्धु की लहरों के साथ बहकर आया करती थी।[5] सम्भवतः, सोम हिमालय के उस क्षेत्र में उत्पन्न होती थी, जहाँ से होकर सिन्धु नदी मैदान में उतरती थी। इसीलिये वह सिन्धु नदी की लहरों के साथ बह कर भी आ जाया करती थी। जिस सोम का प्राचीनतम याज्ञिक कर्म काण्ड में बहुत अधिक महत्त्व था, और जिसका रस आर्यों का सबसे प्रिय पेय था, वह जिस प्रदेश में उत्पन्न होती थी उससे भिन्न कहीं अन्यत्र उनके निवासस्थान की कल्पना असंगत है।

पारसियों के धर्मग्रन्थ जेन्दावेस्ता में भी सोम का उल्लेख है, पर वहाँ इसे 'होम' कहा गया है। उच्चारण भेद से 'स' 'ह' हो जाता है, इसके अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। पहले आर्यों की ईरानी शाखा के लोग भी सोम या होम का उपयोग किया करते थे। पर जब वे हिमालय के समीपवर्ती सप्तसिन्धव देश से अन्यत्र चले जाने के लिए विवश हो गये (जिसका कारण अनेक विषयों पर अन्य आर्यों से उनका मतभेद व विरोध था), तो उनके लिए सोम को प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं रह गया और उनके धार्मिक कर्मकाण्ड में इस वनस्पति का वह महत्त्व नहीं रह सका, जो सप्तसिन्धव देश में निवास करने वाले आर्यों के याज्ञिक अनुष्ठानों में था।

ऋग्वेद के अनुशीलन से उस प्रदेश का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है, जहाँ कि वैदिक ऋचाओं की रचना के समय आर्य लोगों का निवास

---

१. यज्जायथास्तदहरस्य कामेंऽशोः पीयूषमपिबो गिरिष्ठाम्। ऋग्वेद ३।४८।
२. 'ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे। ये वादः शर्यणावति ॥'
ऋग्वेद ९।६५।२२
'शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा।
बलं दधान आत्मनि करिष्यन्वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥' ऋग्वेद ९।११३।१
'सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्। ऋग्वेद १०।३४।१
३. गिरेर्हिमवतः पृष्ठे मुञ्जवान् नाम पर्वतः।
तप्यते तत्र भगवान् तपो नित्यमुमापतिः ॥महाभारत १४।८।१
४. 'एतमुत्यं दश क्षिपो मृजन्ति सिन्धु मातरम्। समादित्येभिरख्यत ॥'
ऋग्वेद ९।६१।७
५. अयं स यो दिवस्परि रघुयामा पवित्र आ। सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत् ॥'
ऋग्वेद ९।३९।४

था। इस प्रदेश में गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि (सतलुज), परुष्णी (रावी), असिक्नी (चनाव), वितस्ता (जेहलम), मरुद्वृधा (चनाव की एक सहायक नदी), आर्जीकीया (सम्भवतः, विपाशा या व्यास नदी) और सुषोमा (सोआं नदी) नदियाँ बहती थीं, जिनका परिगणन ऋग्वेद के नदी सूक्त में किया गया है।[1] इसी सूक्त में उन नदियों का भी उल्लेख है, जो पश्चिम की ओर से आकर सिन्धु (सिन्ध) नदी में मिलती हैं, या जो सिन्ध के परवर्ती क्षेत्र में बहती हैं। ये नदियां क्रुमु (खुर्रम), गोमती (गोमल), कुभा (काबुल), तृष्टामा, सुसर्तु, रसा, श्वेती और मेहत्नू हैं।[2] पूर्व में गंगा से लगाकर उत्तर-पश्चिम में अफगानिस्तान तक की नदियों का ऋग्वेद में जो उल्लेख है, वह यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि वैदिक साहित्य की रचना के समय आर्य जाति का निवास इन्हीं नदियों द्वारा सिञ्चित प्रदेश में था।

सप्तसिन्धव देश की इन विविध नदियों में भी सिन्ध और सरस्वती ही आर्यों के लिए विशेष आकर्षण की केन्द्र थीं। प्रैयमेध ऋषि (जो नदी सूक्त के ऋषि हैं) के अनुसार जैसे रंभाती हुई दुधारू गौवें दौड़ती हुई अपने बछड़ों के पास जाती हैं, वैसे ही ये अनेक नदियाँ शब्द करती हुई तुम्हारे पास दौड़ी आती हैं। युद्ध के समय जैसे राजा सेनाओं को लेकर आगे बढ़ता है, वैसे ही तुम नदियों को लेकर आगे बढ़ती जाती हो।[3] सरस्वती नदी की प्रशंसा व स्तुति में तो ऋग्वेद में कितने ही मन्त्र विद्यमान हैं। एक मन्त्र में उसे नदियों में सर्वश्रेष्ठ, देवी और माता कहा गया है।[4] आर्यों को सरस्वती नदी से इतनी अधिक ममता थी, कि एक मन्त्र में ऋषि बार्हस्पत्य भरद्वाज ने यह प्रार्थना की है कि हमें कभी भी उसके तटवर्ती क्षेत्रों और अरण्यों को छोड़ना न पड़े।[5] सिन्ध तथा सरस्वती नदियों के प्रदेश में आर्यों ने जो अनेक राज्य स्थापित किए हुए थे, उनके राजाओं से सम्बन्ध रखने वाली कितनी ही घटनाओं के संकेत ऋग्वेद में विद्यमान हैं। सिन्ध की सहायक नदी गोमती (गोमल) के समीपवर्ती पार्वत्य प्रदेश में राजा रथवीति का राज्य था।[6] इस रथवीति को दालभ्य (दल्भ का पुत्र) कहा गया है। इसी सूक्त में राजा तरन्त की महिषी (पटरानी) शशीयसी का उल्लेख है।[7] सम्भवतः, तरन्त का राज्य रथवीथि के राज्य के समीप ही कहीं था। तरन्त और

---

१. ऋग्वेद १०।७५।५
२. ऋग्वेद १०।७५।६-७
३. 'अभित्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः।
राजेव युध्वानयसि त्वमित्सिचौ यदा सामग्रं प्रवतामिनक्षसि ॥' ऋग्वेद १०।७५।४
४. 'अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥' ऋग्वेद २।४१।१६
५. ऋग्वेद ६।६१।१४
६. एष क्षेति रथवीतिर्मघवा गोमतीरनु। पर्वतेष्वपश्रितः ॥ ऋग्वेद ५।६१।१६
७. 'उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्रादराधसः ॥'
ऋग्वेद ५।६१।६

रथवीति के साथ ही इसी सूक्त में पुरुमीढ्ह नामक एक अन्य राजा का नाम आया है, जो विददश्व का पुत्र होने के कारण वैददश्वि कहाता था। इसके साथ विप्र और दीर्घ-यश विशेषणों का प्रयोग किया गया है, और इस द्वारा दान में दी गई सौ गौवों का उल्लेख है।[1] सिन्ध के पश्चिम के एक अन्य राजा चायमान अभ्यावर्ती के दान-पुण्य का वर्णन भी ऋग्वेद के एक मन्त्र में विद्यमान है।[2] इस राजा के लिए 'संराट्' विशेषण का प्रयोग भी महत्त्व का है। ऋग्वेद में वर्णित दाशराज्ञ युद्ध में जो अनेक जातियाँ तथा राजा सम्मिलित हुए थे, उनमें से अलिन, पक्थ और विषाणी आदि सिन्ध नदी के पश्चिम में रहने वाली जातियाँ भी थीं। इसमें सन्देह नहीं, कि ऋग्वेद के समय में सिन्ध नदी का प्रदेश आर्यों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

जिस भरतवंश के नाम से हमारे देश का नाम भारत पड़ा, उसका राज्य सरस्वती नदी के प्रदेश में ही विद्यमान था। ऋग्वेद के एक सूक्त में भारत लोगों का वर्णन कर उन्हें सरस्वती, दृषद्वती और आपया नदियों से सिञ्चित प्रदेश में बसा हुआ कहा गया है।[3] दृषद्वती तथा आपया सरस्वती की सहायक नदियाँ थीं, और उस क्षेत्र में बहती थी जिसे वर्तमान समय में हरियाणा कहते हैं। भारतों के इस राज्य के राजा सुदास थे, जिन्होंने विपाशा तथा शुतुद्रि नदियों को पार कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था।[4] इसी की बढ़ती हुई शक्ति का प्रतिरोध करने के लिए दाशराज्ञ युद्ध लड़ा गया था, जिसमें दस राजाओं ने सुदास के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था।[5] इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद के समय में सुदास आर्यों के सबसे शक्तिशाली राजा थे, और सरस्वती के क्षेत्र में स्थित उनका राज्य सबसे प्रमुख था। यदि ऋग्वेद के समय में आर्यों के प्रधान केन्द्र सिन्धु तथा सरस्वती नदियों के प्रदेशों में थे, तो इन्हीं को आर्यों का प्राचीनतम या मूल निवासस्थान मानना होगा।

सरस्वती के प्रदेश को ही वैदिक साहित्य में 'देवयोनि' कहा गया है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में जिस देश या राष्ट्र की महिमा का गान किया गया है, वह यही सप्तसिन्धव भूमि है, जिसमें सिन्ध प्रवाहित होती है, जिसके साथ समुद्र लगा हुआ है, जिसमें छह ऋतुएँ (ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त) होती हैं, जहाँ

---

१. विरोहितापुरुमीढ्हाय येमतुर्विप्राय दीर्घयशसे।
यो मे धेनूनां शतं वैददश्विर्यथाददत्। तरन्त इव मंहना।' ऋग्वेद ५।६१।९-१०

२. 'द्वयां अग्ने रथिनो विंशतिगा वधूमन्तो मघवा मह्यं संराट्।
अभ्यावर्ती चायमानो ददाति दूणाशेयं दक्षिणा पार्थवानाम्॥' ऋग्वेद ६।२७।८

३. 'दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि।' ऋग्वेद ३।२३।४
इस मन्त्र के ऋषि भारत वंश या जाति के देवश्रवा और देववात हैं।

४. ऋग्वेद ७।१८

५. 'दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः॥७
दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम्॥८
ऋग्वेद ७।८३।७-८

व्रीहि और यव उत्पन्न होते हैं, जहाँ गौवें दूध की हजारों धाराएँ बहाती हैं, जिसके जंगलों में सिंह, व्याघ्र, रीछ और मृग आदि पशु विचरते हैं, जहाँ साँप और बिच्छू जैसे जन्तु और गो, वृषभ तथा अश्व जैसे पालतू पशु होते हैं, और जहाँ तरह-तरह की ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। यह सब वर्णन सप्तसिन्धव देश पर ही लागू होता है। अथर्ववेद के अनुसार यही वह भूमि है, जहाँ 'पूर्व पूर्वजन' (पूर्वज) निवास करते थे और जहाँ देवों ने असुरों को परास्त किया था।[1] सप्तसिन्धव देश में सरस्वती, सिन्धु तथा उनकी सहायक नदियों द्वारा सिञ्चित प्रदेश ही आर्यों का आदि निवास स्थान था। इसे वे अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते थे। इस प्रदेश में भी सरस्वती नदी का क्षेत्र ऋग्वेद के समय में वैदिक यज्ञों एवं कर्मकाण्ड का प्रधान केन्द्र था, और वहाँ के भारत या भरतवंशी राजाओं ने कालान्तर में सम्पूर्ण आर्यावर्त पर अपना चक्रवर्ती शासन स्थापित कर लिया था। मनुस्मृति में इसे ही 'देवनिर्मित ब्रह्मावर्त' कहा गया है।[2] वैदिक आर्यों की यही देवभूमि थी। आर्यावर्त और ब्रह्मर्षि देश का विस्तार इसकी तुलना में अधिक था। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन ब्रह्मर्षि देश के अन्तर्गत थे, और आर्यावर्त की सीमाएँ हिमालय, विन्ध्याचल तथा पूर्वी और पश्चिमी समुद्र थे।[3] मनुस्मृति के समय तक प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत में आर्य राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। पर ऋग्वेद के काल में भारत के जिस भाग में आर्यों का निवास था, उसकी सीमाएँ इसी वेद की अन्तःसाक्षी द्वारा जानी जा सकती हैं। आर्यों का यह प्रदेश उस समय चारों ओर समुद्रों से घिरा हुआ था। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर चार समुद्रों का उल्लेख है।[4] एक मन्त्र में सप्तगु ऋषि द्वारा यह प्रार्थना की गई है कि चारों समुद्रों का धन हमें सम्पन्न बनाए।[5] एक अन्य मन्त्र में पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का उल्लेख किया गया है।[6] चारों ओर से घिरे हुए इस प्रदेश में सिन्धु, सरस्वती, गंगा, परुष्णी आदि नदियाँ बहती थीं, और सरस्वती सदृश मुख्य नदी तब दक्षिण समुद्र में जा मिलती थी, और गंगा-यमुना पूर्वी समुद्र में। भारत की भौगोलिक दशा उस समय अबसे बहुत भिन्न थी। जहाँ वर्तमान समय में राजस्थान का मरुस्थल है, तब वहाँ समुद्र था और यह समुद्र उन देशों में भी फैला हुआ था जहाँ अब बिहार, बंगाल और उड़ीसा हैं। सप्तसिन्धव देश के उत्तर में भी तब एक समुद्र की सत्ता थी, जिसके अवशेष अब भी कैस्पियन सागर, काला सागर और अराल सागर के रूप में विद्यमान हैं। तब यह एक

---

१. अथर्ववेद २१।१ पृथिवीसूक्त

२. 'सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ मनुस्मृति २।१७

३. मनुस्मृति ३।२२ और २।१९

४. 'रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः । आ पवस्व सहस्रिणः ॥
ऋग्वेद ९।३३।६

५. स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुः समुद्रं धरुणं रयीणाम् ।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः ॥' ऋग्वेद १०।४७।२

६. ऋग्वेद १०।१३६।५

विशाल समुद्र था, तुर्किस्तान का मरुस्थल भी जिसका एक भाग था। चारों ओर विद्यमान समुद्रों को नौकाओं द्वारा पार कर आर्य लोग व्यापार के लिए आया करते थे, और समुद्रों को धन की प्राप्ति का साधन समझते थे। भूगर्भशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि किसी प्राचीन समय में भारत की यही भौगोलिक दशा थी, और इसके संकेत ऋग्वेद में विद्यमान हैं।

बाद में किसी प्राकृतिक उथल-पुथल के कारण भारत की भौगोलिक दशा में परिवर्तन आया, और सप्तसिन्धव देश के दक्षिण, उत्तर तथा पूर्व में विद्यमान समुद्र या तो भूमि के रूप में परिवर्तित हो गए या उनके विस्तार में कमी आ गई। शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन या खण्ड प्रलय की जो कथा आती है, वह इन्हीं प्राकृतिक उथल-पुथलों की एक धुँधली स्मृति की सूचक है।[1] ऋग्वेद में इस खण्ड-प्रलय का उल्लेख नहीं है, यद्यपि बैबिलोनिया, ईजिप्त आदि की दन्तकथाओं में इसकी स्मृति सुरक्षित है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद के रचना-काल के पश्चात् और शतपथ ब्राह्मण के निर्माण से पूर्व कभी जलप्लावन की वह घटना हुई थी, जिसके कारण भारत के पूर्वी तथा दक्षिणी प्रदेश समुद्र के बाहर हो जाने से मनुष्यों के निवास योग्य हो गए थे। तभी शतपथ में वह कथा भी आयी है कि कैसे गौतम रहूगण के पौरोहित्य में माथव विदेघ ने वैश्वानर अग्नि के साथ पूर्व की ओर प्रस्थान किया, और सदानीरा (गण्डक) नदी के पूर्ववर्ती प्रदेश तक के क्षेत्र को आबाद किया।[2]

यह तो स्पष्ट ही है कि ऋग्वेद के समय में आर्यों का निवास सप्तसिन्धव देश में था। पर प्रश्न यह है कि क्या वे वहाँ किसी अन्य देश से आकर बसे थे, या इस सप्तसिन्धव देश से जाकर उन्होंने अन्य प्रदेशों में अपने राज्यों की स्थापना की थी। यह तो निर्विवाद है कि ईरानी लोग भारतीय आर्यों की ही एक शाखा थे, और धार्मिक प्रश्नों पर कतिपय मतभेद हो जाने के कारण उनका वैदिक आर्यों से विरोध हो गया था। इसी प्रकार यह भी एक तथ्य है कि १४०० ई० पू० में एशिया माइनर के क्षेत्र में बसे हुए लोग इन्द्र, मित्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं की पूजा किया करते थे। मित्तनी आदि ये जातियाँ भी आर्यों की ही शाखाएँ थीं। इस बात के भी संकेत मिलते हैं, कि बैबिलोनिया के प्राचीन निवासियों का भारत के आर्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन सब तथ्यों को दृष्टि में रखने पर दो ही बातें सम्भव प्रतीत होती हैं—या तो सप्तसिन्धव देश के आर्य कालान्तर में पश्चिम की ओर गए हों और उनकी विविध शाखाएँ ईरान, ईराक, एशिया माइनर आदि पश्चिमी एशिया के प्रदेशों में बस गई हों, और इन्हीं आर्यों की अन्य शाखाओं ने पश्चिम में और आगे बढ़ कर ग्रीस, इटली तथा यूरोप के अन्य देशों को आबाद किया हो। दूसरा विकल्प यह है, कि आर्यों का आदि निवासस्थान मध्य एशिया सदृश किसी ऐसे मध्यवर्ती प्रदेश में हो,

---

१. शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय में जलप्लावन और मत्स्य द्वारा मनु के जल से पार उतारे जाने की कथा विशद रूप से वर्णित है।

२. शतपथ ब्राह्मण १।४।१।१०-१६

जहाँ से उनकी एक शाखा दक्षिण-पूर्व की ओर अग्रसर होकर भारत में आ बसी हो, और वहीं फिर ईरानी आदि अन्य शाखाओं में विभक्त हो गई हो, और आर्यों की दूसरी प्रधान शाखा ने पश्चिम की ओर जाकर यूरोप के विविध प्रदेशों को आबाद किया हो।

हमने यहाँ सप्तसिन्धव देश को आर्यों का मूल निवास प्रतिपादित करने वाले विद्वानों के मतों का पर्याप्त विशद रूप से उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि भारत के विद्वानों की दृष्टि में प्रायशः यही मत युक्तिसंगत है, और वैदिक संहिताओं से इसी की पुष्टि होती है। पर पाश्चात्य विद्वानों का झुकाव इस मत की ओर अधिक नहीं है। आर्यों के मूल निवासस्थान के सम्बन्ध में गत वर्षों में कतिपय अन्य मत भी प्रतिपादित किये गए हैं, जिनका संक्षेप के साथ यहाँ उल्लेख करना उपयोगी है।

(४) **डेन्यूब नदी की घाटी**—तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर अनेक विद्वानों ने इस मत का प्रतिपादन किया है, कि आर्यों का मूल अभिजन हंगरी या डेन्यूब नदी का क्षेत्र था। प्राचीन समय की विविध आर्यभाषाओं में से एकसम शब्दों को चुनकर भाषा-विज्ञान के इन पंडितों ने इस आर्य या 'वीराः' जाति की सभ्यता का चित्र खींचने का प्रयत्न किया; और इस जाति को जिन पशुओं, वनस्पतियों व वृक्षों का परिचय था, उनकी उत्पत्ति के लिये सबसे अधिक अनुकूल स्थान डेन्यूब नदी की घाटी ही हो सकती थी, इस मत की स्थापना की। इस मत के प्रधान प्रतिपादक श्री गाइल्स थे। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित 'भारत का प्राचीन इतिहास' (प्रथम भाग) में इसी मत को स्वीकृत किया गया है।

(५) **दक्षिणी रूस**—कैस्पियन सागर के पूर्व में रूस के दक्षिणी भाग में आर्यों का मूल अभिजन था, इस मत का प्रतिपादन पहलेपहल प्रोफेसर मायर्स ने किया था। प्रो० मायर्स की स्थापना का आधार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान था। पर बाद में प्रोफेसर चाइल्ड ने पुरातत्व-सम्बन्धी अवशेषों के आधार पर इस मत का समर्थन किया, और आजकल के यूरोपियन विद्वानों का झुकाव मुख्यतया इसी मत को स्वीकृत करने की ओर है। इस क्षेत्र में एक प्राचीन सभ्यता के अनेक अवशेष मिले हैं, जो ईसा से तीन सहस्राब्दी के लगभग पहले के माने जाते हैं। इस सभ्यता के लोग पशुपालक दशा से ऊपर उठकर खेती का आरम्भ कर चुके थे। उनकी स्थायी बस्तियाँ भी विद्यमान थीं। पत्थर के अतिरिक्त वे अपने औजारों व अन्य उपकरणों के लिये धातु का भी प्रयोग करने लगे थे। सोने और चाँदी से वे भलीभाँति परिचित थे। पशुओं में वे भेड़, बकरी, गाय और घोड़े का पालन करते थे। उसमें एक प्रकार का राजनीतिक संगठन भी विकसित हो चुका था, और उनके सरदार व ग्रामणी सर्वसाधारण लोगों की अपेक्षा अधिक वैभव के साथ जीवन व्यतीत करते थे। ये लोग अपने मृतकों को गाड़ते थे, और उनके लिए समाधियों का निर्माण करते थे। प्रोफेसर चाइल्ड व अन्य अनेक विद्वानों का मत है, कि कैस्पियन सागर के पूर्व के दक्षिणी रूस के प्रदेश में विविध स्थानों पर जो अनेक छोटी-बड़ी समाधियाँ मिली हैं, वे आर्य-जाति के लोगों की ही हैं। अति प्राचीन काल में आर्य लोग इस प्रदेश में बसते थे, और वहीं से उनकी शाखायें अन्य स्थानों पर फैली।

विवेचना—आर्य-जाति का मूल अभिजन कौन-सा था, इस सम्बन्ध में विद्वानों के जो प्रमुख मत है, उनका हमने संक्षेप से उल्लेख कर दिया है। यह निश्चित कर सकना बहुत कठिन है, कि इनमें से कौन-सा मत सही व स्वीकार्य है। वस्तुतः, अभी तक कोई ऐसा प्रमाण व आधार नहीं मिला है, जिससे आर्य-जाति के मूल निवास-स्थान का अन्तिम रूप से निश्चय किया जा सके। ऐसे विद्वान् भी हैं, जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों से सूचित होनेवाली सिन्धु सभ्यता को मूल आर्य-सभ्यता के रूप में स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों ने दजला और फरात (युफ्रेटस और टिग्रिस) नदियों की घाटी में विद्यमान सुमेर-सभ्यता को ही मूल आर्य-सभ्यता माना है। प्रोफेसर वाडेल से अनुसार सुमेर के भग्नावशेषों में जो विविध मोहरें (मुद्राएँ व छापे) मिले हैं, उन पर उत्कीर्ण राजाओं के नाम भारत की पौराणिक अनुश्रुति के राजाओं के नामों से बहुत मिलते-जुलते हैं। उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है, कि पौरव, ऐक्ष्वाकव आदि प्राचीन भारतीय राजवंशों के राजा दजला और फरात की घाटी में ही शासन करते थे, और बाद में जब उनके वंशज भारत में आये, तो इन प्राचीन राजाओं की स्मृति भी अपने साथ लेते आये। भारत में कहीं भी रघु, दिलीप और दशरथ के समय के अवशेष उपलब्ध नहीं हुए। इसका कारण यही है, कि ये राजा भारत के निवासी नहीं थे। इनके अवशेष प्राचीन ईराक में मिलते हैं। प्रो० वाडेल के मत को यहाँ प्रदर्शित करने का अभिप्राय केवल यह दिखाने का है, कि इस अत्यन्त प्राचीन युग के इतिहास के सम्बन्ध में विद्वानों में भारी मतभेद हैं, और उनकी बहुत-सी स्थापनाएँ अटकल, अनुमान या कल्पना पर ही निर्भर हैं। वैज्ञानिक ढंग से अभी इस विषय का प्रतिपादन नहीं हुआ है।

पर यहाँ यह लिख देना आवश्यक है, कि प्राचीन इतिहास के विद्वानों का झुकाव इस ओर नहीं है, कि वे सप्तसिन्धव देश या सिन्धु-घाटी में आर्यों के मूल निवास-स्थान होने की बात स्वीकृत करें। यद्यपि भारत के बहुसंख्यक विद्वान् वैदिक साहित्य के आधार पर यही प्रतिपादित करते हैं, कि आर्य लोग भारत से अन्य देशों में गये, पर यूरोपीयन विद्वानों का मत इससे विपरीत है। उनका कथन है, कि आर्यों के प्रवेश से पूर्व भारत में जो द्रविड़-सभ्यता विद्यमान थी, वह ईराक और भूमध्यसागर के तट पर विद्यमान प्राचीन-सभ्यता व यूरोप की आइबीरियन सभ्यता के समकक्ष थी। इसे हम संसार की मूलभूत सभ्यता कह सकते हैं। आर्य लोग इस सभ्यता के साथ आक्रान्ता के रूप में सम्पर्क में आये। जिस प्रकार यूरोप में ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन जातियों ने आक्रमण कर आइबीरियन सभ्यता का ध्वंस किया, और जैसे हत्ती (या हित्ताइत), मित्तनी आदि जातियों ने पश्चिमी-एशिया की मूलभूत सभ्यता का विनाश किया, वैसे ही भारत में आर्य-आक्रान्ताओं ने द्रविड़-सभ्यता को परास्त किया। ये ग्रीक, लैटिन, हत्ती, मित्तनी, भारतीय आर्य आदि सब विशाल आर्य-जाति की विविध शाखाएँ थीं, जो अनेक धाराओं में प्राचीनतम सभ्यता के क्षेत्र में प्रविष्ट हुईं। यूरोप में ग्रीक व लैटिन लोगों से पहले भी कैल्टिक जाति के रूप में आर्य-जाति की एक धारा प्रवेश कर चुकी थी। भारत में भी आर्यों का प्रवेश अनेक धाराओं में हुआ।

डा० हार्नली के अनुसार आर्य लोग भारत में दो धाराओं में आये। पहली धारा उत्तर-पश्चिम की ओर से प्रविष्ट होकर भारत में मध्यदेश (गंगा-यमुना का क्षेत्र) तक चली गई। आर्यों की दूसरी धारा ने मध्य-हिमालय (किन्नर देश, गढ़वाल और कूर्माचल) के रास्तों से भारत मे प्रवेश किया, और अपने से पहले बसे हुए आर्यों को पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की तरफ धकेल दिया। पहले आने वाले आर्य मानव-वंश के थे, और दूसरे ऐल-वंश के।

भारत में आर्यों का प्रवेश चाहे दो धाराओं में हुआ हो या अधिक धाराओं में, पर बहुसंख्यक विद्वानों का यही मत है, कि वे बाहर से आकर ही इस देश में प्रविष्ट हुए थे। वर्तमान समय में विद्वानों का झुकाव इस ओर है, कि आर्य लोगों का मूल अभिजन कैस्पियन सागर से पूर्व मे वंक्षु (आक्सस) नदी तक के प्रदेश में कहीं पर था।

(३) आर्य-जाति का प्रसार

आर्य-जाति का मूल निवास-स्थान चाहे सप्तसिन्धव देश में हो, चाहे कैस्पियन सागर के पूर्ववर्ती प्रदेश मे, यह निश्चित है कि उसकी विविध शाखाएँ अनेक धाराओं में एशिया और यूरोप के विविध प्रदेशों में जाकर आबाद हुई। इनमें से कतिपय शाखाओं के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण पुरातत्व-सम्बन्धी खोज द्वारा भी उपलब्ध हुए हैं। दजला और फरात नदियों की घाटी मे जिस प्राचीन (आर्यों से पूर्ववर्ती) सभ्यता का विकास हुआ था, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। सोलहवीं सदी ई० पू० मे ईराक के इस प्रदेश पर उत्तर-पश्चिम की ओर से आक्रमण शुरू हुए। कस्साइत् नामक एक जाति ने बैबिलोन को जीतकर वहाँ अपना शासन स्थापित कर लिया। ये कस्साइत् लोग आर्य जाति के थे। इनके राजाओं के नाम आर्य-राजाओं के नामों के सदृश हैं। कस्साइत् राजवंश की राजधानी बेबिलोन थी, और ईराक के प्रदेश में स्थित इस प्राचीन नगरी में सम्भवत. यह आर्य-जाति का प्रथम राजवंश था। कस्साइत् (या कस्शु) लोगों के प्रधान देवता सूर्यस् (सूर्य) और मरुत् (मरुत्) थे। इनकी भाषा भी आर्य-परिवार की थी। इनके जो लेख मिले हैं, उनके अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नही रह जाता, कि ये लोग विशाल आर्य-जाति की ही अन्यतम शाखा थे।

पन्द्रहवीं सदी ई० पू० के लगभग मित्तनी नामक एक अन्य जाति ने कस्साइत् लोगों के राज्य के उत्तर-पश्चिम में अपने राज्य की स्थापना की। मित्तनी लोग भी आर्य-जाति के थे। इनके पश्चिम में एक अन्य आर्य-जाति ने अपने राज्य की स्थापना की, जिसे खत्तो, हत्ती या हिताइत कहते हैं। मित्तनी और खत्ती जातियों के राज्य एक-दूसरे के पड़ोस में थे, अतः उनमें प्रायः संघर्ष होता रहता था। १३८० ई० पू० के लगभग इन दोनों राज्यों में परस्पर सन्धि हो गई। यह सन्धि एक विशाल शिला पर उत्कीर्ण हुई मिली है, और यह शिला बोगजकोई नामक स्थान पर उपलब्ध हुई है। बोगजकोई मित्तनी-राज्य की राजधानी के प्राचीन स्थान को सूचित करता है,

और एशिया माइनर में स्थित है। यह सन्धि मित्तनी के राजा (दशरथ के पुत्र) मतिउज और खत्ती के राजा सुबिलुलिम के बीच में हुई थी। इस सन्धि के साक्षीरूप कुछ देवताओं के नाम भी लिखे गये थे। ये देवता हैं मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ। बोगजकोई के इस लेख में इन देवताओं के नाम इस रूप में दिये गये हैं–मि-इत्-त्र-प्रस्, उ-ग्रर-रु-उण-ग्रस् इन्-द-र, ना-स-ग्रत्ति-इय। वैदिकों पदों को इस रूप में लिखने की प्रथा की व्यवस्था भारत में भी थी। मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ (अश्विनीकुमार) देवताओं के नामों की एशिया माईनर में सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि मित्तनी और खत्ती दोनों आर्य जातियाँ थीं, और दोनों उन आर्यदेवताओं की पूजा करती थीं, जिनका परिज्ञान हमें ऋग्वेद से होता है। इससे यह भी सूचित होता है, कि जिस युग में सब आर्य जातियाँ एक प्रदेश में निवास करती थीं, तब भी उनमें इन देवताओं की पूजा प्रचलित थी। बोगजकोई से ही एक पुस्तक भी प्राप्त हुई है, जो कि मिट्टी की तख्तियों पर पर उत्कीर्ण की हुई है। इस पुस्तक का विषय रथचालन है। इसका लेखक किक्कुली नामक एक व्यक्ति था, जो मित्तनी जाति का था। रथ के पहियों के घूमने के लिए इस पुस्तक में 'आवर्त्तन्न' शब्द का प्रयोग किया गया है और एक, तीन, पाँच व सात चक्करों के लिए क्रमशः ऐकवर्त्तन्न, तरवर्त्तन्न, पंचवर्त्तन्न और सत्तवर्त्तन्न शब्दों का उपयोग किया गया है। आवर्त्तन्न शब्द संस्कृत-भाषा के आवर्त्तन शब्द से मिलता है, और इससे सूचित होता है, मित्तनी लोगों की भाषा संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती थी। मित्तनी राजाओं द्वारा भेजे गये कतिपय पत्र मिस्र में एल-अमना नामक स्थान पर भी उपलब्ध हुए हैं। ये पत्र भी मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण हैं। इन पत्रों में मित्तनी-राजाओं के अर्ततम, दशरत्त आदि जो नाम मिले हैं, वे भी संस्कृत शब्दों के बहुत समीप हैं। इसी प्रकार खत्ती राजाओं के कतिपय नाम मर्यतस् और सूर्यम् हैं, जो स्पष्टतया संस्कृत नामों से मिलते-जुलते हैं। इन प्रमाणों को दृष्टि में रखने से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि कस्साइत, खत्ती और मित्तनी के रूप में जो जातियाँ पश्चिमी एशिया के रंगमंच पर प्रगट हुई थीं, वे आर्य-जाति की ही शाखाएँ थीं। अपने मूल अभिजन से निकलकर जब आर्य-जाति के प्रसार का प्रारम्भ हुआ, तो उसकी कुछ शाखाएँ इस क्षेत्र में आ बसीं, बोगजकोई आदि के अवशेष इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

पूर्व की ओर जो आर्य लोग गये, उनकी दो प्रधान शाखाएँ थीं, ईरानी और भारतीय। जिस प्रकार भारतीय आर्यों का प्रमुख ग्रन्थ ऋग्वेद है, वैसे ही ईरानी आर्यों का प्रमुख ग्रन्थ जेन्दावस्ता है। जेन्दावस्ता की भाषा वैदिक भाषा से बहुत मिलती है। उसमें न केवल तत्सम शब्दों की प्रचुरता है, अपितु साथ ही व्याकरण, धातु आदि भी एक दूसरे के सदृश हैं। प्राचीन ईरानी लोगों का धर्म भी वैदिक धर्म के बहुत समीप था। मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओं की पूजा प्राचीन ईरानी लोग भी करते थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि पूर्व की ओर जानेवाली ये दोनों आर्य जातियाँ बहुत समय तक एक-दूसरे के साथ रहीं, और उनके धर्म का साथ-साथ विकास हुआ। देर तक साथ रहने से उनकी भाषा भी एक-दूसरे के अधिक समीप रही।

पर बाद में आर्यों की ईरानी और भारतीय शाखाओं में विरोध हो गया, और इस विरोध ने एक उग्र संग्राम का रूप धारण कर लिया। अन्त में ईरानी लोग परास्त हुए, और वे अपने साथियों से पृथक् होकर उस प्रदेश में बस गये, जिसे आजकल ईरान कहा जाता है, और जिसका यह नाम आर्य-जाति के नाम पर ही पड़ा था। वैदिक संहिताओं और जेन्दावस्ता के अनुशीलन से इस संघर्ष पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इसी को देवासुर संग्राम कहा जाता है।

संस्कृत-भाषा में देव शब्द उत्तम अर्थ में और असुर शब्द बुरे अर्थों में प्रयुक्त होता है। देव का अभिप्राय है, दिव्य गुणयुक्त। असुर का अर्थ है, दानव या दैत्य। इसके विपरीत प्राचीन जेन्द भाषा में असुर शब्द अच्छे अर्थों में और देव शब्द घृणित अर्थों में आता है। प्राचीन ईरानी असुर के उपासक थे। उनका प्रधान देवता (उपास्य देव) अहुरमज्द (असुर महत्) था। किसी अत्यन्त प्राचीन काल में वैदिक आर्य भी असुर शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थों में करते थे, और अपने देवताओं को असुर (प्रतापशाली) कहते थे। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि बाद में आर्यों में परस्पर विरोध हो गया। उनका एक भाग देव का उपासक हो गया, और दूसरा असुर का। इस विरोध का कारण सम्भवतः धार्मिक था। जेन्दावस्ता में मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओं की तो सत्ता है, पर इन्द्र को कहीं उपास्य नहीं माना गया। इसके विपरीत वेदों में इन्द्र की महिमा बहुत विशद रूप से वर्णित है। ऋग्वेद के कितने ही सूक्त इन्द्र की स्तुति में बनाये गये हैं, और उसे देवों का देव माना गया है। अन्य देवता किसी एक लोक का शासन करते हैं, पर इन्द्र तीनों लोकों (द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथ्वी-लोक) का अधिपति है। इसके विपरीत जेन्दावस्ता में इन्द्र का समावेश उन देवों में किया है, जो असुर नहीं हैं, जो असुर के विरोधी हैं, और इस कारण जो घृणा के योग्य हैं। प्राचीन ईरानी लोग किस कारण देवविरोधी और असुर के उपासक हो गये, और भारत के आर्य किस कारण से असुर-विरोधी और देव के उपासक हो गये, यह विषय बहुत विवाद-ग्रस्त है। इस पर हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं। पर यह स्पष्ट है, कि आर्यों की दो शाखाएं धार्मिक विश्वास में भेद हो जाने के कारण एक-दूसरे से पृथक् हो गई थीं, और उनमें से एक ईरान में और दूसरी भारत में आ बसी थी।

भारत में आर्यों का प्रवेश—आर्यों की जो शाखा भारत में प्रविष्ट हुई, उसे इस देश में अनेक आर्यभिन्न जातियों के साथ युद्ध करने पड़े। जिस प्रकार पश्चिमी एशिया में बसने वाली कस्साइत, खत्ती और मित्तनी जातियों ने अपने से पूर्ववर्ती सभ्यताओं को परास्त कर वहाँ अपनी सत्ता स्थापित की, वैसे ही भारतीय आर्यों ने इस देश में विकसित हुई पूर्ववर्ती सभ्यताओं को विनष्ट कर अपनी सत्ता की स्थापना की। आर्यों के पहले के ये आर्यभिन्न लोग कौन थे, इस विषय में वैदिक साहित्य से ही कतिपय उपयोगी निर्देश मिलते हैं। वेदों में इन्हें 'दस्यु' और 'दास' कहा गया है। वैदिक सूक्तों से ज्ञात होता है, कि ये दस्यु लोग कृष्ण वर्ण के थे, और इनकी नाक छोटी होती थी। इसीलिए इन्हें 'अनास' (नासिकाहीन) भी कहा गया है। पर ये लोग

अच्छे बड़े पुरों में निवास करते थे, और इनके अनेक सुदृढ़ दुर्ग भी बने हुए थे। इन्हें परास्त करने के लिए आर्यों को घनघोर युद्ध करने पड़े और एक युद्ध में तो पचास हजार के लगभग 'दासों' के मारे जाने का निर्देश ऋग्वेद में किया गया है। संस्कृत भाषा में दस्यु शब्द का प्रयोग डाकू के अर्थ में होता है, और दास शब्द का गुलाम अर्थ में। प्रतीत होता है, कि आर्यों के प्रवेश से पूर्व जो जाति इस देश में निवास करती थी, उसकी संज्ञा दस्यु व दास थी। आर्यों ने उसे परास्त किया और उसकी बड़ी संख्या को अपने पास गुलाम रूप में रहने के लिए विवश किया। ये गुलाम दास जाति के थे, अतः दास शब्द का अर्थ ही गुलाम हो गया। इसी प्रकार आर्य लोग दस्यु शब्द का प्रयोग घृणा के रूप में करते थे, और बाद में इसका अर्थ ही डाकू हो गया। पर प्राचीन संस्कृत में ऐसे निर्देशों की कमी नहीं है, जिनसे दस्यु का अभिप्राय डाकू न होकर एक जातिविशेष प्रतीत होता है। महाभारत में एक दस्यु की कथा आती है, जिसे परम धर्मात्मा कहा गया है। आर्यों ने इन दस्युओं व दासों को परास्त कर भारत में अपनी सत्ता स्थापित की। पिछले अध्याय में हम सिन्धुघाटी की समुन्नत सभ्यता का विवरण दे चुके हैं, जिसके अनेक नगर विद्यमान थे, और जिसके अनेक नगर दुर्गरूप में थे। अतः यह कल्पना की जाती है कि वैदिक आर्यों ने जिन दस्युओं को परास्त किया, वे सिन्धु-घाटी में निवास करते थे, और उन्हीं की सभ्यता के भग्नावशेष पंजाब में रावी नदी के और सिन्ध में सिन्धु नदी के तट पर पाये गये हैं।

सातवाँ अध्याय

वैदिक युग के प्राचीनतम भारतीय राज्य

(१) वैदिक साहित्य से भारत के पर्वतों तथा नदियों का परिचय

वेद धार्मिक ग्रन्थ हैं, और इतिहास तथा भूगोल से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। पर उनमें कुछ ऐसे शब्द अवश्य हैं, जो भारत के पर्वतों, नदियों तथा प्रदेशों के पुराने नाम थे। ऐतिहासिकों ने इससे यह परिणाम निकाला है, कि जिस समय वेदमन्त्रों की रचना हुई, आर्य लोग भारत में आकर बसना शुरू कर चुके थे और पंजाब आदि उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में उनके अनेक राज्य भी स्थापित हो गये थे। ऐतिहासिकों के मत के अनुसार वैदिक संहिताओं में ऋग्वेद सबसे पुराना है, और अन्य वेदों की रचना उसकी तुलना में बाद के काल में हुई थी। यही कारण है, जो ऋग्वेद में मध्य, पूर्वी तथा दक्षिणी भारत की नदियों, पर्वतों व प्रदेशों के नाम नहीं पाये जाते, यद्यपि अन्य वेदों में इन क्षेत्रों के भौगोलिक नामों का भी उल्लेख विद्यमान है। ऋग्वेद के काल में आर्य लोग पूर्वी तथा दक्षिणी भारत में दूर तक आगे नहीं बढ़े थे। बाद में दूर-दूर तक के प्रदेशों में उनका प्रसार होता गया, और वहाँ के पर्वतों तथा नदियों आदि से भी उनका परिचय हुआ। बाद के वैदिक साहित्य में उनका भी उल्लेख पाया जाता है।

ऋग्वेद में उल्लिखित पर्वत और नदियाँ—ऋग्वेद में केवल हिमालय पर्वत का उल्लेख है।[1] विन्ध्याचल, सह्याद्रि, महेन्द्र आदि किसी अन्य पर्वत का नाम इस वेद में नहीं पाया जाता। मूजवन्त नामक एक अन्य पर्वत शिखर का ऋग्वेद में उल्लेख है, और उसके विषय में यह कहा गया है कि वहाँ सोम प्रचुरता से उत्पन्न होता है।[2] इस पर्वत शिखर की सत्ता काश्मीर के क्षेत्र में थी।

वैदिक संहिताओं में कुल मिलाकर ३१ नदियों का उल्लेख है, जिनमें से २५ ऋग्वेद में भी उल्लिखित हैं। ऋग्वेद के नदी सूक्त (१०, ७५) में सिन्धु नदी के अतिरिक्त गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि, परुष्णी, असिक्नि, मरुद्वृधा, वितस्ता, आर्जीकीया, सुषोमा, कुभा, गोमती, क्रुमु, सुवास्तु, सुसर्तु, श्वेत्या, मेहत्नू और रसा

---

१. 'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसयासहाहुः ।
'यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥' ऋग्वेद १०।१२१।४

२. सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको
'जागृविर्मह्यमच्छान् ।' ऋग्वेद १०।३४।१

नदियों के नाम आये हैं।[1] ये नाम पूर्व में विद्यमान गंगा से शुरू होकर पश्चिम-उत्तर में रसा नदी तक के हैं। वैदिक युग में सरस्वती भारत की प्रमुख नदी थी। नदी-सूक्त में इसका उल्लेख यमुना और शुतुद्री (सतलुज) के बीच में किया गया है, और यह स्पष्ट रूप से उस सरस्वती या सरसुती नदी का बोध कराती है, जो वर्तमान समय में लुप्त हो चुकी है। वैदिक युग में उत्तर-पश्चिमी भारत की नदियों में इसका प्रमुख स्थान था, और सिन्धु नदी के समान यह भी समुद्र में जाकर गिरती थी।[2] ऋग्वेद में सरस्वती को 'नदीतमा' (नदियों में प्रमुख) भी कहा गया है।[3] इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक युग में सरस्वती विलुप्त नहीं हुई थी, और उसके तट पर आर्यों ने अपनी बहुत-सी बस्तियाँ बसायी थीं। याज्ञिक अनुष्ठान का विकास प्रधानतया सरस्वती के तट पर ही हुआ था। शुतुद्री सतलुज नदी का प्रचीन नाम था, परुष्णी रावी नदी को कहते थे, असिक्नी चनाब को और वितस्ता जेहलम को कहा जाता था। ये सब नदियाँ उस क्षेत्र में थीं, जहाँ आजकल हरयाणा और पंजाब (पूर्वी तथा पश्चिमी पंजाब) के राज्य हैं। नदी सूक्त में व्यास (विपाशा) नदी को परिगणित नहीं किया गया है। उसके स्थान पर मरुद्वृधा नदी का उल्लेख है, जिसकी स्थिति असिक्नी (चनाब) और वितस्ता (जेहलम) के बीच में रखी गई है। सम्भवतः, वैदिक युग में विपाशा या व्यास एक बहुत ही साधारण नदी थी, जिसके कारण नदी सूक्त में उसे स्थान नहीं दिया गया। पर ऋग्वेद में अन्यत्र दो स्थानों पर विपाशा का उल्लेख विद्यमान है,[4] जिससे इस प्राचीन काल में इस नदी की सत्ता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। कतिपय ऐतिहासिकों ने मरुद्वृधा को काश्मीर की मरुवर्दवा नदी का पुराना नाम प्रतिपादित किया है। यह नदी उत्तर से दक्षिण की ओर बहती हुई किस्तवार के समीप चनाब नदी में मिल जाती है।

कुभा, गोमती, क्रुमु, सुसर्तु, श्वेत्या, मेहत्नू और सुवास्तु नदियाँ सिन्धु नदी के पश्चिमी प्रदेशों की हैं, और पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हुई सिन्धु या उसकी सहायक नदियों में आ मिलती हैं। कुभा काबुल नदी का नाम है, और क्रुमु खुर्रम नदी का। गोमती नदी की स्थिति कुभा और क्रुमु के बीच में थी, और इसी नदी को वर्तमान समय में गोमल कहा जाता है। नदी सूक्त की गोमती अवध की गोमती नहीं

---

१. इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया ऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुसोमया ।५
तृष्टा मया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे । ६ ऋग्वेद १०।७५

२. एकाचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आसमुद्रात्
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥ ऋग्वेद ७।५२।२

३. अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति ।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥ ऋग्वेद २।४१।१६

४. अच्छा सिन्धुं मातृतमामयासं विपाशमुर्वी सुभगामगन्म । ऋग्वेद ३।३३।३

है। सुवास्तु स्वात नदी का पुराना नाम था। यह कुभा (काबुल) की सहायक नदी है। सुसर्तु और श्वेत्या भी सिन्ध की सहायक नदियों के नाम थे, जो कुभा के उत्तर में पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हुई सिन्ध में आ मिलती थीं। कुभा के दक्षिण की नदियों में मेहत्नू भी एक थी। सिन्ध नदी के पश्चिम की ये सब नदियाँ उन प्रदेशों को सिञ्चित करती हैं, जहाँ वर्तमान समय में अफगानिस्तान और पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश की स्थिति है। ऋग्वेद में इन सब नदियों का उल्लेख यह सूचित करता है कि वैदिक युग में आर्य लोग इस क्षेत्र को आबाद कर चुके थे और वहाँ उनकी बहुत-सी बस्तियाँ विद्यमान थीं। रसा नदी को वर्तमान समय में जक्सेर्टस कहते हैं, और यह मध्य एशिया के क्षेत्र में है। सुषोमा और आर्जीकीय से कौन-सी नदियाँ अभिप्रेत थी, यह स्पष्ट नहीं है। यास्क ने निरुक्त में इन्हें क्रमशः सिन्ध और व्यास (विपाशा) नदियाँ माना है।[1] ऋग्वेद में अन्य भी अनेक नदियों के नाम आए हैं, जिनमें आपया, सरयू और दृषद्वती उल्लेखनीय हैं। दृषद्वती की स्थिति सरस्वती के समीप थी, और यह भी वर्तमान हरयाणा प्रदेश की ही एक नदी थी। आपया सरस्वती की सहायक नदी थी, जो कुरुक्षेत्र के समीप बहती थी। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन तीनों नदियों का एक साथ उल्लेख किया गया है।[2] सम्भवतः, सरयू से अवध की वही नदी अभिप्रेत है, जिसे अब भी सरयू कहा जाता है। इस नदी के उल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है कि ऋग्वेद के समय में पूर्व दिशा में आर्यों का अवध के क्षेत्र तक भी प्रवेश हो चुका था, यद्यपि उनका निवास प्रधानतया गंगा-यमुना, हरियाणा, पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा अफगानिस्तान के क्षेत्रों में ही था। कतिपय विद्वानों का यह भी मत है कि ऋग्वेद में जिस सरयू का उल्लेख है, वह अवध की सरयू न होकर पंजाब की ही कोई नदी थी। सतलुज अथवा व्यास ही इससे अभिप्रेत थी। ऋग्वेद में सरयू का उल्लेख सरस्वती और सिन्धु के साथ किया गया है,[3] जिससे इस मत की पुष्टि होती है।

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में समुद्र का भी उल्लेख आया है, जिससे यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक आर्य भारत में समुद्र तट के प्रदेशों में भी आबाद हो चुके थे और समुद्र मार्ग द्वारा सुदूरवर्ती प्रदेशों में व्यापार के लिए भी जाने-आने लग गए थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में दो समुद्रों का उल्लेख किया गया है, पूर्वी समुद्र और अपर (पश्चिमी) समुद्र।[4] ऋग्वेद में अश्विनौ द्वारा तुग्र भुज्यु के समुद्र से

---

१. निरुक्त ९।२६

२. नित्वा दधे वर आ पृथिव्या इलायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्।
दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि॥ ऋग्वेद ३।२३।४

३. सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिः महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः।
देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत् पयो मधुमन्नो अर्चत। ऋग्वेद १०।६४।९

४. वातस्याश्वो वायोः सखाऽथो देवेषितो मुनिः।
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥ ऋग्वेद १०।१३६।५

उद्धार का वर्णन है, जिसके लिए सौ चप्पुओं वाली नौका का प्रयोग किया गया था।[1] इस प्रकार के निर्देशों के आधार पर यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा कि वैदिक युग के आर्य समुद्र से भली-भाँति परिचित थे और उसमें जाने-आने के लिए विशालकाय नौकाओं का भी प्रयोग करने लग गए थे। इस प्रकार प्राचीन वैदिक युग में अफगानिस्तान, काश्मीर तथा उत्तर में रसा नदी से लगाकर पंजाब, हरियाणा और गंगा-यमुना, सरयू नदियों तक के प्रदेश उस क्षेत्र के अन्तर्गत थे जहाँ आर्यों ने अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं। साथ ही, सरस्वती तथा सिन्धु जैसी नदियों द्वारा वे समुद्र तक भी पहुँचने लग गए थे। यह ऊपर लिखा ही जा चुका है कि वैदिक साहित्य में सरस्वती नदी का जिस प्रकार से वर्णन किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि उस काल में सरस्वती भी एक बहुत बड़ी नदी थी जो सिन्धु के समान सीधी समुद्र में जाकर गिरती थी।

ऋग्वेद में 'सप्तसिन्धु' का भी उल्लेख मिलता है,[2] जो सम्भवतः किसी प्रदेश या देश के लिए प्रयुक्त किया गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि सप्तसिन्धु से ऐसा देश ही अभिप्रेत है, जो सात नदियों द्वारा सिंचित था। पर ये सात नदियाँ कौन-सी थीं, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। मैक्समूलर के मत में ये नदियाँ सतलुज, सरस्वती, व्यास, रावी, चनाव, जेहलम और सिन्धु थीं। पर कतिपय अन्य विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि इन सात नदियों में कुभा (काबुल) और रसा को भी अन्तर्गत किया जाना चाहिए। इन विद्वानों के अनुसार सप्तसिन्धु से अफगानिस्तान और पंजाब का क्षेत्र अभिप्रेत था, वह प्रदेश नहीं जिसमें कि सरस्वती नदी प्रवाहित होती थी। यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है कि प्राचीन वैदिक युग में आर्यों का प्रधान केन्द्र भारत उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में था और इन्हीं को 'सप्तसिन्धु' भी कहा जाता था।

(२) वैदिक युग के विविध 'जन' और राज्य

ऋग्वेद में उन बहुत-से जनों (कबीलों) का उल्लेख मिलता है, जिनमें कि वैदिक युग के आर्य विभक्त थे। इन 'जनों' का संगठन परिवार के नमूने पर होता था, और एक 'जन' के सब व्यक्ति 'सजात', 'सनाभि' या एक जाति या एक वंश के समझे जाते थे। अपने जन को वे 'स्व' कहते थे, और दूसरे जनों के व्यक्तियों को 'अन्यनाभि' या 'अरण'। वैदिक युग के राज्यों का आधार ये 'जन' ही होते थे, क्योंकि एक राज्य में प्रायः एक ही 'जन' के व्यक्तियों का निवास होता था। इसीलिए इन राज्यों को 'जनपद' व 'जानराज्य' कहा जाता था।

ऋग्वेद के युग में भारत के आर्य जिन विविध जनों में विभक्त थे, उनका परिचय प्राप्त करने के लिए वे सूक्त बहुत उपयोगी हैं, जिनमें कि राजा सुदास के साथ

---

१. यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावं तस्थिवांसम्। ऋग्वेद १०।११६।५

२. यन्नः स्रावंहसो मुचद् यो वार्यात् सप्तसिन्धुषु। ऋग्वेद ८।२४।२७.

लड़े गए दस राजाओं के युद्ध का वर्णन है। सुदास भरत वंश में उत्पन्न हुआ था, और उसका राज्य पहले उस प्रदेश में विद्यमान था, जिसे स्मृति ग्रन्थों में ब्रह्मावर्त नाम से कहा गया है। सुदास का पुरोहित विश्वामित्र था, जो कुशिक कुल का था। विश्वामित्र के पौरोहित्य में सुदास ने शुतुद्रि और विपाशा नदियों के प्रदेश में अनेक विजय प्राप्त की थीं। पर बाद में सुदास ने विश्वामित्र के स्थान पर वशिष्ठ को अपना पुरोहित नियत किया। इससे विश्वामित्र बहुत क्रुद्ध हुआ, और उसने सुदास के विरुद्ध दस राजाओं की शक्ति को संगठित कर उन्हें उस पर आक्रमण कर देने को प्रेरित किया। इसी युद्ध को ऋग्वेद में 'दाशराज्ञ' कहा गया है।[1] सुदास के विरुद्ध जिन जनों या जानराज्यों के राजाओं ने संगठन बनाया था, उनके नाम ऋग्वेद के अनुसार निम्नलिखित हैं—पुरु, यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु, अलिन, पक्थ, भलानस, विषाणी और शिव।[2] सुदास के विरुद्ध यह दाशराज्ञ युद्ध परुष्णी (रावी) नदी के तट पर लड़ा गया था, और इसमें सुदास की विजय हुई थी, और पुरु राजा संवरण ने युद्ध में परास्त होकर सिन्ध नदी के तटवर्ती एक दुर्ग में आश्रय ग्रहण किया था।

पुरु, यदु, अनु, तुर्वशु और द्रुह्यु आर्यों के मुख्य 'जन' (कबीले) थे। ऋग्वेद में इन्हीं को 'पञ्चजनाः' और 'पञ्चकृष्टयः' कहा गया है। इन जनों के राज्य सुदास के राज्य के पश्चिम में स्थित थे। वैदिक अनुश्रुति और पौराणिक अनुश्रुति में सुदास के राज्य की स्थिति के प्रश्न पर ऐकमत्य नहीं है। पुराणों और महाभारत में संकलित अनुश्रुति के अनुसार सुदास पञ्चाल देश का राजा था, और उसकी राजधानी अहिच्छत्र थी। सुदास का समकालीन पुरु राजा संवरण था, और वह हस्तिनापुर में राज्य करता था। पर वैदिक अनुश्रुति द्वारा यह सूचित होता है, कि सुदास और संवरण दोनों के राज्य सरस्वती और दृषद्वती नदियों के प्रदेशों में थे, यद्यपि पुरु राज्य की स्थिति सुदास के राज्य के पश्चिम में थी। संवरण पुरुजन का था, और सुदास भरत जन का। पुरु, यदु आदि पञ्चजनों के समान भरत भी वैदिक युग में आर्यों का एक प्रमुख जन था, जिसकी एक शाखा त्रित्सु कहाती थी। त्रित्सु जन का राजा अतिथिग्व दिवोदास बड़ा प्रतापी था। उसने जहाँ अपने पड़ोसी पुरु, यदु तथा तुर्वश जनों को परास्त किया था, वहाँ साथ ही दास राजा शम्बर तथा पणियों को पराभूत करने में भी उसने सफलता प्राप्त की थी।[3] दिवोदास के वंश में ही आगे चल कर सुदास हुआ था, जिस द्वारा त्रित्सु भरतों की शक्ति में असाधारण रूप से वृद्धि हुई थी। पर त्रित्सु, भरत और पुरु देर तक पृथक् नहीं रहे। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार संवरण का

१. ऋग्वेद ७।८३।७-८

२. ऋग्वेद ७।१८।५-६

आ पक्थासो भलानसो भनन्तालिनासो विषाणिनो शिवासः।

आ योऽनयत् सधमा आर्यस्य गव्यातृत्सुभ्यो अजगन् युधा नृन्॥ ऋग्वेद ७।१८।७

३. 'त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथारन्धयोऽतिथिग्वाय शम्बरम्।

महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे॥' ऋग्वेद १।५१।६

पुत्र कुरु था, जिसने पाञ्चाल जनपद को जीत कर प्रयाग तक अपनी शक्ति का विस्तार किया था। कुरु की इन विजयों के कारण त्रित्सु-भरत जन की पृथक् सत्ता कायम नहीं रही थी, और पुरु तथा भरत जनों ने मिल कर एक नये जन का प्रादुर्भाव हुआ, जो कुरु नाम से प्रसिद्ध है। ऋग्वेद में कुरु जन का कहीं स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं मिलता। पर एक मन्त्र में त्रासदस्यव राजा कुरुश्रवण का उल्लेख है,[1] जिससे पौराणिक अनुश्रुति की पुष्टि होती है। सम्भवतः यह कुरुश्रवण और संवरण का पुत्र कुरु एक ही थे।

पुरु आदि पञ्चजनों के साथ अलिन, पक्थ, भलानस, विषाणी और शिव 'जनों' ने भी परुष्णी के युद्ध में भाग लिया था। इन पाँचों जनों के प्रदेश सिन्धु नदी के पश्चिम में उस क्षेत्र में थे, जहाँ अब अफग़ानिस्तान और पाकिस्तान का उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त है। पक्थ से वही जाति अभिप्रेत है, जिसे वर्तमान समय में पख्तून या पठान कहा जाता है। इसका प्रदेश क्रुमु (कुर्रम) नदी के उद्गम-स्थान के क्षेत्र में था। भलानस जाति का प्रदेश क्रुमु नदी के दक्षिण में था, और विषाणी जाति का भलानस के भी दक्षिण में गोमती (गोमल) नदी के समीपवर्ती प्रदेश में। पक्थों के समान अलिन भी एक ऐसी जाति थी, जिसके उत्तराधिकारी वर्तमान समय में पख्तून लोगों के अंग हैं। वैदिक युग का शिव जन वही है, जो बाद में शिवि नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसका गणराज्य सिन्धु और वितस्ता (जेहलम) नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में विद्यमान था।

परुष्णी के तट पर दस राजाओं के संघ को परास्त करने के पश्चात् राजा सुदास को एक अन्य संघ से भी युद्ध करना पड़ा था। इसमें अजास, शिग्रु और यक्षु जन सम्मिलित थे और इसके नेता का नाम राजा भेद था। सुदास ने इन्हें यमुना के तट पर परास्त किया था।[2] अनेक विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है, कि ये जन आर्य न होकर आर्यभिन्न जाति के थे, यद्यपि इस मन्तव्य की पुष्टि के लिए कोई ठोस युक्ति प्रस्तुत नहीं की जा सकी है।

सुदास के युद्धों के प्रसङ्ग में ऋग्वेद में जिन जनों या राज्यों का उल्लेख मिलता है, उनके अतिरिक्त भी कतिपय जातियों व राज्यों के नाम इस वेद में आये हैं। चैद्य (चेदि जन के) राजा कशु की प्रशंसा में ऋग्वेद के एक सूक्त में यह कहा गया है कि उसने सौ ऊँट और दस हजार गौवें दान में दी थीं।[3] बाद के समय में चेदियों का प्रदेश यमुना के दक्षिण और विन्ध्याचल के उत्तर में था। पर वैदिक काल में भी वे इसी दक्षिणी प्रदेश में रहने लगे थे, यह कह सकना कठिन है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में

१. कुरुश्रवणमावृणि राजानं त्रासदस्यवम्।
मंहिष्ठं वाघतामृषिः॥ ऋग्वेद १०।३३।४

२. आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वतातामुषायत्
अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्रुरश्व्यानि॥ ऋग्वेद ७।१८।१९

३. या ते अश्विना सनीनां विद्यातं नवानाम्
यथा चिच्चैद्यः कशुः शतमुष्ट्रानां ददत् सहस्रा दश गोनाम्॥ ऋग्वेद ८।५।३७।

गन्धारी की भेड़ों की ऊन की उत्कृष्टता का उल्लेख है,[1] जिससे यह कल्पना सहज में की जा सकती है कि ऋग्वेद के गन्धारी से उसी प्रदेश के निवासी अभिप्रेत थे जिसे गान्धार कहा जाता था और जिसकी स्थिति भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में थी। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में पारावत का उल्लेख है, जिसकी स्थिति यमुना और सरस्वती नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में थी। ऋग्वेद में अन्य भी कतिपय जनों व राज्यों के नाम आये हैं, जिनमें उशीनर और कीकट उल्लेखनीय हैं। उशीनर जन का निवास उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में था, और कीकट का पूर्व में।

ऋग्वेद में कतिपय ऐसे शब्द आये हैं, जिनसे ऐसे प्रदेशों व राज्यों का संकेत मिलता है, जो भारत से बाहर थे। ऐसे शब्द पृथुपर्शव[2] और सवान[3] हैं। कतिपय विद्वानों के अनुसार पृथु से पार्थियन अभिप्रेत है, और पर्शु से पर्शियन। इसी प्रकार सवान को असवान के साथ मिलाया गया है, जो ईजिप्ट का अन्यतम प्रान्त है। सवान के राजा को तूर्त कहा गया है, जिससे ईजिप्ट के तूतवंशी राजाओं का संकेत मिलता है। पर ऋग्वेद के युग में आर्य लोगों को पार्थिया, पर्शिया और ईजिप्ट सदृश सुदूर-वर्ती देशों से परिचय था, यह कह सकना कठिन है।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पणियों का वर्णन आया है,[4] जिनका प्रधान कार्य व्यापार के लिए सुदूरवर्ती प्रदेशों में जाना-आना था। वे जहाँ काफिलों में संगठित होकर विविध प्रदेशों में आते-जाते थे, वहाँ साथ ही समुद्र द्वारा भी पश्चिमी प्रदेशों के साथ व्यापार किया करते थे। सम्भवतः, ये लोग वैदिक आर्यों के देवी-देवताओं की निष्ठापूर्वक पूजा नहीं करते थे, जिसके कारण कतिपय वेद-मन्त्रों में इनके लिए निन्दा-त्मक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। पणियों के एक राजा का नाम ऋग्वेद में बृबु आया है[5] और उनके अन्यतम उपास्य देव को बल कहा गया है।[6] संस्कृत के पण्य, वणिक्, विपणि आदि शब्दों का सम्बन्ध पणि के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है, और कतिपय विद्वानों का यह भी मत है कि पणि लोग वे ही हैं जिन्हें कि पाश्चात्य संसार के प्राचीन इतिहास में 'प्यूनिक' कहा जाता था। ये पणि लोग आर्य थे या आर्यभिन्न, इस प्रश्न पर ऐतिहासिकों में मतभेद है।

---

१. उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका ॥ ऋग्वेद १।१२६।७

२. युवां नरा पश्यमानास आप्यं प्राचा गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः । ऋग्वेद ७।८३।१

३. अमन्दान्त्स्तोमान् प्रभरे मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य
यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः ॥ ऋग्वेद १।१२६।१

४. ऋग्वेद ७।६।३; ८।६४।२; १०।१०८

५. अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात् । उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः ॥'
ऋग्वेद ६।४५।३१

६. ऋग्वेद १०।६७।६; १०।६८।१०

ऋग्वेद में दास और दस्यु शब्द भी अनेक स्थानों पर आये हैं, जिनका प्रयोग किसी जाति या जन-समूह के लिए किया गया है। वर्तमान समय में दास शब्द का अर्थ गुलाम है, और दस्यु का डाकू। पर ऋग्वेद में इन शब्दों का प्रयोग इन अर्थों में नहीं किया गया है। ऋग्वेद में उल्लिखित दास 'आयसीः पुरः' में निवास करते थे,[1] और अनेक 'विशः' में विभक्त थे।[2] उन्हें 'कृष्णत्वचः, अनासः और मृध्रवाचः' कहा गया है, जिससे यह सूचित होता है कि नसल और जाति की दृष्टि से वे आर्यों से भिन्न थे। ये ही विशेषण कतिपय मन्त्रों में दस्युओं के लिए भी मिलते हैं,[3] जिससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि दास के समान दस्यु भी एक विशिष्ट जाति या जन-समुदाय की संज्ञा थी और वे भी आर्य-भिन्न वर्ग के थे। ऋग्वेद में दासों के कतिपय राजाओं के नाम भी आये हैं, जिनमें इलीविश, धुनि, चुमुरि, शम्बर, वर्चिन् और पिप्रु उल्लेखनीय हैं।[4] इन्द्र के इनसे अनेक युद्ध हुए थे, जिनमें दासों एवं दस्युओं को परास्त होना पड़ा था। यही कारण है, जो वेद में अनेक स्थानों पर इन्द्र को 'दस्युहा' कहा गया है।[5] जब आर्य भारत में अपने राज्य स्थापित करने में तत्पर थे, अनेक स्थानों पर दास या दस्यु जाति के लोग आबाद थे, जो आयसी पुरः (सुदृढ़ दुर्ग से परिवेष्टित नगरों) में निवास करते थे और युद्ध में जिन्हें परास्त करके ही आर्यों के लिए अपने राज्य स्थापित कर सकना सम्भव था। ऋग्वेद के कितने ही सूक्तों में इन्द्र के वीर कृत्यों का वर्णन है इन्द्र ने यह वीरता दासों व दस्युओं के विरुद्ध ही प्रदर्शित की थी। दासों व दस्युओं की भी अनेक जातियाँ (कबीले) थीं, जिनमें किरात, कीकट, चाण्डाल, पर्णक और सिम्यु प्रधान थे।

सुदास और दाशराज्ञ के युद्ध के प्रसङ्ग में जिन जनों का ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है, उनके अतिरिक्त भी कतिपय ऐसे 'जनों' (कबीलों) के नाम इस वेद में आये हैं, जो निश्चित रूप से आर्य थे और जिनका निवास भी भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में था। ऐसा एक जन सृञ्जय था, जो त्रित्सु-भरतों का पड़ोसी था। भरतों के समान सृञ्जय की भी तुर्वश-जन से शत्रुता थी, और उसके राजा दैववात ने तुर्वश को युद्ध में परास्त किया था।[6] क्रिवि नामक एक अन्य जन का निवास पहले सिन्धु और

---

१. प्रति यदस्य वज्रं बाह्वोर्धुर्हत्वी दस्यून्पुर आयसीर्नितारीत्। ऋग्वेद २।२०।८

२. 'अस्मे दासीर्विशः सूर्येण सह्याः।' ऋग्वेद २।११।४

३. ऋग्वेद ५।२९।१०; १।१७४।२; ४।१६।१३

४. इलीविश, ऋग्वेद १।३३।१२

शुष्णं पिप्रुं कुयवं वृत्रमिन्द्र यदावधीर्वि पुरः शम्बरस्य। ऋग् १।१०३।८

यो व्यंसं जाहृषाणेन मन्युना यः शम्बरं यो अहन् पिप्रुमव्रतम्।

ऋग्वेद १।१०१।२

५. स वज्रभृद् दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा। १।१००।१२

६. 'यस्य गावावरुषा सूयवस्यू अन्तरू षु चरतो रेरिहाणा।

स सृञ्जयाय तुर्वशं परादाद् वृचीवतो दैववाताय शिक्षन्॥ ऋग्वेद ६।२७।७

असिक्नी नदियों के प्रदेश में था, पर बाद में वह पूर्व की ओर अग्रसर होते हुए गंगा-यमुना के पूर्व में उस प्रदेश में आ बसा था, जो बाद में पञ्चाल नाम से विख्यात हुआ। सम्भवतः, त्रित्सु के समान क्रिवि भी भरतों से सम्बद्ध थे, और पञ्चाल में बस जाने पर उनकी भरतों से पृथक् कोई सत्ता नहीं रह गई थी। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में क्रिवि को पञ्चाल का पुराना नाम कहा गया है।[1]

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर असुरों का भी उल्लेख है। असुर शब्द का प्रयोग उपास्य देव के लिए भी हुआ है, और एक विशिष्ट जाति के लिए भी। जिस प्रकार भारतीय आर्य देवों के उपासक थे, वैसे ही आर्यों की ईरानी शाखा असुर की पूजा करती थी। वैदिक साहित्य में जिन्हें असुर कहा गया है, वे भी जाति की दृष्टि से आर्य ही थे।

ऋग्वेद में नदियों, पर्वतों, जनों (कबीलों) और राज्यों के जो नाम आए हैं, उन्हें दृष्टि में रखकर यह सुगमता से निर्धारित किया जा सकता है कि इस अत्यन्त प्राचीन काल में भारत में आर्यों का प्रसार किन प्रदेशों में हुआ था। अलिन, पक्थ, भलानस और विषाणी जनों का निवास अफगानिस्तान और पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में था, जहाँ उनके वंशज पक्थून लोग अब भी निवास करते हैं। गन्धारी जन सिन्ध नदी के पश्चिम में बसा हुआ था, और शिव या शिवि जन सिन्ध के पूर्व में। यदु, अनु, तुर्वश और द्रुह्यु जन शुतुद्रि (सतलुज के पश्चिम में पंजाब के प्रदेश में बसे हुए थे, और सरस्वती तथा उसकी सहायक दृषद्वती, अपाया आदि नदियों के क्षेत्र में पुरु, भरत, त्रित्सु और सृञ्जय जनों का निवास था। गंगा तथा उसके पूर्ववर्ती प्रदेशों में अभी आर्य लोगों का प्रसार सम्भवतः नहीं हुआ था। वहाँ अजाम, शिग्रु और यक्षु सदृश जातियाँ बसी हुई थीं, जो आर्य भिन्न नसल की थीं। उनके प्रदेश के और अधिक पूर्व में कीकटों का निवास था। आर्यों के कुछ कबीले यमुना नदी के दक्षिणवर्ती प्रदेशों में भी बसने लग गए थे। ऐसा एक जन चेदि था। ऋग्वेद की अन्तःसाक्षी के आधार पर ऐतिहासिकों ने यह प्रतिपादित किया है कि इस अत्यन्त प्राचीन युग में भारत के बहुत थोड़े भाग में ही आर्य आबाद हुए थे।

(३) उत्तर-वैदिक युग में आर्यों के विविध राज्य

इतिहास के आधुनिक विद्वान् यह मानते हैं कि चारों वैदिक संहिताओं की रचना एक ही समय में नहीं हुई थी। उनके मत में ऋग्वेद का काल बहुत पुराना है, और अन्य तीनों वेदों का निर्माण बाद के समय में हुआ था। जिस युग में यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् और सूत्र ग्रन्थ बने, उसे ऐतिहासिक लोग उत्तर-वैदिक युग कहते हैं। इस साहित्य के आधार पर वे यह प्रतिपादित करने

---

१. हैतेन कंव्य ईजे पाञ्चालो राजा क्रिवय इति ह वै पुरा पञ्चालानाचक्षते
तदेतद्गाथयाभिगीतम् अश्वं मेध्यमालभन्त क्रिवीणामतिपूरुषः पाञ्चालः
शतपथ १३।५।४।७

का प्रयत्न करते हैं, कि भारत में आर्यों का प्रसार किस प्रकार हुआ और कैसे उनके विविध जन पूर्व तथा दक्षिण दिशाओं में अग्रसर होकर अपनी नई बस्तियाँ व राज्य कायम करने में तत्पर हुए।

ऋग्वेद में केवल हिमालय तथा उसकी अन्यतम चोटी मूजवन्त का ही उल्लेख मिलता है। पर बाद के वैदिक साहित्य में त्रिककुद् का भी उल्लेख है,[1] जो हिमालय पर्वत शृंखला के अन्तर्गत ही एक पर्वत था। इसी को आजकल त्रिकोट कहते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक से क्रौञ्च और मैनाक पर्वतों के भी नाम मिलते हैं,[2] जिनकी स्थिति भी हिमालय के क्षेत्र में ही थी। इससे यह स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक युग में आर्य लोग काश्मीर के हिमालय के अतिरिक्त अधिक पूर्व के हिमालय से भी परिचित हो गए थे। विन्ध्य पर्वत का उल्लेख अन्य वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी नहीं मिलता। पर कौशीतकी उपनिषद् में एक दक्षिण पर्वत का उल्लेख है, जिससे सम्भवतः विन्ध्याचल ही अभिप्रेत था।

उत्तर-वैदिक युग के साहित्य में अनेक ऐसी नदियों के नाम आते हैं, जो पूर्वी और दक्षिणी भारत की हैं। शतपथ ब्राह्मण में रेवोत्तरा का उल्लेख है,[3] जिसे रेवा के साथ मिलाया गया है। रेवा नर्मदा नदी का ही अन्यतम नाम था। शतपथ ब्राह्मण में सदानीरा नदी का नाम भी पाया जाता है,[4] और इसे कोशल तथा विदेह की सीमा पर स्थित कहा गया है। अनेक विद्वानों के अनुसार सदानीरा गण्डक का ही प्राचीन नाम है।[5] रेवा और सदानीरा नदियों के उल्लेख के कारण यह परिणाम निकाला गया है, कि उत्तर-वैदिक युग के आर्य पूर्व में गण्डक नदी तक और दक्षिण में नर्मदा नदी तक अपनी बस्तियाँ बसा चुके थे।

पर्वतों और नदियों के अतिरिक्त उत्तर-वैदिक काल के साहित्य में अनेक प्रदेशों एवं स्थानों के नाम भी आए हैं, जिनसे इस युग में आर्यों के विस्तार के सम्बन्ध में कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण में परिचक्रा का उल्लेख है, जहाँ कि राजा क्रैव्य पाञ्चाल ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था।[6] इसे एकचक्रा नगरी से मिलाया गया है, जिसकी स्थिति काम्पिल्य के समीप थी। शतपथ ब्राह्मण में काम्पिल्य नगरी का भी उल्लेख मिलता है, जो पञ्चाल जनपद की राजधानी थी।[7]

---

१. शतपथ ब्राह्मण ३।१।३।१२; अथर्ववेद ४।६।८
२. तैत्तिरीय आरण्यक १।३१।२
३. शतपथ १२।६।३।१
४. 'स इमा सर्वा नदीरतिददाह सदानीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्धावति तां ह वै नातिददाह तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्ति। शतपथ १।४।४।१४
५. Vedic Index 2, p. 422.
६. अश्वं मेध्यमालभते क्रिव्याणामतिपूरुषः पाञ्चालः परिचक्रायां सहस्रशतदक्षिणा-मिति।' शतपथ १३।५।४।७
७. शतपथ ब्राह्मण १३।२।८।३

यह नगरी गंगा के तट पर थी, और वर्तमान समय के कन्नौज से अधिक दूर नहीं थी। यजुर्वेद में काम्पीलवासिनी एक महिला का उल्लेख है (२३।१८)। काम्पील से काम्पिल्य नगरी ही अभिप्रेत थी, यह कल्पना असंगत नहीं है। इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में नैमिषारण्य का भी वर्णन है,[1] प्राचीन काल में ऋषि मुनियों ने जहां अनेक आश्रम बनाये हुए थे। वर्तमान समय में यह नीमसर कहाता है, और एक महत्त्वपूर्ण तीर्थ है। शतपथ में आये कौशाम्बेय शब्द से यह अनुमान किया गया है,[2] कि उत्तर-वैदिक युग में कौशाम्बी नगरी की भी स्थापना हो चुकी थी। बाद के काल में यह नगरी वत्स महाजनपद की राजधानी के रूप में बहुत प्रसिद्ध हुई। इसे वर्तमान समय का कोसम सूचित करता है, जो प्रयाग के समीप यमुना के तट पर स्थित है। काम्पिल्य, कौशाम्बी और नैमिषारण्य सदृश स्थानों के उल्लेख के कारण इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि उत्तर-वैदिक युग में आर्य लोगों का प्रसार उस क्षेत्र में हो चुका था, जिसे आजकल उत्तर प्रदेश कहा जाता है।

उत्तर-पश्चिमी भारत और गंगा-यमुना-सरस्वती के क्षेत्र से आगे बढ़कर आर्यों ने जिन बहुत-से राज्यों को स्थापित किया, उनके सम्बन्ध में भी अनेक निर्देश उत्तर-वैदिक युग के साहित्य में विद्यमान हैं। वस्तुतः, इस युग में भारत में दूर-दूर तक आर्यों के राज्य स्थापित हो गए थे, और कुरु-पञ्चाल के राज्य मध्यमा-प्रतिष्ठा दिशा (जिसे बाद में मध्यदेश कहा जाता था) में स्थित समझे जाने लगे थे।[3] ऐतरेय ब्राह्मण के एक सन्दर्भ में हिमालय से परे के उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र जनपदों के अतिरिक्त दक्षिण के भोज और सत्वत तथा पूर्व दिशा के ऐसे राज्यों का भी उल्लेख है, जो सम्राटों द्वारा शासित होकर साम्राज्य विस्तार के लिए तत्पर रहते थे। ये राज्य मगध और अंग सदृश ही थे। यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है कि ऐतरेय ब्राह्मण के रचना-काल में आर्य लोग उत्तर भारत के बहुत-से प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित कर चुके थे।

ऋग्वेद के समय भारतीय आर्यों में यदु, पुरु, अनु, तुर्वश और द्रुह्यु ये पञ्चजन प्रधान थे, और इनका निवास मुख्यतया हरियाणा और पंजाब के क्षेत्र में था। पर सुदास की विजयों के कारण भरत जन की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और पुरु-भरत-त्रित्सु से मिलकर एक शक्तिशाली जनराज्य का विकास हो गया था—जिसे 'कुरु' कहते थे। उत्तर-वैदिक काल के आर्य राज्यों में यह कुरु राज्य सर्वप्रधान था। अथर्ववेद में राजा परीक्षित का उल्लेख है, जिसे 'कौरव्य कहा गया है,[4] और उसके राज्य की सुख-

१. 'नैमिशीय' पञ्चविंश ब्राह्मण २५।६।४, जैमिनीय ब्राह्मण १।३६३
'नैमिषीय' छान्दोग्य उपनिषद् १।२।१३, कौषीतकि ब्राह्मण २६।५

२. 'प्रोतिर्ह कौशाम्बेयः। कौसुरुबिन्दिरुद्दालकेऽआरुणौ ब्रह्मचर्यमुवास तः।'
शतपथ १२।२।२।१३

३. 'मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपञ्चालानां राजानः राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते।' ऐतरेय ८।३।३

४. अथर्ववेद २०।१२७।८

समृद्धि का बड़े उल्लास के साथ वर्णन किया गया है। उत्तर-वैदिक युग के साहित्य में परीक्षित के वंशज जनमेजय का भी उल्लेख मिलता है, और उसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसने आसन्दीवत में अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था।[1] सम्भवतः, आसन्दीवत ही बाद में हस्तिनापुर नाम से प्रसिद्ध हुआ था। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः कुरु के साथ पञ्चाल का भी उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद के समय इसे 'क्रिवि' कहा जाता था, और आर्य जनपदों में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था। पर उत्तर-वैदिक युग में कुरु के समान पञ्चाल ने भी बहुत महत्त्व प्राप्त कर लिया था। उसके राजा क्रैव्य और शोण सात्रासाह ने अश्वमेध यज्ञ किए थे,[2] और राजा दुर्मुख ने सम्पूर्ण पृथिवी को जीतकर अपने अधीन कर लिया था।[3] उपनिषदों में पञ्चाल के राजा प्रवाहण जावाली की कथा दी गई है जो परम विद्वान् तथा दार्शनिक था और जिसकी राजसभा में दूर-दूर से ब्राह्मण एवं ऋषि मुनि एकत्र होकर तत्त्व-चिन्तन किया करते थे।[4] उत्तर-वैदिक काल में कुरु और पञ्चाल आर्य धर्म, कर्मकाण्ड और तत्त्वचिन्तन के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, और इनके ब्राह्मण विदेह आदि सुदूरवर्ती जनपदों के राजाओं द्वारा भी आदरपूर्वक अपनी-अपनी राजसभाओं में आमन्त्रित किए जाते थे।[5] बाद के समय में पञ्चाल जनपद दो भागों में विभक्त हो गया था, उत्तर पञ्चाल (राजधानी—अहिच्छत्र) और दक्षिण पञ्चाल (राजधानी—काम्पिल्य)। पर पञ्चाल का यह विभाजन सम्भवतः उत्तर-वैदिक युग तक नहीं हुआ था।

शिव या शिवि जनपद की सत्ता ऋग्वेद के काल में भी थी। उसका परिगणन पक्थ, अलिन आदि उत्तर-पश्चिमी जनों के साथ किया गया है। उत्तर-वैदिक काल में भी इसकी सत्ता कायम रही। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण में शिवि के राजा अमित्रतापन का उल्लेख मिलता है।

उत्तर-वैदिक युग के साहित्य में कितने ही ऐसे राज्यों का वर्णन है, ऋग्वेद में जिनका कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया। ये राज्य मत्स्य, वश (वत्स), कोशल, मगध, विदेह, काशी, शाल्व, अङ्ग, वङ्ग, सत्वन्त, विदर्भ, निषध, कुन्ती, केकय, कम्बोज, मद्र, पुलिन्द, शबर, महावृष, वाह्लीक और आन्ध्र आदि हैं। गोपथ ब्राह्मण और कौषीतकी उपनिषद् में 'मत्स्य' का उल्लेख मिलता है, और उसके राजा ध्वसन द्वैतवन का परिगणन शतपथ द्वारा उन राजाओं में किया गया है जिन्होंने कि अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था।[6] बौद्ध साहित्य में मत्स्य को महाजनपद कहा गया है,

१. 'जनमेजयं पारिक्षितं याजयाञ्चकार···आसन्दीवति धान्यादं रुक्मिणंहरितस्रजम्, अबध्नात् अश्वं सारङ्गं देवेभ्यो जनमेजय इति ।।' शतपथ १३।५।४।१

२. 'अश्वं मेध्यमालभत क्रिवीणामतिपूरुषः पाञ्चालः"
'शोणः सात्रासाह ईजे पाञ्चालो राजा'। शतपथ १३।५।४।६, १६

३. ऐतरेय ब्राह्मण ८।२३

४. बृहदारण्यक उपनिषद् ६।२

५. बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ३

६. शतपथ ब्राह्मण १३।५।४।६

और उस काल में इसकी स्थिति यमुना के पश्चिम तथा कुरु जनपद के दक्षिण में थी। कौशीतकी उपनिषद् मे मत्स्य के साथ ही 'वश' का भी उल्लेख किया गया है। वश की राजधानी कौशाम्बी नगरी थी, और यही जनपद बाद में वत्स कहाया। कोशल और विदेह का उल्लेख ऋग्वेद में नही मिलता, यद्यपि उसके एक मन्त्र में इक्ष्वाकु नाम आया है।[1] कोशल के राजा ऐक्ष्वाकव (इक्ष्वाकु के वंशज) वंश के थे, जिससे यह संकेत मिलता है कि ऋग्वेद के काल में आर्य लोग कोशल मे भी अपना राज्य स्थापित कर चुके थे। पर ऋग्वेद का यह मन्त्र दसवें मण्डल का है, और जो ऐतिहासिक अन्य वैदिक संहिताओं को ऋग्वेद के बाद की रचना मानते हैं, उनकी सम्मति में ऋग्वेद का दसवां मण्डल भी बाद मे ही बना था। शतपथ ब्राह्मण मे ऐक्ष्वाकव पुरुकुत्स का उल्लेख है, और साथ ही एक ऐसी कथा भी दी गई है जिससे पूर्व दिशा की ओर आर्यों के प्रसार का संकेत मिलता है। इस कथा के अनुसार विदेह के राजा विदेघ माथव ने अपने पुरोहित गौतम राहुगण के साथ सरस्वती नदी के तट से यज्ञीय अग्नि को लेकर पूर्व की ओर यात्रा की थी, और मार्ग मे कोशल होते हुए सदानीरा नदी को पार कर वह उस प्रदेश मे जा पहुचा था, जहां उसने विदेह राज्य की स्थापना की।[2] इस कथा से ज्ञात होता है कि विदेह मे आर्यों के बसने से पूर्व कोशल मे उनका राज्य स्थापित हो चुका था, और पूर्व की ओर बसने वाले आर्य उसी यज्ञीय संस्कृति को अपने साथ ले जाते थे, जिसका विकास उनके पूर्वजो द्वारा सरस्वती नदी के तट पर किया गया था। शतपथ ब्राह्मण मे कोशल के राजा परआट्णार हैरण्यनाभ का उल्लेख उन प्रतापी राजाओं मे किया गया है, जिन्होने कि अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान किया था।[3] कोशल और विदेह के साथ ही काशी का भी ब्राह्मण ग्रन्थों मे उल्लेख किया गया है। पूर्व की ओर प्रसार करते हुए आर्यों ने कोशल के समान काशी में भी अपना राज्य स्थापित किया था। काशी की स्थिति कोशल के पूर्व में थी, और विदेह की उससे भी पूर्व के उस प्रदेश मे जिसे आजकल तिर्हुत कहा जाता है। बिहार के उत्तरी क्षेत्र मे विदेह का राज्य था, और दक्षिणी बिहार मे मगध की सत्ता थी। मगध के पूर्व मे अग राज्य था, जिसकी पश्चिमी सीमा चम्पा नदी थी। अथर्ववेद के एक मन्त्र मे अग और मगध का गन्धारी और मूजवत् के साथ उल्लेख कर यह प्रार्थना की गई है कि तक्मा (ज्वर व रोग) इन देशो को चला जाए।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्राचीन युग में मगध और अङ्ग सदश प्राच्य देशो मे ऐसी आर्यभिन्न जातियों का निवास था, जिनके साथ कि आर्यों का संघर्ष चल रहा था। इसी कारण तक्मा के इन देशो मे चले जाने की प्रार्थना की गई है। जब आर्य लोग इनमे जाकर बस

---

१. यस्येक्ष्वाकुरुपव्रते रेवान् मराय्येधते। दिवीव पञ्चकृष्टय॥ ऋग्वेद १०।६०।४

२. शतपथ ब्राह्मण १।४।१।१०-१६

३. शतपथ ब्राह्मण १३।५।४।४

४. गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्यो अंगेभ्यो मगधेभ्यः।
प्रष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परिदद्मसि॥ अथर्ववेद ५।२२।१४

गए, तब भी इनके निवासियों में आर्यभिन्न लोगों की अच्छी बड़ी संख्या रही। सम्भवतः, मगध और अङ्ग जैसे जनपदों (राज्यों) में आर्य लोग भी अपनी रक्तशुद्धता को कायम नहीं रख सके थे। या यह भी कहा जा सकता है कि इन राज्यों की राजशक्ति जिन लोगों के हाथों में थी, वे विशुद्ध आर्य न होकर ऐसे कुलों के साथ सम्बन्ध रखते थे जिन्हें कि आर्य वर्ग में सम्मिलित कर लिया गया था। इन्हें 'व्रात्य' या 'व्रात्य-क्षत्रिय' कहा गया है। मगध और अङ्ग के लोगों को व्रात्य कहने का क्या कारण था, और व्रात्य का वास्तविक अभिप्राय क्या था—इस सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। अङ्ग के पूर्व में वङ्ग राज्य विद्यमान था, जिसे वर्तमान समय में बंगाल कहा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में वङ्ग का भी उल्लेख मिलता है, जिसे मगध के साथ लिखा गया है।[1] सम्भवतः मगध को ही ऐतरेय में वगध लिख दिया गया है। बौधायन धर्मसूत्र में भी वंग उल्लेख मिलता है।

उत्तर-वैदिक युग में दक्षिण के क्षेत्र में आर्य लोग कहां-कहां अपना प्रसार कर चुके थे, इस सम्बन्ध में भी कुछ निर्देश ब्राह्मण-ग्रन्थों में विद्यमान हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में 'दक्षिणां दिशि' में सत्वन्त या सत्वत का उल्लेख है।[2] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इसे कुरु देश के राजा भरत ने विजय किया था।[3] सत्वत के अतिरिक्त विदर्भ और निषध का उल्लेख भी ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है। ये राज्य भी दक्षिण में स्थित थे। ऐतरेय ब्राह्मण में विदर्भ के राजा भीम के विषय में यह कहा गया है कि नारद द्वारा उसे ऐसी औषधि का पता दिया गया था, जिसे सोम के स्थानापन्न रूप में प्रयुक्त किया जा सकता था।[4] विदर्भ वर्तमान समय के बरार का प्राचीन नाम था, और उसकी पुरानी राजधानी कुण्डिन थी। वर्धा नदी के तट पर विद्यमान कौण्डिन्यपुर इसी कुण्डिन का प्रतिनिधित्व करता है। शतपथ ब्राह्मण में दक्षिण के एक राजा नड के साथ नैषध विशेषण का प्रयोग किया गया है। सम्भवतः, यह नड निषध देश के राजा नल के लिए प्रयुक्त किया गया है, जिसकी कथा पुराणों और महाभारत में विस्तार के के साथ दी गई है। विदर्भ के समान निषध की स्थिति भी दक्षिण में ही थी।

प्रतीची (पश्चिम) और उदीची (उत्तर) दिशाओं में भी कतिपय ऐसे राज्य उत्तर-वैदिक युग में स्थापित हो गए थे, जिनका ऋग्वेद में उल्लेख नहीं मिलता। ऐतरेय ब्राह्मण में पश्चिम के नीच्य, अपाच्य, वाहीक और अम्बष्ठ राज्यों के नाम आये हैं।[5] इनकी स्थिति किन स्थानों पर थी, यह निर्धारित कर सकना कठिन है। शतपथ ब्राह्मण में वाहीकों के सम्बन्ध में यह कहा गया है, कि वे अग्नि के लिए भव संज्ञा

१. ऐतरेय ब्राह्मण २।१

२. 'ये के च सत्वतां राजानः भौज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते।' ऐतरेय ब्राह्मण ८।३

३. शतपथ ब्राह्मण १३।५।४।२१

४. ऐतरेय ब्राह्मण ७।३४

५. ऐतरेय ब्राह्मण ८।२१

का प्रयोग करते हैं, जबकि प्राच्य देशों में उसे शर्व कहा जाता है।[1] बाहीक पंजाब के किसी पश्चिमी प्रदेश का नाम था। अम्बष्ठ वही है, जिसे सिकन्दर के साथ आये ग्रीक लेखकों ने अबस्तनोई लिखा है। इसकी स्थिति असिक्नी नदी द्वारा सिंचित प्रदेश में थी। ऐतरेय ब्राह्मण में अम्बष्ठ के एक ऐसे राजा का उल्लेख है, जिसका ऐन्द्र महाभिषेक हुआ था। नीच्य और अपाच्य के प्रदेश सम्भवतः सिन्ध एवं उसके उत्तरवर्ती क्षेत्र में थे।

उत्तर-वैदिक युग के साहित्य में उत्तर दिशा के उत्तर-कुरु, उत्तर-मद्र, मूजवत् महावृष, गन्धारि, बाल्हीक, केसी, केकय और कम्बोज के नाम मिलते है। उत्तर-कुरु की स्थिति हिमालय के उत्तर क्षेत्र में थी, और सम्भवतः इस राज्य की स्थापना आर्यों के कुरु या कौरव 'जन' द्वारा की गई थी। ऐतरेय ब्राह्मण में आत्तपी अत्यरानि नामक एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति का उल्लेख आया है, जो उत्तर-कुरु की विजय के लिए उत्सुक था।[2] उत्तर-कुरु के समान उत्तर-मद्र जनपद भी हिमालय के उत्तरी क्षेत्र मे विद्यमान था। मद्र 'जन' के दो जनपद (राज्य) थे, उत्तर-मद्र और दक्षिण-मद्र। बौद्ध युग में मद्र या मद्रक जनपद बहुत प्रसिद्ध हुआ, और उसकी राजधानी शाकल नगरी बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गई। वर्तमान सियालकोट (पाकिस्तान में) इसी शाकल का प्रतिनिधित्व करता है। यह मद्र दक्षिण-मद्र था, और उत्तरमद्र की स्थिति हिमालय के उत्तरी क्षेत्र मे थी। बृहदारण्यक उपनिषद् मे काप्य पतञ्जल का उल्लेख है, जिसे मद्र का निवासी कहा गया है।[3] अथर्ववेद के एक सूक्त मे अङ्ग और मगध के समान गन्धारि, मूजवत्, महावृष और बाल्हिक के सम्बन्ध में भी यह प्रार्थना की गई है, कि तक्मा (ज्वर) इन देशों में चला जाए।[4] इससे यह संकेत मिलता है, कि ये भी आर्यों के क्षेत्र के सीमावर्ती जनपद थे, यद्यपि इनकी स्थिति पूर्व में न होकर उत्तर की ओर थी। छान्दोग्य उपनिषद् में रैक्वपर्ण का और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में हृत्वाशय का महावृष राज्य के राजाओं के रूप मे उल्लेख विद्यमान है। यद्यपि अथर्ववेद मे तक्मा को गन्धारि भी चले जाने के लिए कहा गया है, जिससे उसके आर्यक्षेत्र से बाहर होने का संकेत मिलता है, पर ऐतरेय ब्राह्मण मे गन्धार के राजा नग्नजित् का उल्लेख है, जिसने कि याज्ञिक कर्मकाण्ड मे सोम के प्रयोग पर बल दिया है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर-वैदिक

---

१. "अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति बाहीकाः।" शतपथ ब्राह्मण १।७।३।१

२. ऐतरेय ब्राह्मण ८।२३

३. याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्जलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम।' शतपथ ब्राह्मण १४।६।७।१

४. तक्मन् मूजवतो गच्छ बल्हिकान् वा परस्तराम्। ६
महावृषान् मूजवतो बन्ध्वद्धि परेत्य।
प्रैतानि तक्मनो ब्रूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा॥ ८ अथर्ववेद ५।२२।७-८

५. ऐतरेय ब्राह्मण ८।३४

काल में गन्धारी या गान्धार वैदिक अध्ययन का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। बाद के समय में भी यह जनपद शिक्षा के केन्द्र के रूप में विकसित होता रहा, और बौद्ध काल में इसकी राजधानी तक्षशिला अपने विद्यापीठों और विश्व-विख्यात आचार्यों के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध हो गई।

केकय जनपद की स्थिति वितस्ता (जेहलम) के तटवर्ती प्रदेश में थी, और उत्तर-वैदिक युग में यह धर्म तथा संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। शतपथ ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् में केकय के राजा अश्वपति का उल्लेख है,[1] और अन्यत्र उसके मुख से यह कहाया गया है, कि मेरे जनपद में न कोई चोर है न कोई शराबी है, न कोई ऐसा व्यक्ति है जो याज्ञिक अनुष्ठान न करता हो, न कोई अविद्वान् है और न कोइ व्यभिचारी है। इस जनपद में किसी स्त्री के व्यभिचारिणी होने का तो प्रश्न ही नहीं है।[2] सामवेद के वंश ब्राह्मण में काम्बोज औपमन्यव नामक एक आचार्य का उल्लेख आया है, जो मद्रगार का शिष्य था। बौद्ध युग के सोलह महाजनपदों में कम्बोज भी एक था, और उसका परिगणन गान्धार के साथ किया जाता था। वंश ब्राह्मण में उल्लिखित काम्बोज औपमन्यव इस कम्बोज का ही निवासी था, और उसके एक आचार्य के रूप में उल्लेख से सूचित होता है कि यह जनपद भी प्राचीन समय में आर्य ज्ञान तथा संस्कृति का केन्द्र था। काम्बोज जनपद की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है, पर बहुसंख्यक विद्वानों को यह मत स्वीकार्य है कि यह उस प्रदेश में था जहाँ कि वर्तमान समय में बदख्शां की स्थिति है।

उत्तर-वैदिक युग के साहित्य में कतिपय ऐसी जातियों का भी उल्लेख मिलता है, जिन्हें आर्य नहीं समझा जाता, या जिनमें आर्यभिन्न रक्त का मिश्रण माना जाता है। ये जातियाँ आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में इन सबका उल्लेख है। आन्ध्रों का निवास कृष्णा और गोदावरी नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में था, और पुण्ड्रों का उत्तरी बंगाल में। बंगाल की प्राचीन राजधानी का पुण्ड्रवर्धन नाम इसी जाति के नाम पर पड़ा था। अशोक के शिलालेखों में पुलिन्द का उल्लेख आन्ध्र के साथ किया गया है। इससे यह परिणाम निकाला गया है, कि पुलिन्दों का प्रदेश गोदावरी के उत्तर में होना चाहिए। कतिपय विद्वानों ने भिलसा (मध्य प्रदेश में) के समीपवर्ती प्रदेश में पुलिन्दों का निवास प्रतिपादित किया है। शबर और मूतिबों के प्रदेश के विषय में निश्चित परिणाम पर पहुँच सकना कठिन है। विजगापटम, ग्वालियर और उड़ीसा में कतिपय ऐसी जातियों का निवास है, जिनके सौरस और सबरी सदृश नाम शबर से मिलते-जुलते है। इन्हें प्राचीन शबरों का वंशज समझा जा सकता है। रामायण की कथा में एक शबरी का उल्लेख है, जिसने राम का स्वागत

---

१. 'अश्वपतिर्वाऽअयं कैकयः सम्प्रति वैश्वानरं वेद न गच्छाम इति।'
शतपथ ब्राह्मण १०।६।१।२

२. 'न मे स्तेनो जनपदे न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।'
छान्दोग्य उपनिषद् ५।११

किया था। मूतिब को मूचिय और मूषिक (जिसका उल्लेख मार्कण्डेय पुराण में मिलता है) का रूपान्तर मानकर कतिपय विद्वानों ने इस जाति को हैदराबाद की मूसी नदी के प्रदेश का निवासी प्रतिपादित किया है।

ऋग्वेद के युग में सरस्वती नदी का प्रदेश आर्यों का प्रमुख केन्द्र था। पर भौगोलिक परिस्थितियों में परिवर्तन आ जाने के कारण उत्तर-वैदिक युग में सरस्वती के प्रदेश का महत्त्व कम हो गया था। इसीलिए अब आर्यों के मुख्य केन्द्र कुरु (राजधानी–हस्तिनापुर) और पञ्चाल (राजधानी–परिचक्रा) हो गये थे।

आठवां अध्याय

वैदिक युग का राजनीतिक इतिहास

(१) ऐतिहासिक अनुश्रुति

क्योंकि वेद प्रधानतया धार्मिक ग्रन्थ हैं, अतः राजनीतिक इतिहास के लिए उनका विशेष उपयोग नहीं है। पुरातत्त्व सम्बन्धी अनुसन्धान अभी इस दशा को नहीं पहुँचा है, कि उस द्वारा प्राचीन भारत की, विशेषतया वैदिक युग की राजनीतिक घटनाओं पर कोई प्रकाश पड़ सके। पर पुराणों और रामायण-महाभारत के रूप में ऐसे साधन विद्यमान हैं, जिनका विवेचन कर वैदिक युग के इतिहास की रूपरेखा तैयार की जा सकती है। इन ग्रन्थों में आर्य जाति की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति संगृहीत है। प्राचीन आर्यों की दृष्टि में इनका बहुत महत्त्व था। वे इन्हें पाँचवां वेद मानते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में इतिहास-पुराण को स्पष्ट रूप से 'पञ्चम वेद' कहा गया है।[1] इतिहास से रामायण और महाभारत अभिप्रेत हैं। अथर्ववेद में इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी का उल्लेख करके यह कहा गया है कि जब कोई व्यक्ति 'बृहती दिशा' (उच्च जीवन) की ओर चलता है, तो ये इतिहास, पुराण आदि उसके अनुगामी होकर चलने लगते हैं।[2] इसका अभिप्राय यह है कि इतिहास में उसे स्थान प्राप्त हो जाता है, उसके सम्बन्ध में अनेक आख्यानों तथा गाथाओं का प्रचलन होने लगता है, और उसके कृत्यों की स्तुति होने लगती है। रामायण, महाभारत और पुराणों में उन प्राचीन आर्य राजाओं की स्मृति विद्यमान है, जिनके दान-पुण्य व वीरकृत्यों ने अनेक लोगों के मनों पर अपनी छाप छोड़ दी थी। वैदिक युग के इतिहास के लिए पुराणों में संकलित ऐतिहासिक अनुश्रुति का किस अंश तक उपयोग है, इस प्रश्न पर इस ग्रन्थ के पहले अध्याय में विवेचन किया जा चुका है। यह सही है कि पौराणिक अनुश्रुति की उपयोगिता के सम्बन्ध में पहले बहुत मतभेद रहा है। उन्नीसवीं सदी में प्राचीन भारतीय इतिहास की खोज करने वाले विद्वान् पौराणिक इतिवृत्त को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रायः निरर्थक समझते रहे। पर बीसवीं सदी के प्रथम चरण में इस प्रवृत्ति ने पलटा खाया।

---

१. 'स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं।' छान्दोग्य उपनिषद्

२. 'स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनाञ्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।' अथर्ववेद १५।६।१०-१२

श्री पार्जीटर ने पुराणों का गम्भीर व विशद रूप से अनुशीलन कर यह परिणाम निकाला, कि पौराणिक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोग किया जा सकता है, और इनमें जो अनुश्रुति संगृहीत है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पार्जीटर ने 'पुराण टेक्स्ट आफ दि डिनेस्टीज आफ दि कलि एज' और 'एन्शिएन्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन' नामक दो ग्रन्थ लिखे, जिनमें उन्होंने पुराणों में विद्यमान ऐतिहासिक अनुश्रुति का विशद रूप से प्रतिपादन और अनुशीलन किया। पार्जीटर के अनुसार प्राचीन भारतीय अनुश्रुति दो भागों में विभक्त की जा सकती है। धर्मविषयक अनुश्रुति वैदिक साहित्य में संगृहीत है, और राजवंशों तथा राजाओं के सम्बन्ध की अनुश्रुति पुराणों में पायी जाती है। प्राचीन भारत में जो सूत और चारण लोग थे, वे राजाओं और उनके कृत्यों का आख्यान किया करते थे, और सूत-वंशों में ये प्राचीन आख्यान या ख्यात स्थित रहते थे। बाद में इन्हीं ख्यातों को पौराणिक साहित्य में संगृहीत कर दिया गया। यह सही है कि पुराणों में पायी जाने वाली अनुश्रुति को अविकल रूप से स्वीकृत नहीं किया जा सकता। पर यदि उसकी वैज्ञानिक रूप से विवेचना की जाय, तो उसके आधार पर प्राचीन आर्य राजाओं, राजवंशों और उनके कृत्यों के सम्बन्ध में बहुत-सी उपयोगी बातों का पता किया जा सकता है। पुराणों में वर्णित इन राजाओं का उल्लेख कहीं-कहीं वैदिक-साहित्य में भी आ गया है, और इससे पौराणिक अनुश्रुति की सत्यता को सिद्ध करने के लिए पुष्ट प्रमाण मिल जाता है। पुराणों में संकलित अनुश्रुति के बड़े भाग का सम्बन्ध उसी काल के साथ है, जिसे वैदिक युग कहा जाता है।

पार्जीटर के समान श्री काशीप्रसाद जायसवाल और जर्मन विद्वान् किर्फेल ने भी पौराणिक अनुश्रुति की ऐतिहासिक उपयोगिता को स्वीकार किया, और प्राचीन भारतीय इतिहास-सम्बन्धी अनेक तथ्य पुराणों के आधार पर प्रकट किये। बाद में महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री, डा० प्रधान, डा० हेमचन्द्र रायचौधरी आदि अनेक विद्वानों ने पौराणिक अनुश्रुति का उपयोग कर विभिन्न ग्रन्थ लिखे। सम्भवतः, अब विद्वानों में इस विषय पर अधिक मतभेद नहीं रह गया है, और सभी लोग यह स्वीकार करने लगे हैं कि पुराणों के आधार पर आर्यों के प्राचीन इतिहास की रूप-रेखा तैयार की जा सकती है।

(२) मानव-वंश

राज्यसंस्था का प्रारम्भ—पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार पहला आर्य राजा वैवस्वत मनु था। उससे पहले इस देश में अराजक दशा थी। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही बलवान् लोग निर्बलों को नष्ट करने में लगे रहते थे। मात्स्यन्याय की इस दशा से परेशान होकर लोगों ने मनु को अपना राजा चुना, और उसके आदेशों का पालन करना स्वीकार किया। मनु आर्थिक दृष्टि से सर्वथा निश्चिन्त होकर राज्य-व्यवस्था में अपना सब समय लगा सके, इसके लिए प्रजा ने उसे अपनी पैदावार का छठा भाग देना स्वीकार किया। वैवस्वत मनु के इस प्रकार

पहले-पहल राजा बनने की बात न केवल पुराणों में, अपितु महाभारत कौटलीय अर्थ-शास्त्र आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है। इस अनुश्रुति का अभिप्राय शायद इतना ही है, कि अराजक दशा से जब पहले-पहल राज्य-संस्था का विकास हुआ, तो मनु सर्व-प्रथम राजा के पद पर अधिष्ठित हुए। संविदा (समय, ठहराव, इकरार) द्वारा राज्य-संस्था के प्रादुर्भूत होने की कल्पना अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी की है। प्राचीन ग्रीस में भी इस विचार की सत्ता थी।

मानव-वंश का विस्तार—राज्य-संस्था के प्रादुर्भूत हो जाने के बाद मनु आर्यों का पहला राजा बना। उसके एक कन्या और आठ पुत्र थे। मनु ने अपने राज्य को अपने पुत्रों में बाँट दिया। उसके सबसे बड़े पुत्र का नाम इक्ष्वाकु था। वह मध्यदेश का राजा बना, जिसकी राजधानी अयोध्या थी। इक्ष्वाकु द्वारा उस राजवंश का प्रारम्भ हुआ, जो भारतीय इतिहास में ऐक्ष्वाकव, मानव एवं सूर्यवंश के नाम से विख्यात है। इसी वंश में आगे चलकर राजा दिलीप, रघु, दशरथ और राम हुए। मनु के एक अन्य पुत्र नाभानेदिष्ट को पूर्व की ओर तिरहुत का राज्य मिला। इस वंश में आगे चलकर राजा वैशाल हुआ, जिसने वैशाली नाम की नगरी बसायी। बौद्ध-युग में इस वैशाली की बहुत प्रसिद्धि हुई, और यह लिच्छवि नाम से प्रसिद्ध क्षत्रियों की राजधानी बनी। इस नगरी के अवशेष उत्तरी बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ नामक ग्राम में पाये गये हैं। मनु के एक अन्य पुत्र का नाम करुष था। उसके नाम से कारूष राज्य की स्थापना हुई, जो इस समय के बघेलखण्ड क्षेत्र में विद्यमान था। मनु के एक अन्य पुत्र शर्याति ने दक्षिण में आधुनिक गुजरात के क्षेत्र में अपने राज्य की स्थापना की। शर्याति के पुत्र का नाम आनर्त था। यह बहुत प्रतापी राजा था, इसी के नाम से उस देश का नाम ही आनर्त पड़ गया। आनर्त देश की राजधानी कुशस्थली या द्वारिका थी। वैवस्वत मनु के चार पुत्र—इक्ष्वाकु, नेदिष्ट, शर्याति और करुष चार बड़े और शक्तिशाली राज्यों के संस्थापक हुए। मनु के अन्य चार पुत्रों ने भी अपने पृथक् राज्य स्थापित किये, पर वे अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं।

सूर्य-वंश के संस्थापक इक्ष्वाकु के भी अनेक पुत्र थे, और उन्होंने भी अपने पृथक् राज्य स्थापित किये। उसका बड़ा लड़का विकुक्षि अयोध्या की राजगद्दी पर बैठा। इक्ष्वाकु के छोटे पुत्र निमि ने अयोध्या और वैशाली के बीच में एक अन्य राज्य की स्थापना की, जिसकी राजधानी मिथिला थी। इस नगरी का नाम निमि के वंशज मिथि के नाम पर पड़ा था। आगे चलकर मिथिला के इसी वंश के राजा जनक कहलाने लगे थे।

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार मनु के पुत्रों व वंशजों ने भारत के विविध प्रदेशों में अपने विविध राज्य स्थापित किये थे। पुत्र का अभिप्राय शायद वंशज से है। यह मान सकना तो कठिन है, कि मनु के पुत्रों के समय में आर्य-राज्यों का पूर्व में वैशाली तक और दक्षिण में द्वारिका तक विस्तार हो गया था। पौराणिक अनुश्रुति का अभिप्राय शायद यह है, कि मनु के वंशजों द्वारा इन सुदूरवर्ती प्रदेशों तक आर्य-जाति के प्रभुत्व की स्थापना हुई थी। ऊपर दी गई अनुश्रुति में आर्य-जाति की उन

विजयों एवं विस्तार की वह स्मृति सुरक्षित है, जिनके द्वारा भारत के कतिपय प्रदेशों के आदिनिवासियों को परास्त कर आर्य-जाति ने अपना प्रभुत्व कायम किया था। सम्भवतः, मनु उन आर्यों का नेता था, जिन्होंने इस देश में अपनी सत्ता को स्थापित किया था। इक्ष्वाकु, नेदिष्ट, शर्याति और करुष मनु के बाद में हुए, और उनके नेतृत्व में आर्यों का विस्तार सुदूरवर्ती प्रदेशों में हुआ। ये विजयी आर्य-नेता भी मनु के वंशज थे, यह बात भी स्वीकार की जा सकती है।

अयोध्या का सूर्य (ऐक्ष्वाकव) वंश—वैवस्वत मनु के वंशज या पुत्र इक्ष्वाकु ने अयोध्या में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। इक्ष्वाकु के उन्नीस पीढ़ी बाद उसके वंश में एक अत्यन्त प्रतापी राजा हुआ, जिसका नाम मान्धाता था। उसे पुराणों में 'चक्रवर्ती' और 'सम्राट्' कहा गया है। वह अपने समय का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था। उसने पड़ोस के अन्य आर्य-राज्यों को जीतकर दिग्विजय किया। उसके सम्बन्ध में पौराणिक अनुश्रुति में कहा गया है, कि सूर्य जहाँ से उगता है और जहाँ अस्त होता है, वह सम्पूर्ण प्रदेश मान्धाता के शासन में था। जिन आर्य-राज्यों को जीतकर मान्धाता ने अपने अधीन किया, उनमें पौरव, आनव, द्रुह्यु और हैहय राज्यों के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इन राज्यों के सम्बन्ध में हम आगे चलकर लिखेंगे। मान्धाता के बाद उसका पुत्र पुरुकुत्स अयोध्या का राजा बना। उसके दो पीढ़ी बाद त्रसदस्यु के समय से अयोध्या के सूर्य-वंश की शक्ति निर्बल पड़ने लग गई। जिन अनेक राज्यों को मान्धाता ने जीत कर अपने अधीन किया था, वे धीरे-धीरे पुनः स्वतंत्र हो गये। पुरुकुत्स के ग्यारह पीढ़ी बाद (इक्ष्वाकु के इकतीस पीढ़ी पीछे) राजा हरिश्चन्द्र अयोध्या की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। इसकी रानी शैव्या थी। सम्भवतः, वह शिवि-वंश की राजकुमारी थी। हरिश्चन्द्र बड़ा दानवीर था। उसकी कथा भारत में बहुत प्रसिद्ध है। अपना सर्वस्व दान करके वह एक चाण्डाल के घर दास बनकर रहा था। हरिश्चन्द्र, रानी शैव्या और उनके पुत्र रोहित की कथा को कौन नहीं जानता? अयोध्या के ऐक्ष्वाकव-वंश में आगे चलकर इकतालीसवीं पीढ़ी में सगर और पैंतालीसवीं पीढ़ी में राजा भगीरथ हुए। गंगा नदी को हिमालय से उतारकर मैदान में लाने का श्रेय राजा भगीरथ को ही दिया जाता है। इसी के नाम पर गंगा की एक शाखा भागीरथी कहाती है। भगीरथ मान्धाता के समान चक्रवर्ती सम्राट् था। उसके उत्तराधिकारियों में अम्बरीश बहुत प्रसिद्ध हुआ। इक्ष्वाकु वंश के बाद के राजाओं में दिलीप (साठवीं पीढ़ी) बड़ा प्रतापी था। उसे भी मान्धाता और भगीरथ के समान चक्रवर्ती और सम्राट् कहा गया है। दिलीप का पोता रघु और भी अधिक प्रतापी हुआ। उसके दिग्विजय का विशद वर्णन महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंश में किया है। रघु के नाम से प्राचीन ऐक्ष्वाकव वंश रघुवंश या राघववंश भी कहाने लगा। रघु का पुत्र अज था, और अज का पुत्र दशरथ। दशरथ का पुत्र राम था, जिसकी कथा भारत के बच्चे-बच्चे तक को ज्ञात है। राजा रामचन्द्र ऐक्ष्वाकव वंश की ६५ वीं पीढ़ी में हुए थे। उनकी कथा को लेकर

भारत के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य में जितने अधिक काव्य व ग्रन्थ बने हैं, उतने शायद ग्रन्थ किसी कथा को लेकर नहीं बने।

(३) चन्द्र वंश

ऐल वंश—भारत के प्राचीन इतिहास में जिस प्रकार अयोध्या का सूर्य वंश अत्यन्त प्रसिद्ध है, वैसे ही चन्द्र या ऐलवंश भी है। इस वंश का संस्थापक पुरूरवा ऐल था। यह वंश मानव वंश पृथक् था। पर कतिपय अनुश्रुतियों के अनुसार इसका भी वैवस्वत मनु के साथ सम्बन्ध था, और इसकी उत्पत्ति मनु की कन्या इला द्वारा हुई थी। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि वैवस्वत मनु के आठ पुत्र और एक कन्या थी। इला इसी कन्या का नाम था। ऐल-वंश की राजधानी प्रतिष्ठान थी, जिसके भग्नावशेष प्रयाग के सामने झूसी के समीप विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि भारत में जब आर्य जाति ने प्रवेश किया, तो वह अनेक धाराओं में होकर इस देश में प्रविष्ट हुई थी। मानव-वंश आर्य-जाति की एक धारा को सूचित करता है, और ऐल-वंश दूसरी धारा को। मानव-आर्यों ने अयोध्या को अपना प्रधान केन्द्र बनाया, और ऐल-आर्यों ने प्रतिष्ठान को। मानव-वंश के समान ऐल-वंश की भी अनेक शाखाएँ थीं। पुरूरवा के अन्यतम पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज में अपना पृथक् राज्य स्थापित किया।

प्रतिष्ठान का ऐल-वंश भारत की प्राचीन अनुश्रुति में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पुरूरवा का पोता नहुष था। नहुष के अन्यतम पुत्र ने वाराणसी में अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। नहुष का बड़ा लड़का ययाति था, जो अपने पिता की मृत्यु के बाद प्रतिष्ठान का राजा बना। ययाति (छठी पीढ़ी) बहुत प्रतापी और दिग्विजयी था। पुराणों में उसे चक्रवर्ती कहा गया है। उसका राज्य पश्चिम में सरस्वती नदी तक विस्तृत था। ययाति के पाँच पुत्र थे—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु। ये पाँचों पौराणिक अनुश्रुति में बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें से पुरु प्रतिष्ठान का राजा बना, और उसी के नाम पर प्रतिष्ठान का ऐल-वंश अब पौरव कहाने लगा। प्रतिष्ठान के दक्षिण-पूर्व के प्रदेश पर तुर्वसु ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। यदु का राज्य पश्चिम में केन, बेतवा और चम्बल नदियों के प्रदेश में स्थापित हुआ। इसके वंशज यादव कहाये। यादवों के विस्तार पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। अयोध्या के पश्चिम में अनु का राज्य कायम हुआ, और द्रुह्यु ने यमुना और सरस्वती के बीच का प्रदेश प्राप्त किया। ययाति का चक्रवर्ती साम्राज्य पश्चिम में सरस्वती से शुरू कर पूर्व में प्रतिष्ठान से आगे तक विस्तृत था। उसके बाद यह विशाल साम्राज्य उसके पुत्रों में बँट गया। पर यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए, कि अयोध्या के मानव (ऐक्ष्वाकव) वंश का राज्य इस साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था। अयोध्या के इसी ऐक्ष्वाकव-वंश में आगे चलकर मान्धाता हुआ था, जिसने कि प्रतिष्ठान के पौरव वंश, कान्यकुब्ज के ऐल-वंश (अमावसु द्वारा स्थापित वंश), द्रुह्यु वंश, आनव वंश आदि के प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन किया था। मान्धाता की इन विजयों का एक परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ। राजा अनु और राजा द्रुह्यु के जो वंशज अयोध्या के

पश्चिम से शुरू कर सरस्वती नदी तक के प्रदेशों पर शासन करते थे, वे मान्धाता से परास्त होकर और अधिक पश्चिम की ओर चले जाने के लिए विवश हुए। द्रुह्यु का एक वंशज गान्धार था, जो सम्भवतः मान्धाता का समकालीन था, या उसके कुछ समय बाद हुआ था। उसने उत्तर-पश्चिमी पंजाब (रावलपिण्डी से भी आगे) अपना नया स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। राजा गान्धार के नाम से ही यह प्रदेश 'गान्धार' कहाया। इस युग में आर्यों की एक शाखा पूर्व से पश्चिम की ओर गई, और उसने गान्धार में अपना नया राज्य स्थापित किया, यह बात कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। ऐतिहासिक लोग यह मानते हैं, कि आर्यों का प्रसार पश्चिम से पूर्व की ओर हुआ था, न कि पूर्व से पश्चिम की ओर। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस युग तक आर्य लोग उत्तरी भारत में आ चुके थे, और उन्होंने वहाँ अपने बहुत-से राज्य स्थापित कर लिए थे। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, सम्भवतः आर्य दो धाराओं में भारत में प्रविष्ट हुए थे। एक धारा को मानव-वंश कहते हैं, और दूसरी को ऐल-वंश। पर अब जो राजा गान्धार ने सुदूर उत्तर-पश्चिम में अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, उसका कारण अयोध्या के प्रतापी सम्राट् मान्धाता द्वारा द्रुह्यु वंश की पराजय थी। इतिहास में हम प्रायः देखते हैं, कि अनेक स्वाभिमानी राजवंश या जातियाँ किसी अधिक शक्तिशाली विजेता द्वारा परास्त हो जाने पर उसके अधीन रहने की अपेक्षा किसी नये प्रदेश में जाकर स्वतन्त्र रूप से बस जाना अधिक पसन्द करते हैं।

सम्राट् मान्धाता द्वारा परास्त हो जाने के कारण राजा अनु (ययाति का अन्यतम पुत्र) के वंशज भी अपने प्रदेश को छोड़कर पश्चिम की ओर चले गये। वहाँ उन्होंने पंजाब तथा हरियाणा के प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित किये। आनव (अनु के वंशज) लोगों द्वारा स्थापित इन नये राज्यों में यौधेय, केकय, शिवि, मद्र, अम्बष्ठ और सौवीर विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब राज्य पंजाब व हरियाणा में विद्यमान थे। बाद के काल में इन सब राज्यों में गणशासनों की स्थापना हुई, और इन्होंने भारत के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया। पंजाब में आनवों का यह प्रसार राजा उशीनर के समय में हुआ, जो उस आनव राजा का वंशज था, जिसे मान्धाता ने परास्त किया था। यौधेय, केकय आदि आनव राज्यों की स्थिति पश्चिम के प्रदेशों में ही थी।

ऐल-वंश का पूर्वी भारत में विस्तार—सम्राट् मान्धाता से परास्त होने के कारण आनव (ऐल-वंश की एक शाखा) लोग पश्चिम में चले गये, और वहाँ पंजाब में उन्होंने अपने अनेक राज्य स्थापित किये यह हमने अभी लिखा है। पर इसी समय आनवों की एक शाखा सुदूर-पूर्व की ओर भी गई। इसका नेता तितिक्षु (छब्बीसवीं पीढ़ी) था। इसने पूर्व की ओर जाकर वर्तमान समय के बिहार में अपना राज्य स्थापित किया। ऐलवंशी इन आर्यों के बिहार में प्रविष्ट होने से पूर्व वहाँ सौद्युम्न नामक एक जाति का निवास था। आनव-आर्यों से परास्त होकर सौद्युम्न लोग और अधिक पूर्व की ओर चले गये। तितिक्षु ने उस प्रदेश में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, जहाँ आजकल मुंगेर और भागलपुर जिले हैं। इसके कुछ समय बाद ऐलवंश के आर्यों की एक

अन्य शाखा ने भी बिहार की ओर प्रस्थान किया। कान्यकुब्ज में स्थापित ऐल-राज्य का उल्लेख हम कर चुके हैं। तितिक्षु के दो पीढ़ी बाद के समय में कान्यकुब्ज का राज्य कुश के अधीन था। उसका छोटा लड़का अमूर्तरयस था, जिसके पुत्र का नाम गय था। गय आमूर्तरयस एक प्रबल व प्रतापी राजा हुआ है। प्राचीन भारत में जो वीर पुरुष किसी नये राज्य की स्थापना करके एक नये राजवंश का प्रारम्भ करते थे, उन्हें 'वंशकर' कहा जाता था। गय आमूर्तरयस भी एक वंशकर राजा था। उसने कान्यकुब्ज को छोड़कर काशी के पूर्व के जंगली प्रदेश में, जिसे प्राचीन समय में धर्मारण्य कहा जाता था और जो आगे चलकर मगध कहाया, पहले-पहल एक आर्य राज्य की स्थापना की, और एक नये वंश का प्रारम्भ किया। वर्तमान समय की गया नगरी का संस्थापक सम्भवतः यह गय आमूर्तरयस ही था, जिसे राजधानी बनाकर इसने मगध का पहले-पहल शासन किया था। गय आमूर्तरयस की गिनती चक्रवर्ती राजाओं में की जाती है। प्रतीत होता है, कि मगध में आर्यों का यह प्रथम राज्य देर तक नहीं टिक सका। धर्मारण्य उस समय में एक विशाल जंगल था, जिसमें शक्तिशाली राक्षस जातियाँ निवास करती थीं। राक्षस-जाति के प्राबल्य के कारण आर्य लोग वहाँ देर तक नहीं टिक सके। रामायण में ऋषि विश्वामित्र ने जिन राक्षस जातियों को नष्ट करने के लिए राजा रामचन्द्र की सहायता प्राप्त की थी, वे इसी धर्मारण्य में बसती थीं।

दक्षिण में ऐल-वंश का विस्तार—इसी प्रकरण में हम पहले ययाति के पुत्र यदु का उल्लेख कर चुके हैं, जिसने यादव-वंश की स्थापना की थी। आगे चलकर इस वंश की शाखाएँ दक्षिण की ओर फैलने लगीं। यादवों की एक शाखा हैहय थी, जिसका अन्यतम राजा महिष्मन्त (तेईसवीं पीढ़ी) पौराणिक अनुश्रुति में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसने हैययों की शक्ति का बहुत विस्तार किया, और अपने नाम से माहिष्मती नगरी की स्थापना की। अयोध्या के ऐक्ष्वाकव वंशी सम्राट् मान्धाता ने अन्य राज्यों को जीतकर जो विशाल साम्राज्य बनाया था, वह देर तक स्थिर नहीं रह सका था। अयोध्या की शक्ति के निर्बल होने पर हैहयों को अपने विस्तार का अवसर मिला, और उन्होंने उत्तरी भारत पर भी अनेक आक्रमण किये। महिष्मन्त के उत्तराधिकारी हैहय राजा भद्रश्रेण्य ने पूर्व की ओर आगे बढ़कर वाराणसी को भी विजय कर लिया था। इस शक्तिशाली हैहय वंश में ही आगे चलकर (महिष्मन्त के लगभग आठ पीढ़ी बाद) राजा कृतवीर्य हुआ। उसका पुत्र अर्जुन (कार्तवीर्य अर्जुन) महान् विजेता था। अनुश्रुति के अनुसार उसने दक्षिण में नर्मदा नदी से लेकर उत्तर में हिमालय तक विजय की थी। सुदूर दक्षिण का राक्षस राजा 'रावण' भी उसके हाथ से परास्त हुआ था, और कुछ समय के लिए माहिष्मती के दुर्ग में कैद रहा था। सम्भवतः, रावण राक्षस-जाति के राजाओं की वंशक्रमानुगत उपाधि थी। कार्तवीर्य अर्जुन के सम्बन्ध में अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें अनुश्रुति में पायी जाती हैं। उन दिनों नर्मदा के तट पर भृगु गोत्र से कतिपय ब्राह्मण रहते थे, जो हैहय राजाओं के पुरोहित होते थे। कार्तवीर्य अर्जुन ने उनके प्रति उत्तम व्यवहार नहीं किया। परिणाम यह हुआ, कि इन ब्राह्मणों का नेता ऋषि ऋचीक और्व नर्मदा के तट को

छोड़कर कान्यकुब्ज चला आया। वहाँ आकर उसने कान्यकुब्ज के राजा गाधि की कन्या सत्यवती के साथ विवाह किया। इसी ऋषि ऋचीक और्व का पौत्र प्रसिद्ध योद्धा परशुराम था, जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है, कि उसने अनेक बार क्षत्रियों का संहार किया था। परशुराम स्वयं ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ था, और हैहय क्षत्रियों से उसे बहुत द्वेष था। कार्तवीर्य अर्जुन का वध परशुराम द्वारा ही हुआ। परशुराम की वीरता और द्वेष के कारण हैहय क्षत्रियों का बल कुछ समय के लिए मन्द पड़ गया। पर इसमें सन्देह नहीं, कि दक्षिण की ओर आर्य-जाति का विस्तार करने में हैहय वंश ने बहुत काम किया।

पर हैहय लोग देर तक दबे नहीं रहे। कार्तवीर्य अर्जुन के पौत्र तालजंघ के शासन काल में उनके उत्कर्ष का पुनः प्रारम्भ हुआ। तालजंघ अयोध्या के राजा रोहित (हरिश्चन्द्र का पुत्र) का समकालीन था। उसने अपने पितामह के समान ही बहुत-से राज्यों को जीतकर अपने अधीन किया। कान्यकुब्ज का राज्य तालजंघ ने जीत लिया, और उसके वंशजों ने विजय की इस परम्परा को जारी रखा। जिस प्रकार अयोध्या के राजा रघु के नाम से प्राचीन ऐक्ष्वाकव वंश रघुवंश कहाने लगा था, वैसे ही तालजंघ के नाम से प्राचीन हैहय-वंश तालजंघ वंश कहा जाने लगा। हैहय-तालजंघ वंश की विविध शाखाएँ खम्भात की खाड़ी से शुरू कर पूर्व में काशी तक शासन करने लगीं, और कुछ समय के लिए आर्य-जाति की यह शाखा भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति बन गई।

माहिष्मती का हैहय वंश यादव वंश की अन्यतम शाखा था। जिस प्रकार हैहय क्षत्रिय अपनी शक्ति को बढ़ा रहे थे, वैसे ही यादव-वंश की अन्य शाखाएँ भी अपने प्रसार में लगी थीं। इसी वंश के अन्यतम राजा विदर्भ ने अपने नाम से उस राज्य की स्थापना की, जिसे आजकल बरार कहते हैं, और जिसका पुराना नाम विदर्भ था। राजा विदर्भ का पौत्र चेदि था। उसने चम्बल और केन नदियों के बीच में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की, जो उसके नाम से 'चेदि' कहाया। इसी को आजकल बुन्देलखण्ड कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि ऐल वंश की विविध शाखाओं ने दक्षिण की ओर अपने अनेक राज्य स्थापित किये थे।

अब आर्यों की शक्ति उत्तर-पश्चिम में गान्धार से शुरू कर पूर्व में गया तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में नर्मदा नदी व बरार के प्रदेश तक विस्तृत हो चुकी थी। इस सुविस्तृत भूखण्ड पर आर्यों के बहुत-से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे, जो प्रायः आपस में युद्ध भी करते रहते थे। कभी अयोध्या के राजा प्रबल हो जाते थे, कभी प्रतिष्ठान के और कभी माहिष्मती के। पर भारत के ये प्राचीन सम्राट् दिग्विजय करते हुए पराजित राजाओं का मूलोच्छेद नहीं कर देते थे। वे उनसे अधीनतामात्र स्वीकृत कराके संतुष्ट हो जाते थे। इस प्रकार एक चक्रवर्ती सम्राट् के रहते हुए भी विविध राज्यों की सत्ता कायम रहती थी।

पूर्व में ऐल वंश का विस्तार—आर्य लोग समयान्तर में पूर्व दिशा की ओर भी निरन्तर आगे बढ़ते गए। गया से आगे पूर्व की ओर आर्य जाति का विस्तार किस

प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में ऋषि दीर्घतमा की कथा बड़े महत्त्व की है, जो पौराणिक अनुश्रुति में विद्यमान है। मगध और पूर्वी भारत के आर्यों के प्रवेश पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। हम इस कथा को संक्षेप के साथ यहाँ उद्धृत करते हैं।

प्राचीन समय में दो ऋषि हुए, जिनके नाम बृहस्पति और उशिज थे। उशिज की पत्नी का नाम ममता था। उशिज और ममता का एक पुत्र हुआ, जो जन्म से ही अन्धा था। इसलिए उसका नाम दीर्घतमा रखा गया। उधर ऋषि बृहस्पति का भी एक पुत्र हुआ, जिनका नाम भारद्वाज था। अन्धा दीर्घतमा अपने चचेरे भाई भारद्वाज के आश्रम में रहता था। वहाँ उसने अपनी भाभी के साथ दुराचार करने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ, कि कुछ आश्रमवासियों ने ऋषि दीर्घतमा को बाँध कर, बड़े पर डाल गंगा में बहा दिया। गंगा में बहते-बहते ऋषि दीर्घतमा आनव राजा बलि के राज्य में जा पहुँचे। राजा बलि उस समय गंगा में स्नान कर रहे थे। उन्होंने जब एक वृद्ध व अन्धे ऋषि को नदी में बहते हुए देखा, तो उसका उद्धार किया और बड़े आदर के साथ उसे अपने राजमहल में ले गये।

राजा बलि के कोई सन्तान नहीं थी। उस समय आर्यों में नियोग की प्रथा प्रचलित थी। राजा बलि की पत्नी सुदेष्णा ने ऋषि दीर्घतमा के साथ नियोग करके पाँच पुत्रों को जन्म दिया। इनके नाम अंग, बंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुम्ह थे। इन पाँचों ने अंग, बंग आदि पाँच पूर्वी राज्यों की स्थापना की। ये पाँचों वंशकर राजा हुए। इन्हें इतिहास में 'बालेय क्षत्र' और 'बालेय ब्राह्मण' के नाम से कहा गया है, क्योंकि ये क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों थे। इनकी माता क्षत्रिय और पिता ब्राह्मण-ऋषि थे, इसीलिए इन्हें ये नाम दिये गये है। कतिपय पुराणों के अनुसार अंग, बंग आदि पाँच कुमार रानी सुदेष्णा के पुत्र न होकर उसकी शूद्र दासी के पुत्र थे। राजा बलि की आज्ञा से जब रानी सुदेष्णा ऋषि दीर्घतमा के पास गई, तो उसे बूढ़ा, अन्धा व विकलांग देख कर डर गई और उसने अपने स्थान पर अपनी दासी को ऋषि के पास भेज दिया।

ऋषि दीर्घतमा ने एक अन्य शूद्र स्त्री औशीनरी से विवाह भी किया था, जिससे कक्षिवान् आदि अनेक पुत्रों का जन्म हुआ।

यह राजा बलि तितिक्षु का वंशज था। तितिक्षु का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। यद्यपि मगध में गय आमूर्तरयस द्वारा स्थापित राज्य इस समय समाप्त हो चुका था, पर और अधिक पूर्व में तितिक्षु के वंशज अभी तक शासन कर रहे थे। बलि के बाद उसके आर्य राज्य की और अधिक उन्नति हुई। उसकी नियोगज सन्तान ने बंगाल की खाड़ी तक आर्य-शासन का विस्तार किया, और अंग, बंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुम्ह—इन पाँच नये राज्यों की अपने नामों से स्थापना की।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है, कि बलि के उत्तराधिकारी शुद्ध आर्य राजा नहीं थे। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार वे दीर्घतमा ऋषि द्वारा शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुई सन्तान थे। अभिप्राय यह है, कि पूर्वी भारत में आर्य लोग अपनी रक्तशुद्धता को कायम नहीं रख सके थे। बाद के मगध के राजाओं को भी प्रायः शूद्र कहा गया है। जरासन्ध व महापद्म नन्द जैसे मागध सम्राट् शुद्ध आर्य के स्थान पर शूद्र कहे गये हैं। पूर्वी

भारत के इन प्राचीन आर्यों में बहुत प्राचीन काल से अनार्य रक्त का प्रवेश होने लगा था। पूर्वी भारत में जाकर बसने वाले व अपना पृथक् राज्य स्थापित करने वाले आर्य ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने आर्यभिन्न जातियों की स्त्रियों से विवाह किये और इसीलिए इन पूर्वी राज्यों में अनार्य तत्त्व की अधिकता रही। इसी कारण 'भृत' सेना को संगठित कर सकना उनके लिए सुगम रहा, और इसीलिए उनमें प्राचीन आर्य-परम्परा के विपरीत शक्तिशाली साम्राज्यों के निर्माण की प्रवृत्ति हुई।

(४) भारत वंश

ऐल या चन्द्र-वंश के राजा पुरूरवा ने प्रतिष्ठान को राजधानी बनाकर किस प्रकार अपने राज्य की स्थापना की, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इसी वंश के शक्तिशाली राजा ययाति के समय में ऐल-क्षत्रियों की शक्ति का बहुत विस्तार हुआ था। ययाति के पाँच पुत्र थे, जिन सबने अपने-अपने पृथक् राज्य स्थापित किये थे। इनमें से पुरु प्रतिष्ठान की राजगद्दी पर बैठा था, और उसी के नाम से प्रतिष्ठान का प्राचीन ऐल-वंश पौरव-वंश कहाने लगा था। अयोध्या, माहिष्मती आदि के राजवंशों की शक्ति के बढ़ जाने के कारण बाद में प्रतिष्ठान के राजाओं की शक्ति मन्द पड़ गई थी। विशेषतया, अयोध्या के ऐक्ष्वाकवंशी राजा सगर की विजयों ने प्रतिष्ठान के पौरवों को सर्वथा निर्बल बना दिया था। पर सगर की मृत्यु के बाद पौरवों को अपनी उन्नति का फिर अवसर मिला और उनके राजा दुष्यन्त ने पौरव-वंश के गौरव की पुनः स्थापना की। भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति में राजा दुष्यन्त (तिरतालीसवीं पीढ़ी) का बड़ा महत्त्व है। महाकवि कालिदास ने अपना प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' इसी दुष्यन्त के कथानक को लेकर लिखा है। दुष्यन्त प्रतिष्ठान में तो पौरवों की शक्ति का पुनरुद्धार नहीं कर सका, पर अपने राज्य के लिए उसने एक नया क्षेत्र चुना, जो गंगा-यमुना के दोआब में विद्यमान था। गंगा-यमुना के दोआब का उत्तरी भाग कुरु देश में सम्मिलित था। इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी, जिसका स्थान आज-कल के हसनापुर नगर से पहचाना जाता है। यह हसनापुर मेरठ जिले के उत्तर-पूर्वी कोने में गंगा के तट से कुछ दूरी पर विद्यमान है।

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार राजा दुष्यन्त एक बार शिकार खेलने के लिये जंगल में गया। उन दिनों गंगा नदी के पूर्व में हिमालय की तराई में घनघोर जंगल थे। इस जंगल के बीच में मालिनी नदी बहती थी, और उसके तट पर ऋषि कण्व का आश्रम था। मालिनी नदी गढ़वाल के पहाड़ों से निकलकर नजीबाबाद (जिला बिजनौर) के पश्चिम की ओर से बहती हुई आगे चलकर गंगा में मिल जाती है। उसके किनारे किनकसोत नाम का एक स्थान अबतक विद्यमान है, जिसे ऋषि कण्व के प्राचीन आश्रम का स्थान कहा जाता है। ऋषि आश्रम को देखकर दुष्यन्त ने अपने साथियों को बाहर छोड़ दिया, और स्वयं आश्रम में प्रवेश किया। वहाँ उसकी भेंट शकुन्तला नामक एक सुन्दरी युवती से हुई, जो ऋषि कण्व की कन्या थी। शकुन्तला और दुष्यन्त में प्रेम हो गया, और उनके सम्बन्ध से जिस बालक का जन्म हुआ, वह इतिहास

में भरत नाम से प्रसिद्ध है। भरत बड़ा प्रतापी राजा था। उसी के नाम पर प्राचीन पौरव-वंश अब 'भारत-वंश' कहाने लगा। अनेक विद्वानों का मत है, कि हमारे देश का भारत नाम भी इस भरत के नाम पर ही पड़ा। इसमें सन्देह नहीं, कि भरत चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट् था, और कुछ समय के लिये इस देश के बहुत-से आर्य-राज्य उसकी अधीनता को स्वीकार करने लगे थे। पश्चिम में सरस्वती नदी से शुरू कर पूर्व में अयोध्या के समीप तक का सब प्रदेश सीधा भरत के शासन में था।

भरत के वंशज—सम्राट् भरत के वंशजों में राजा हस्ती (इक्यावनवीं पीढ़ी) हुआ। अनुश्रुति के अनुसार इसी के नाम पर कुरुदेश की राजधानी हस्तिनापुर का नाम पड़ा। सम्भवतः, यह नगर पहले भी विद्यमान था, पर राजा हस्ती ने इसे बहुत बढ़ाया, और उसी के नाम से इसका नाम हस्तिनापुर पड़ गया। राजा हस्ती का पुत्र अजमीढ़ था। उसके समय में भारत-वंश की अनेक शाखाएँ हो गईं। मुख्य भारत शाखा हस्तिनापुर में राज्य करती रही। अन्य शाखाओं ने पञ्चालदेश में अपने पृथक् शासन स्थापित किये। कुरु देश के साथ लगा हुआ गंगा के पूर्व का जो प्रदेश है, उसी का प्राचीन नाम पंचाल देश था। पंचाल के दो भाग थे, उत्तर-पंचाल और दक्षिण पंचाल। उत्तर-पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र थी, जिसके भग्नावशेष इस समय के बरेली जिले में विद्यमान हैं। दक्षिण-पंचाल की राजधानी काम्पिल्य थी, जो वर्तमान समय के फर्रुखाबाद जिले में स्थित थी। इन दो पंचाल-राज्यों में भारत-वंश की दो शाखाओं का शासन था।

भारत-राजाओं में संघर्ष—हस्तिनापुर, अहिच्छत्र और काम्पिल्य में जो विविध भारत-वंशी राज्य स्थापित हुए थे, उनमें आगे चलकर परस्पर युद्ध शुरू हो गये। हस्तिनापुर के राजा अजमीढ़ के प्रायः दस पीढ़ी बाद कुरुदेश का राजा संवरण (सत्तरवीं पीढ़ी) हुआ। उसका समकालीन अहिच्छत्र (उत्तर-पंचाल) का राजा सुदास था। संवरण और सुदास में अनेक युद्ध हुए। अन्त में सुदास ने संवरण को उसकी राजधानी हस्तिनापुर में बुरी तरह से परास्त किया। गंगा पार कर सुदास कुरुदेश में बहुत आगे बढ़ गया, और यमुना तक के प्रदेश को जीत कर अपने अधीन कर लिया। सुदास ने उत्तर-पंचाल के पड़ौस में विद्यमान अन्य राज्यों पर भी आक्रमण किए। उसकी विजयों से परेशान होकर संवरण के नेतृत्व में बहुत-से राजा उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए। सुदास के विरोधी इस गुट में कुरु, मत्स्य, तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि आदि अनेक राजवंशों के राजा सम्मिलित हुए। ऋग्वेद के एक मन्त्र (ऋग्वेद, ७, १८) में सुदास के साथ लड़े गए इस युद्ध की स्मृति सुरक्षित है। इस युग में तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि आदि राजवंश पंजाब व उससे भी परे के पश्चिमी प्रदेशों में शासन करते थे। राजा सुदास गंगा को पार कर जिस प्रकार पश्चिम की ओर आगे बढ़ रहा था, उसी से भयभीत होकर इन विविध पाश्चात्य राजाओं ने मिलकर एक संघ बनाया था। इस युद्ध में भी राजा सुदास की विजय हुई, और हस्तिनापुर के राजा संवरण ने भागकर सिन्धु नदी के तट पर स्थित एक दुर्ग में शरण ली। सुदास और संवरण का यह युद्ध परुष्णी (रावी) नदी के तट पर लड़ा गया था। पर उत्तर-पंचाल की यह असाधारण शक्ति देर तक कायम नहीं रह सकी। सुदास के वंशज सहदेव और सोमक उसके समान वीर

नहीं थे। उनके समय में संवरण ने कुरुदेश की शक्ति का पुनरुद्धार किया। उसने न केवल कुरुदेश को फिर से प्राप्त किया, अपितु उत्तर-पंचाल को भी विजय कर लिया। निःसन्देह, संवरण बहुत प्रतापी और बलवान् राजा था।

राजा कुरु—संवरण का पुत्र राजा कुरु हुआ। अपने पिता के समान कुरु भी वीर और प्रतापी था। उत्तर-पंचाल का विजय संवरण कर चुका था, अब कुरु ने दक्षिण-पंचाल को भी जीत कर अपने अधिकार में कर लिया। राजा कुरु के राज्य में सरस्वती नदी से प्रयाग तक का सुविस्तृत प्रदेश शामिल था। कुरु के नाम पर ही हस्तिनापुर का प्राचीन भारत-वंश अब 'कौरव-वंश' कहाने लगा। भारत-वंश के हस्तिनापुर के राज्य को हम कुरुदेश कहते आए हैं। इस राज्य का कुरुदेश नाम भी राजा कुरु के नाम पर ही पड़ा था।

वसु का साम्राज्य—कुरु के वंश में आगे चलकर राजा वसु हुआ। वह बड़ा प्रतापी और वंशकर राजा था। उसने चेदिदेश को जीत कर अपने अधीन किया, और इसीलिये वह चैद्योपरिचर (चैद्य उपरिचर=चैद्यों के ऊपर चलने वाला) की उपाधि से विभूषित हुआ। उसने पूर्व में चेदि से भी आगे बढ़कर मगध तक के प्रदेश का विजय किया, और शुक्तिमती (केन) नदी के तट पर स्थित शुक्तिमती नगरी को अपनी राजधानी बनाया। कुरुदेश से मगध देश तक उसका अबाधित शासन था। इसी कारण वह चक्रवर्ती सम्राट् कहाता था। वसु के पहले भी मगध आर्यों के अधीन हो चुका था। पर पूर्वी भारत के इस क्षेत्र में पहला स्थिर आर्य-राज्य वसु द्वारा ही स्थापित हुआ।

बार्हद्रथ-वंश का प्रारम्भ—वसु के पांच पुत्र थे—बृहद्रथ, प्रत्यग्रह, कुश, यदु और मावेल्ल। वसु ने अपने प्रताप से जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, उसे उसने पांच भागों में विभक्त कर उनका शासन करने के लिये अपने पांचों पुत्रों को नियत किया। वसु के साम्राज्य के ये पांच भाग निम्नलिखित थे— मगध, कौशाम्बी, कारूष, चेदि और मत्स्य। मगध का शासक बृहद्रथ को नियत किया गया। उसी से उस बार्हद्रथ-वंश की स्थापना हुई, जो आगे चलकर भारतीय इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हुआ। बार्हद्रथ राजाओं की राजधानी गिरिव्रज थी। पाटलिपुत्र और राजगृह की स्थापना से पूर्व अनेक सदियों तक मगध की राजधानी गिरिव्रज रही। राजगृह की स्थापना गिरिव्रज के समीप बाद में हुई। वस्तुतः, गिरिव्रज के खण्डहरों पर ही राजगृह का निर्माण हुआ था। गिरिव्रज के संस्थापक कौरव सम्राट् वसु और उसका पुत्र बृहद्रथ ही थे।

(५) राजा रामचन्द्र

राम की कथा—अयोध्या के ऐक्ष्वाकव-वंश का वृत्तान्त ऊपर दिया जा चुका है, और यह भी लिखा जा चुका है, कि इस वंश में मान्धाता, हरिश्चन्द्र, दिलीप, रघु, दशरथ आदि बहुत-से अत्यन्त प्रतापी राजा हुए, जिन्होंने अपनी शक्ति का दूर-दूर तक विस्तार किया। दिलीप के समय के लगभग से अयोध्या के प्राचीन राज्य को कोशल कहा जाने लगा था। कोशल देश के राजाओं में सबसे प्रसिद्ध राजा रामचन्द्र थे,

जिनकी कथा भारत का बच्चा-बच्चा जानता है, और जिनकी स्मृति में आज तक अनेक त्यौहार मनाये जाते हैं। राम का जन्म-दिन तक आर्य-जाति को अबतक याद है, और भारत में यह बड़े धूमधाम के साथ 'रामनवमी' के उत्सव के रूप में मनाया जाता है।

राम की कथा को यहाँ विस्तृत रूप से लिखने की आवश्यकता नहीं है। राम राजा दशरथ के पुत्र थे। दशरथ की तीन रानियाँ थीं—कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा। कौशल्या के पुत्र राम, कैकेयी के पुत्र भरत और सुमित्रा के पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न थे। एक बार ऋषि विश्वामित्र राजा दशरथ के पास आये। उन्होंने दशरथ से कहा, राक्षस लोग हमारे यज्ञों में विघ्न डालते हैं, अतः यदि आप अपने पुत्र राम लक्ष्मण को यज्ञों की रक्षा के लिए हमें दे सकें, तो बहुत उत्तम हो। राजा पहले तो अपने युवा कुमारों को अकेले जंगल भेजने में आनाकानी करने लगे, पर विश्वामित्र के अनुरोध पर तैयार हो गए। राम-लक्ष्मण ने विश्वामित्र के साथ धर्मारण्य में जाकर राक्षसों का संहार किया और अपनी वीरता का परिचय दिया। विश्वामित्र ने उन्हें अस्त्र-शस्त्रों की उच्च शिक्षा भी दी।

इसी बीच में मिथिला के राजा जनक अपनी कन्या सीता का विवाह करने के लिए स्वयंवर रच रहे थे। मिथिला के राजाओं की वंशक्रमानुगत उपाधि जनक थी। जो 'जनक' इस समय मिथिला के सिंहासन पर विराजमान था, उसका वैयक्तिक नाम सीरध्वज था। राम और लक्ष्मण भी विश्वामित्र के साथ स्वयंवर-सभा में पहुँचे। सीरध्वज के पास एक प्राचीन धनुष था। उन्होंने निश्चय किया, कि जो युवक इस धनुष को तोड़ देगा, उसी से सीता का विवाह करेंगे। अन्य अनेक राजा इस धनुष का उपयोग करने व इसे तोड़ सकने में असमर्थ रहे। राम ने इसे तोड़ दिया, और प्रसन्न होकर जनक सीरध्वज ने राम का सीता के साथ विवाह कर दिया। विवाह के बाद रामचन्द्र अयोध्या वापस लौट आए।

राजा दशरथ अब वृद्ध हो गए थे। उन्होंने चाहा कि अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को राजगद्दी पर बिठाकर स्वयं राज्यकार्य से अवकाश ग्रहण कर लें। अयोध्या की पौर-जानपद सभाएँ राजा दशरथ के इस विचार से बहुत सन्तुष्ट व प्रसन्न हुईं, क्योंकि रामचन्द्र प्रजा के बहुत प्रिय थे। जब राम के राजतिलक की सब तैयारी हो चुकी, तो रानी कैकेयी के षड्यन्त्र के कारण रामचन्द्र को लक्ष्मण और सीता के साथ चौदह वर्ष के लिए वन जाना पड़ा, और यह निश्चित हुआ कि कैकेयी-पुत्र भरत को राजगद्दी पर बिठाया जाय। राजा दशरथ राम के वियोग को नहीं सह सके, और स्वर्ग को सिधार गये। इस समय भरत अपने नाना के घर केकय देश में थे। उन्हें अपनी माता कैकेयी के षड्यन्त्र का कुछ भी ज्ञान नहीं था। उन्हें अयोध्या बुलाया गया। भरत का रामचन्द्र से सच्चा स्नेह था, और वे समझते थे कि कोशलदेश की राजगद्दी पर राम का ही अधिकार होना चाहिए। वे अपनी माता पर बहुत नाराज हुए। उन्होंने भरपूर कोशिश की, कि राम को वन से लौटा लाएँ। पर वे अपने प्रयत्न में असफल रहे, और राम की आज्ञा से उन के प्रतिनिधि के रूप में अयोध्या का शासन करने लगे।

अयोध्या छोड़कर रामचन्द्र ने प्रयाग के समीप गंगा को पार किया, और चित्रकूट होते हुए गोदावरी नदी के तट पर पंचवटी पहुँचे। यह स्थान सम्भवतः वर्तमान नासिक जिले में था। यहाँ अब भी एक पर्वत है, जिसे रामसेज कहते हैं। पंचवटी में कुछ समय निवास करके राम, सीता और लक्ष्मण गोदावरी के साथ-साथ और दक्षिण की ओर चले गए। उस समय वहाँ एक विशाल जंगल था, जिसे दण्डकारण्य कहते थे। यहां राक्षस जाति के लोग बड़ी संख्या में निवास करते थे। इस अरण्य में उनकी एक बड़ी बस्ती भी थी, जिसे जनस्थान कहते थे। राम का आना राक्षसों को अच्छा नहीं लगा। उनकी राम के साथ छेड़छाड़ हो गई, और राक्षसों का राजा रावण चाल चलकर सीता को हर ले गया। रावण राक्षस-जाति का प्रधान राजा था, और लंका में निवास करता था। राम और लक्ष्मण ने सीता की तलाश का बहुत प्रयत्न किया, पर उन्हें सफलता नहीं हुई। अन्त में पम्पा सरोवर के समीप सुग्रीव और उनके मन्त्री हनुमान् से उनकी भेंट हुई। इस प्रदेश में वानर जाति के लोगों की एक बस्ती थी, जिसकी राजधानी किष्किन्धापुरी थी। सुग्रीव किष्किन्धा का राजा था, पर उसके भाई बाली ने उसे बहिष्कृत कर राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया था। राम ने बाली को युक्ति द्वारा मारकर सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बनाया। सुग्रीव और हनुमान् की सहायता से राम ने लंका पर आक्रमण किया, और रावण को मारकर सीता को फिर से प्राप्त किया। बनवास के चौदह साल अब समाप्त हो चुके थे। राम सीतासहित अयोध्या लौट आये। भरत वहाँ उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। अब राम कोशलदेश के राजा बने।

रामायण—राजा रामचन्द्र की जिस कथा को हमने यहाँ अत्यन्त संक्षेप के साथ लिखा है, वह विस्तृत रूप से रामायण में वर्णित है। अनुश्रुति के अनुसार रामायण के रचयिता वाल्मीकि मुनि थे। इसीलिए इस ग्रन्थ को वाल्मीकीय रामायण कहा जाता है। वाल्मीकि को संस्कृत का आदिकवि माना जाता है। उनसे पहले अनेक ऋषियों ने पद्य-रूप में वैदिक ऋचाओं की तो रचना की थी, पर ऐसा प्रतीत होता है, कि लौकिक उपाख्यानमयी कविता का प्रारम्भ सबसे पूर्व वाल्मीकि ने ही किया था। वाल्मीकि द्वारा विरचित इस रामायण में २४,००० श्लोक हैं, जो कविता की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और उत्कृष्ट हैं। अनेक विद्वानों की सम्मति में सम्पूर्ण रामायण किसी एक कवि की रचना नहीं है। प्रारम्भ में वाल्मीकि ने राम की कथा का जो पद्यमय उपाख्यान किया था, बाद में उसमें अनेक अंश जुड़ते गए। रामायण जिस रूप में अब उपलब्ध होती है, वह राम के समय की बनी हुई नहीं है। सम्भवतः, वह ईसवी सन् से पाँच सदी के लगभग पूर्व बनी थी।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि वाल्मीकि राम के समकालीन थे। उनका अपना आश्रम था, और अनुश्रुति के अनुसार सीता कुछ समय तक उनके आश्रम में रही थीं। राम के दोनों पुत्र कुश और लव वाल्मीकि मुनि के आश्रम में ही उत्पन्न हुए थे। अनेक विद्वानों के अनुसार मुनि वाल्मीकि भार्गव वंश के थे। अन्य विद्वान् उन्हें किसी आर्य-भिन्न जाति का मानते हैं। वर्तमान समय की भंगी जाति के लोग वाल्मीकि की पूजा

करते हैं, और अपने को वाल्मीकि-जाति का कहते हैं। ऐसे बहुत-से मन्दिर भी भारत में विद्यमान हैं, जिनमें वाल्मीकि की मूर्ति स्थापित है। इन मन्दिरों के पुरोहित भंगी जाति के होते हैं, और भंगी लोग ही इनमें पूजा के लिए आते हैं। भंगियों में विद्यमान अनुश्रुति को यदि कोई महत्त्व दिया जाय, तो यह स्वीकार करना होगा कि वाल्मीकि ब्राह्मण न होकर किसी आर्यभिन्न जाति के थे, जिनके वर्तमान प्रतिनिधि भंगी जाति के लोग हैं। वर्तमान समय में यह बात बड़े आश्चर्य की है, कि होली आदि के अनेक अवसरों पर भंगी लोग ब्राह्मणों के समान दान ग्रहण करते हैं, और अपने 'यजमानों' को आशीर्वाद भी देते हैं। असम्भव नहीं, कि ये लोग किसी आर्यभिन्न जाति के पुरोहित-स्थानीय रहे हों, और बाद में आर्यों की प्रभुता होने पर समाज में अत्यन्त हीन स्थिति पर पहुँचने के लिए विवश हो गये हों।

आर्यों का दक्षिण-प्रवेश—रामायण की कथा का एक ऐतिहासिक महत्त्व है, जिसका यहाँ विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक है। राम से पूर्व आर्य लोग उत्तरी भारत में अपने बहुत-से राज्य स्थापित कर चुके थे। दक्षिण में विन्ध्याचल और नर्मदा तक भी उनका प्रवेश हो चुका था। पर सुदूर दक्षिण में अभी तक आर्य-भिन्न जातियों का निवास था। इन आर्यभिन्न जातियों में राक्षस-जाति सर्वप्रधान थी। वहाँ उनका अपना स्वतन्त्र राज्य था, और उनकी दो प्रधान बस्तियाँ लंका और जनस्थान थीं। राक्षस लोगों का धर्म आर्यों के धर्म से भिन्न था। राक्षस आर्यों के यज्ञों और विधि-विधानों में विश्वास नहीं करते थे। इसीलिए जो आर्य ऋषि दक्षिण की ओर जंगलों में अपने आश्रम बनाते थे, राक्षस उन्हें परेशान करते रहते थे। फिर भी राक्षसों और आर्यों में परस्पर सम्बन्ध विद्यमान था। लंका का राजा रावण पुलस्त्य-वंश का था, और पुलस्त्य का विवाह वैशाली के सूर्यवंशी राजा तृणबिन्दु की कन्या इलबिला के साथ हुआ था। वाराणसी से पूर्व की ओर बसे हुए आर्य लोग अपनी रक्त-शुद्धता को कायम नहीं रख सके, क्योंकि उस प्रदेश में आर्यभिन्न जातियों की प्रभुता थी। इस विषय पर पूर्व-लिखित दीर्घतमा की कथा से प्रकाश पड़ता है। आगे चलकर हम इस विषय पर और अधिक विस्तार के साथ लिखेंगे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, कि वैशाली के आर्य राजा तृणबिन्दु ने अपनी एक कन्या का विवाह आर्यभिन्न जाति के एक राजा के साथ कर दिया हो। लंका का जो राक्षस-राजा रावण सीता को हर ले गया था, वह पौलस्त्य था और उसमें आर्यरक्त भी विद्यमान था।

राक्षस जाति के समान वानर और ऋक्ष जातियाँ भी आर्यभिन्न जातियाँ थीं, जो दक्षिणी भारत में निवास करती थीं। सभ्यता की प्रारम्भिक दशा में मनुष्य अनेक पशु-पक्षी व वनस्पति आदि की पूजा करता रहा है। इन प्रारम्भिक जातियों का अपना पृथक् देवता (पशु आदि के रूप में) होता था, और उसके चिह्न से ये लोग अपने शरीर को अंकित व विभूषित करते थे। अमेरिका के आदि-निवासियों में यह प्रथा अब तक विद्यमान है। राम के काल में जिन जातियों को वानर व ऋक्ष आदि कहा गया है, सम्भवतः वे इन पशुओं की देव-रूप से पूजा करती थीं, और इसी कारण उनका परिचय इन पशुओं की संज्ञाओं द्वारा ही दिया जाता था। अमेरिका के मूल

निवासियों की विविध जातियों के अपने-अपने जो पृथक् चिन्ह हैं, जिनका आधार उनके उपास्य जीव-जन्तु हैं, उन्हें टोटम कहते हैं। वानर, ऋक्ष, नाग आदि प्राचीन भारतीय जातियों के भी ये जन्तु सम्भवतः टोटम ही थे। यह असम्भव नहीं है, कि किष्किन्धा के वानरों का लंका के राक्षसों के साथ विरोध व विद्वेष हो और इसीलिये वे राक्षसों के विरुद्ध राम की सहायता करने के लिए सुगमता के साथ तैयार हो गए हों।

राम के उत्तराधिकारी—चौदह वर्ष के बनवास के बाद राम ने अयोध्या लौटकर कौशल देश का शासन-सूत्र हाथ में ले लिया। उनका शासन बहुत सुखमय, शान्तिपूर्ण और समृद्धिशाली था। रामायण ने राम-राज्य का जो वर्णन किया है, वह अत्यन्त सुन्दर, गौरवपूर्ण और आदर्श है। उसमें यहाँ तक लिखा है, कि राम के शासन-काल में किसी वृद्ध को अपनी युवा व बालक सन्तान की मृत्यु का दुःख नहीं देखना पड़ता था। उस समय देश में धन धान्य की प्रचुरता थी, और कोई गरीब व दीन नहीं था। सब लोग सुख और समृद्धि के साथ रहते थे। 'रामराज्य' शब्द भारत में अब तक आदर्श शासन के लिए प्रयुक्त होता है, और आर्य-जाति के प्रत्येक व्यक्ति को उसके लिए अभिमान है।

राम के भाई भरत ने अपने ननिहाल का केकय राज्य प्राप्त किया था। उत्तर-पश्चिमी पंजाब के गुजरात, शाहपुर और जेहलम जिले प्राचीन केकल देश को सूचित करते हैं। केकय देश की राजधानी का नाम भी गिरिव्रज था पर यह मगध की राजधानी से भिन्न थी। भरत के दो पुत्र थे, तक्ष और पुष्कर। उन्होंने अपनी शक्ति का विस्तार किया, और गान्धार देश को जीतकर अपने नाम पर तक्षशिला और पुष्करावती नगरियाँ बसायीं। भारत के प्राचीन इतिहास में तक्षशिला नगरी का बहुत महत्व है। आगे चलकर वह विद्या, ज्ञान और व्यापार का बड़ा केन्द्र बन गई। बौद्ध-युग में यह भारत का सबसे महत्वपूर्ण शिक्षा-केन्द्र थी। रावलपिन्डी नगर से बीस मील उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला के भग्नावशेष अब तक विद्यमान हैं। पुष्करावती नगरी कुभा (काबुल) और सुवास्तु (स्वात) नदियों के संगम पर स्थित थी।

राम के पुत्र कुश और लव थे। वे अपने पिता के बाद कोशल देश के शासक हुए। कुश अयोध्या का राजा बना। लव ने कोशल देश के उत्तरी भाग में श्रावस्ती को राजधानी बनाकर अपने शासन का प्रारम्भ किया। बौद्ध-युग मे यह श्रावस्ती भारत की एक प्रसिद्ध और समृद्ध नगरी थी। राम के बाद कोशल देश के इतिहास के सम्बन्ध में विशेष परिचय पौराणिक अनुश्रुति से प्राप्त नहीं होता। सम्भवतः, इस समय में अयोध्या के ऐक्ष्वाकववंशी राजाओं की अपेक्षा कुरुक्षेत्र के पौरवों और विविध यादव-वंशों की शक्ति अधिक प्रबल हो गई थी। पौरवों और यादवों के सम्बन्ध में हम इसी अध्याय मे ऊपर लिख चुके हैं।

(६) यादव और कौरव

यादवों के विविध राज्य—ऐल-वंश के प्रतापी राजा ययाति के पाँच पुत्रों का उल्लेख पहले किया जा चुका है, जिन सबने आर्य-जाति की शक्ति का दूर-दूर तक

विस्तार किया, और अपने पृथक्-पृथक् राज्य स्थापित किये। ये पाँचों—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु—वंशकर राजा थे। इनमें से यदु द्वारा यादव वंश का प्रारम्भ हुआ। यदु ने केन, बेतवा और चम्बल नदियों की घाटियों में अपने राज्य की स्थापना की थी। यदु के वंश में आगे चलकर शशबिन्दु नाम का एक चक्रवर्ती राजा हुआ। उसने द्रुह्यु और पुरु के वंशजों के राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। पर यादवों की यह शक्ति देर तक कायम नहीं रह सकी। शशबिन्दु का जामाता अयोध्या का शक्तिशाली ऐक्ष्वाकव राजा मान्धाता था, जिसने अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए दूर-दूर तक विजय-यात्रा की थी। मान्धाता के कारण यादव-वंश के राजाओं की शक्ति का विस्तार रुक गया, और शशबिन्दु ने यादवों का जो चक्रवर्ती साम्राज्य बनाना शुरू किया था, वह अपूर्ण ही रह गया।

मान्धाता के तीन पीढ़ी बाद यादवों को अपनी शक्ति के उत्कर्ष का फिर अवसर मिला। उनकी हैहय शाखा ने राजा महिष्मन्त और बाद में कार्तवीर्य अर्जुन के नेतृत्व में किस प्रकार अपनी शक्ति का विस्तार किया, यह हम पहले लिख चुके हैं। यादवों की एक अन्य शाखा ने विदर्भ में अपने पृथक् राज्य की स्थापना की, यह भी पहले बताया जा चुका है। आगे चलकर इस विदर्भ देश में मधु नाम का एक शक्तिशाली यादव राजा हुआ, जो बड़ा प्रतापी था। उसने यादव-वंश के विविध राज्यों को मिलाकर एक विशाल चक्रवर्ती राज्य की स्थापना की। पर यादव-राज्यों की यह एकता देर तक कायम नहीं रह सकी। मधु के बाद चौथी पीढ़ी में सत्वत नाम का वीर हुआ, जिसने 'सात्वत' नाम से अपना पृथक् वंश प्रारम्भ किया। सत्वत का पुत्र भीम राम और कुश का समकालीन था। सात्वत वंश के यादव यमुना के पश्चिम में वर्तमान समय के मथुरा प्रदेश में शासन करते थे। ऐक्ष्वाकव राम के अनुज शत्रुघ्न ने इस प्रदेश को जीतकर अपने अधीन किया। शत्रुघ्न के दो पुत्र थे, सुबाहु और शूरसेन। शूरसेन के नाम से मथुरा का समीपवर्ती यह प्रदेश शौरसेन कहाने लगा। शत्रुघ्न की मृत्यु के बाद उसके लड़के इस प्रदेश पर अपने आधिपत्य को कायम नहीं रख सके। भीम सात्वत ने मथुरा में पुनः यादवों की सत्ता को कायम किया। भीम के अनेक पुत्र थे, जिनमें अन्धक और वृष्णि प्रसिद्ध हैं। ये दोनों वंशकर राजा थे। इनके नाम पर अन्धक और वृष्णि राज्यों का प्रारम्भ हुआ। महाभारत-युद्ध के समय के कृष्ण वृष्णि वंश में उत्पन्न हुए थे, और कंस अन्धक-वंश में। महाभारत के समय में अन्धक और वृष्णि राज्यों का परस्पर मिलकर एक संघ बना हुआ था। इनके अतिरिक्त ऐल-वंश की यादव-शाखा के अन्य भी अनेक राज्य विदर्भ, अवन्ति आदि में विद्यमान थे। यादव-वंश की हैहय-शाखा का माहिष्मती का पुराना राज्य भी बहुत समय तक कायम रहा था।

कौरव राज्य—हस्तिनापुर के पौरव-वंश ने अपनी शक्ति का विकास किस प्रकार किया, यह ऊपर लिखा जा चुका है। राजा कुरु के नाम पर हस्तिनापुर के इस पौरव-वंश का नाम 'कौरव' हो गया था, यह भी हम पहले लिख चुके हैं। कुरु की चौदहवीं पीढ़ी में राजा प्रदीप हुआ। यह बहुत प्रतापी था। इसने हस्तिनापुर के राज्य को बहुत

उन्नत किया। प्रतीप के बाद उसका पुत्र शान्तनु हस्तिनापुर का राजा बना। शान्तनु के पौत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु थे। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे, जो महाभारत की कथा में कौरव नाम से विख्यात हैं। पाण्डु के युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये पाँच पुत्र थे, जो पाण्डव कहाते थे।

इन्द्रप्रस्थ की स्थापना—कौरवों या धार्तराष्ट्रों और पाण्डवों में परस्पर मेल नहीं था। पाण्डवों ने चाहा, कि हस्तिनापुर के कुरु राज्य में उन्हें भी अपना हिस्सा मिले। पर दुर्योधन इसके विरुद्ध था। संघर्ष के बाद अन्त में यह तय हुआ, कि यमुना के पश्चिम में एक प्रदेश पाण्डवों को प्रदान कर दिया जाय। यमुना के पश्चिम का यह प्रदेश उन दिनों में एक घना जंगल था, जिसे खाण्डव वन कहते थे। खाण्डव वन को जलाकर पाण्डवों ने उसे आबाद किया, और वहाँ इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया। वर्तमान समय की नई दिल्ली के समीप पुराने किले में एक गाँव था, जिसका नाम इन्दरपत था। यह इन्दरपत शायद इन्द्रप्रस्थ के भग्नावशेषों पर आबाद हुआ था।

पाण्डवों के प्रयत्न से इन्द्रप्रस्थ की बहुत उन्नति हुई। कुछ ही समय में वह एक उन्नत और समृद्ध नगर बन गया। शूरसेन देश में विद्यमान वृष्णि-राज्य के नेता कृष्ण के साथ पाण्डवों ने मैत्री की, और उसकी सहायता से अपनी शक्ति को और अधिक बढ़ाने का प्रयत्न किया। पाण्डवों की इच्छा थी, कि वे प्राचीन आर्य-मर्यादा का अनुसरण कर दिग्विजय के लिये निकलें, और अन्य राजाओं को परास्त कर चक्रवर्ती पद को प्राप्त करें। पर उनकी इस महत्त्वाकांक्षा में जहाँ हस्तिनापुर के कौरव बाधक थे, वहाँ उनका सबसे बड़ा शत्रु जरासन्ध था, जो मगध में अपनी शक्ति को बढ़ाकर भारत का 'एकराट्' बनने के लिये प्रयत्नशील था। यहाँ यह आवश्यक है, कि हम इस जरासन्ध के सम्बन्ध में अधिक परिचय दें।

(७) बार्हद्रथ जरासन्ध

पौरव-वंश के राजा वसु के पुत्र बृहद्रथ ने मगध में किस प्रकार अपने राज्य की स्थापना की, और उससे बार्हद्रथ वंश का प्रारम्भ हुआ, यह हम पहले लिख चुके हैं। बार्हद्रथ वंश के राजा निम्नलिखित थे—बृहद्रथ, कुशाग्र, ऋषभ, पुष्पवान्, सत्यहित, सुधन्वा, ऊर्ज, सम्भव, जरासन्ध, सहदेव, सोमाधि और श्रुतश्रवा।

पौराणिक अनुश्रुति के आधार पर बार्हद्रथ वंश की जो सूची ऊपर दी गई है, वह सम्भवतः पूर्ण नहीं है। महाभारत में मगध के एक अन्य राजा का उल्लेख आया है, जिसका नाम दीर्घ था, और जिसे हस्तिनापुर के राजा पाण्डु ने परास्त किया था। इस प्रसंग में महाभारत में लिखा है—"पृथिवी को विजय करने की इच्छा से राजा पाण्डु भीष्म आदि वृद्धों, धृतराष्ट्र और पुरुषों के अन्य श्रेष्ठ जनों को प्रणाम करके, उनकी अनुमति लेकर, मंगलाचरणयुक्त आशीर्वाद का श्रवण करता हुआ, घोड़ों और रथों से युक्त बड़ी भारी सेना को साथ लेकर विजय के लिये चला। उन्होंने बल तथा अहंकार गर्वित मगधराज दीर्घ को उसकी राजधानी राजगृह में ही मार डाला। राजगृह से बहुत-सा कोष और विविध प्रकार के वाहन पाण्डु के हाथ लगे।"

इससे सूचित होता है कि, पाण्डु के समय में मगध का राजा दीर्घ था। बार्हद्रथ-वंशी जरासन्ध कौरव-राज दुर्योधन और पाण्डव-राज युधिष्ठिर का समकालीन था। क्योंकि दीर्घ पाण्डु का समकालीन था, इसलिये उसे जरासन्ध से कुछ समय पूर्व मगध का राजा होना चाहिये। उसे हम ऊर्ज और सम्भव के बाद तथा जरासन्ध से पहले रख सकते हैं।

यद्यपि मगधराज दीर्घ पाण्डु से परास्त हो गया था, पर उसके प्रताप व शक्ति में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। महाभारत में लिखा है, कि "दीर्घ ने बहुत-से राजाओं को हानि पहुँचायी हुई थी, बहुत-से महीप उससे नुकसान उठाये हुए थे, और इसीलिये उसे अपने बल का घमंड था।"

जरासन्ध—दीर्घ के बाद मगध की राजगद्दी पर जरासन्ध आसीन हुआ। महाभारत के अनुसार जरासन्ध ने सब क्षत्रिय राजवंशों की राज्यश्री का अन्त कर, सर्वत्र अपने तेज से आक्रमण कर, सब राजाओं में प्रधान स्थान प्राप्त किया था। वह सबका स्वामी था। सारा संसार उसके 'एकवश' में था, और सर्वत्र उसका साम्राज्य था।

चेदि का राजा शिशुपाल जरासन्ध की अधीनता स्वीकार करता था और मागध साम्राज्य के प्रधान सेनापति के पद पर नियुक्त था। कारूष देश का राजा वक्र उसका शिष्य-सा बना हुआ था। वक्र बड़ा प्रतापी राजा था, और मायायुद्ध में बहुत प्रवीण था। ऐसे ही करभ का राजा मेघवाहन, जिसकी ख्याति एक दिव्यमणि के कारण सर्वत्र विस्तृत थी, जरासन्ध के अधीन हो गया था। प्राग्ज्योतिष का राजा भगदत्त, जिसके अधीन मुरु और नरक नाम के दो राजा थे और जो अनन्त बल वाला भूपति था, न केवल वाणी से अपितु कर्म से भी जरासन्ध के अधीन था। बंग, पुण्ड्र और किरात का राजा वसुदेव भी जरासन्ध के अधीन था। युधिष्ठिर का मामा पुरुजित् भी मगध के राजा की अधीनता स्वीकृत करता था। इसी प्रकार पाण्ड्य और क्रथकैशिक का राजा भीष्म भी मागध-साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करता था।

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है, कि जरासन्ध का साम्राज्य पूर्व में बंगाल और असम तक फैला हुआ था। पूर्वी भारत के अंग, बंग, पुण्ड्र, किरात और प्राग्ज्योतिष के राजा उसकी अधीनता में थे। दक्षिण में क्रथकैशिक (बरार व खानदेश) के प्रदेश भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित थे। चेदि के पश्चिमोत्तर में शूरसेन प्रदेश (वर्तमान मथुरा व उसके समीपवर्ती प्रदेश) में अन्धक यादवों का राज्य था। वहाँ का राजा कंस जरासन्ध का दामाद था। जरासन्ध की पुत्री व सहदेव की बहन अस्ति और प्राप्ति कंस की पत्नियाँ थीं। जरासन्ध की सहायता व संरक्षण के भरोसे कंस अपनी प्रजा पर मनमाना अत्याचार करता था। इस में सन्देह नहीं, कि भारत के बहुत बड़े भाग में उस समय जरासन्ध की तूती बोलती थी।

अनेक राज्य ऐसे भी थे, जिन्होंने मगधराज जरासन्ध की अधीनता स्वीकार कर लेने के स्थान पर अपने प्रदेशों को छोड़कर कहीं सुदूर पश्चिम में बस जाना उचित समझा। ऐसे अठारह राज्य तो भोजों के ही थे। उनके अतिरिक्त शूरसेन, भद्रकार,

बोध, शाल्व, पटच्चर, स्वस्थल, सुकुट्ट, कुलिन्द, कुन्ति और शाल्वायन—ये सब राज-कुल अपने जनपदों को छोड़कर जरासन्ध के भय से पश्चिम की ओर चले गये थे। इसी प्रकार दक्षिण-पंचाल, पूर्व-कोशल और मत्स्य राज्यों के निवासी भी अपने-अपने प्रदेशों को छोड़कर दक्षिण में जाकर बस गये। पंचाल लोग अपने 'स्वराज्य' को छोड़कर सब तरफ बिखर गये। (महाभारत, सभापर्व अ० १४)।

ऊपर जिन राजकुलों व गणों का उल्लेख किया गया है, उन सब के प्रदेशों का ठीक-ठीक परिचय हमें नहीं है। पर मगधराज जरासन्ध के उग्र साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में इस संदर्भ से बहुत महत्त्वपूर्ण बातें हमें ज्ञात होती हैं। बंग, पुण्ड्र, चेदि आदि जिन राज्यों ने जरासन्ध की अधीनता को स्वीकार कर लिया था, उन्हें मागध साम्राज्य में अधीनस्थ रूप से कायम रहने दिया गया था। पर जिन राजकुलों व गणराज्यों ने यह अधीन स्थिति स्वीकार नहीं की थी, उन्हें अपने-अपने जनपदों व प्रदेशों को छोड़कर सुदूरवर्ती प्रदेशों में जा बसने के लिये विवश होना पड़ा था। मगध की इस उग्र साम्राज्य-लिप्सा से आर्यावर्त के जनपदों में उस समय कितनी भयंकर उथल-पुथल मची होगी, इसकी कल्पना सुगमता से की जा सकती है।

जरासन्ध ने बहुत-से राजाओं को कैद कर कारागार में भी डलवा दिया था। महाभारत की अनुश्रुति के अनुसार 'जिस प्रकार सिंह महाहस्तियों को पकड़ कर गिरिराज की कन्दरा में बन्द कर देता है, उसी प्रकार जरासन्ध ने राजाओं को परास्त कर गिरिव्रज में कैद कर लिया। राजाओं के द्वारा यज्ञ करने की इच्छा से (राजाओं का यज्ञ में बलिदान करने की इच्छा से) उस जरासन्ध ने अत्यन्त कठोर तप करके उमा-पति महादेव को सन्तुष्ट किया है, और राजाओं को एक-एक करके परास्त कर अपने पास कैद कर लिया है।'

पाण्डव युधिष्ठिर—राजा युधिष्ठिर उन दिनों राजसूय यज्ञ करने के लिए उत्सुक थे। कृष्ण ने उन्हें बताया, कि जब तक जरासन्ध जैसा शक्तिशाली सम्राट् विद्यमान है, राजसूय के लिये कोशिश करना बिलकुल व्यर्थ है। पहले जरासन्ध को मारने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे मार्ग से हटाये बिना राजसूय यज्ञ का स्वप्न देखना भी बेकार है। कृष्ण को जरासन्ध से विशेष विरोध व द्वेष था। वे अन्धक-वृष्णि संघ के 'संघमुख्य' व नेता थे। जरासन्ध के आक्रमणों से विवश होकर इस अन्धक-वृष्णि संघ को अपने प्रदेश शूरसेन को छोड़कर सुदूर पश्चिम में द्वारिका में जा बसने के लिए विवश होना पड़ा था।

कृष्ण—शूरसेन प्रदेश में यादव लोगों के दो राज्य थे—अन्धक और वृष्णि। अन्धक यादवों का नेता कंस था, जो जरासन्ध का दामाद था। जरासन्ध मगध का 'एकराट्' था। पर कंस अन्धक यादवों में 'समानों में ज्येष्ठ' था, एकराट् नहीं। पर अपने श्वशुर जरासन्ध का सहारा पाकर कंस ने भी अन्धक यादव-कुलों के अन्य 'वृद्धों' व नेताओं को दबाना शुरू किया, और एकाराट् बन गया। पर अन्धक यादवों को यह बात पसन्द नहीं आई। उन्होंने अपने पड़ोसी दूसरे यादव-राज्य वृष्णिगण से सहायता माँगी। वृष्णि-यादवों का नेता कृष्ण था। कृष्ण ने कंस को मार डाला। यह सुनते ही

जरासन्ध का कोप कृष्ण और यादवों पर उमड़ पड़ा। उसने सत्तरह बार यादवों पर आक्रमण किये। अन्धक-वृष्णियों ने खूब डटकर मगधराज जरासन्ध का मुकाबला किया। हंस और डिम्भक नामक दो सेनापति इन युद्धों में काम आये। आखिर, अठारहवीं बार जरासन्ध ने एक शक्तिशाली सेना लेकर यादवों पर आक्रमण किया। इस बार अन्धक-वृष्णि परास्त हुए और कृष्ण की सलाह से वे शूरसेन देश को छोड़कर द्वारिका में जा बसे। वहाँ अन्धक और वृष्णि गणों ने परस्पर मिलकर एक संघराज्य बना लिया, और कृष्ण उसके 'संघमुख्य' नियत हुए। द्वारिका मगध से बहुत दूर थी। वहाँ जरासन्ध के आक्रमणों का कोई भय नहीं था। पर कृष्ण अपने परम शत्रु मगध-सम्राट् से बदला उतारने के लिए उत्सुक थे। अकेला यादवसंघ मगध का कुछ नहीं बिगाड़ सकता था। इसलिये उन्होंने इन्द्रप्रस्थ के पाण्डव राजा युधिष्ठर को अपना मित्र बनाया। पाण्डव राजा बड़े महत्त्वाकांक्षी थे। वे राजसूय-यज्ञ करके चक्रवर्ती-पद प्राप्त करने के प्रयत्न में थे। कृष्ण ने उन्हें समझाया, कि जरासन्ध को मारे बिना वे अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सकेंगे। उसने कहा—"इस समय एक महान् सम्राट् मगधराज जरासन्ध पहले से विद्यमान है। वह अपने बल-पराक्रम से सम्राट्-पद पर पहुँचा है। ऐल तथा ऐक्ष्वाकव वंशों की इस समय एक सौ शाखाएँ हैं। शक्ति से चाहे जरासन्ध ने इन्हें अपने अधीन कर लिया हो, परन्तु दिल से उसे वे नहीं चाहते। वह बल से ही उन पर शासन करता है। ८६ राजा तो उसने कैद ही कर रखे हैं, और साथ ही यह घोषणा की हुई है, कि जब इन कैदी राजाओं की संख्या पूरी सौ हो जायेगी, तो महादेवजी के आगे इनकी बलि चढ़ा दी जायेगी। यह बिलकुल अनहोनी बात है, कि किसी राज्य के विधिपूर्वक अभिषिक्त राजा को कोई सम्राट् कैद रखे। क्षत्रिय का धर्म लड़ाई में मरना है, पशु के समान यज्ञ में बलि चढ़ना नहीं। मगधराज का हमें मिलकर मुकाबला करना चाहिये। जो अब जरासन्ध के मुकाबले में खड़ा होगा, वही उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त कर सकेगा। जरासन्ध को जो परास्त करेगा, वही इस समय सम्राट्-पद का अधिकारी होगा।"

जरासन्ध की पराजय—कृष्ण की प्रेरणा से पाण्डव लोग जरासन्ध का मुकाबला करने के लिये तैयार हो गये। पर उन्होंने सम्मुख युद्ध में जरासन्ध का सामना करना उचित नहीं समझा। अर्जुन और भीम वेश बदलकर कृष्ण के साथ मगध की राजधानी गिरिव्रज में गये और वहाँ जरासन्ध को द्वन्द्व-युद्ध के लिये ललकारा। कृष्ण ने युद्ध के लिए आह्वान करते हुए जरासन्ध से कहा—"हम तुझे द्वन्द्व-युद्ध के लिये आह्वान करते हैं। या तो कारागार में डाले हुए सब राजाओं को छोड़ दो, या मृत्यु के लिये तैयार हो जाओ।"

जरासन्ध जैसा उद्भट वीर द्वन्द्व-युद्ध से इन्कार नहीं कर सकता था। सर्व-साधारण जनता के सामने खुले मैदान में जरासन्ध और भीम की लड़ाई हुई। दर्शकों में शूद्र, स्त्रियाँ, वृद्ध सब शामिल थे। द्वन्द्व-युद्ध में भीम की विजय हुई, और जरासन्ध मारा गया। यदि पाण्डव सेनाएँ मगध पर आक्रमण करतीं, तो जरासन्ध की सैन्यशक्ति को नष्ट कर सकना शायद उनके लिये सम्भव न होता। कृष्ण ने अपनी

नीतिकुशलता से पाण्डवों को यही सलाह दी, कि वे वेश बदल कर गिरिव्रज पहुँचें और वहाँ जरासन्ध को द्वन्द्व-युद्ध में परास्त करें। कृष्ण भलीभाँति जानता था, कि जरासन्ध के मरते ही मगध में क्रान्ति हो जायगी, क्योंकि मगध का साम्राज्य 'एकराट्' की वैयक्तिक शक्ति पर ही निर्भर था।

जरासन्ध के मारे जाते ही कृष्ण ने पहला कार्य यह किया, कि कैद में पड़े हुए राजाओं को मुक्त कर दिया। इन सब राजाओं ने प्रसन्नतापूर्वक पाण्डवों की अधीनता स्वीकार की। ये सब राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलत होने के लिये सहर्ष तैयार हो गये। मगध का साम्राज्यवाद इन सब राजाओं का समूल उच्छेद करने में तत्पर था। पर युधिष्ठिर का साम्राज्यवाद प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुकूल था। अन्य राजाओं से अधीनता स्वीकृत कराना ही उसका उद्देश्य था, मूर्धाभिषिक्त राजाओं को कैद करना या मारना प्राचीन आर्य-परम्परा के सर्वथा विपरीत था।

जरासन्ध की मृत्यु के बाद उसका लड़का सहदेव मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। एकराट् राजाओं की शक्ति बहुत कुछ उनके व्यक्तित्व पर निर्भर रहती है। जरासन्ध के मरते ही उसका शक्तिशाली साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। इन्द्रप्रस्थ के राजा युधिष्ठिर का साहाय्य पाकर विविध अधीन राजा फिर से स्वतन्त्र हो गये। अनेक गणराज्य भी निर्भय होकर फिर से अपने जनपदों को वापस लौट आये। अब भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति मगध की जगह पर इन्द्रप्रस्थ हो गई।

राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करने से पूर्व दिग्विजय किया और भारत के विविध जनपदों से अधीनता स्वीकृत कराई। पूर्वी भारत को विजय करने का कार्य भीम के सुपुर्द किया गया था। मगध को अधीन करने के लिए भीम को युद्ध की आवश्यकता नहीं हुई। सहदेव को समझा-बुझाकर शान्त कर दिया गया और उसने पाण्डवों को कर देना स्वीकार कर लिया। जिस कृष्ण के षड्यन्त्र से जरासन्ध का वध हुआ था, युधिष्ठिर की राजसूय-सभा में उसीकी सहदेव ने अर्चना की, और विविध उपहार पाण्डव-राजा की सेवा में भेंट किये।

पर पाण्डवों का यह उत्कर्ष देर तक कायम नहीं रहा। हस्तिनापुर के कौरव पाण्डवों के इस उत्कर्ष को सहन नहीं कर सकते थे। कौरवों और पाण्डवों में आगे चल कर जो संघर्ष हुआ, उसी को महाभारत का युद्ध कहा जाता है।

(८) महाभारत का युद्ध

जरासन्ध की पराजय और मृत्यु के बाद मगध की राजनीतिक शक्ति निर्बल पड़ गई। इस समय भारत के आर्य राज्यों में सबसे अधिक शक्तिशाली पाण्डवों का राज्य था, जिनकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। पाण्डवों के इस उत्कर्ष से दुर्योधन को बहुत चिढ़ थी। युद्ध द्वारा पाण्डवों को परास्त कर सकना सुगम नहीं था, अतः दुर्योधन ने एक अन्य उपाय का आश्रय लिया। प्राचीन युग में आर्यों को द्यूत का बड़ा व्यसन था। जिस प्रकार युद्ध में पीठ दिखाना घृणित माना जाता था, वैसे ही द्यूत के लिये आवाहन होने पर उसे स्वीकार न करना भी बहुत बुरा समझा जाता था। दुर्योधन का मामा गान्धार

देश का राजा शकुनि था। वह द्यूत में अत्यन्त प्रवीण था। उसके भरोसे पर दुर्योधन ने पाण्डवों को द्यूत खेलने का निमन्त्रण दिया। पाण्डव लोग द्यूत में अपना सारा राज्य हार गये। द्यूत की शर्त के अनुसार पाण्डवों को बारह वर्ष का वनवास और तेरहवें वर्ष का अज्ञात वास करना पड़ा।

इस बीच में हस्तिनापुर के कौरवों ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली। द्यूत में हार जाने के कारण तेरह वर्ष के लिये इन्द्रप्रस्थ के राज्य पर भी कौरवों का अधिकार हो गया था। वनवास और अज्ञातवास की अवधि समाप्त हो जाने पर पाण्डवों ने दुर्योधन से अपना राज्य वापस माँगा। द्यूत की शर्तों के अनुसार अब इन्द्रप्रस्थ का राज्य पाण्डवों का वापस मिल जाना चाहिए था। पर दुर्योधन ने उत्तर दिया, कि युद्ध के बिना मैं सुई की नोक के बराबर भी जमीन नहीं दूँगा। उसे भरोसा था, कि असहाय पाण्डव कौरवों से अपना राज्य नहीं ले सकेंगे। पर पाण्डवों के साथ सहानुभूति रखने वाले राजाओं की कमी नहीं थी। वृष्णिसंघ के नेता पाण्डवों के परम सखा थे। अन्य भी अनेक राजाओं ने उनका साथ दिया। कौरवों और पाण्डवों में जो लड़ाई इस समय हुई, उसे ही महाभारत-युद्ध करते हैं।

आर्यावर्त्त के प्रायः सभी राज्य इस युद्ध में सम्मिलित हुए। मगध का राजा सहदेव इस युद्ध में पाण्डवों के पक्ष में था। किन्तु प्राच्य भारत के अन्य अनेक राज्य (विदेह, अंग, वंग, कलिंग आदि) कर्ण की अध्यक्षता में कौरवों के पक्ष में थे। भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर स्थित असम देश का राजा भगदत्त भी इस युद्ध में कौरवों की ओर था। इस प्रकार प्रायः सारा प्राच्य भारत कौरवों का पक्षपाती था। प्राच्य राज्यों के समान उत्तर-पश्चिमी भारत और पंजाब के राज्य भी महाभारत-युद्ध में कौरवों के पक्ष में सम्मिलित हुए। केकय, शिवि, सिन्धुसौवीर, गान्धार, त्रिगर्त, मद्र, क्षुद्रक, मालव, अम्बष्ठ और कम्बोज आदि पश्चिमी भारत के सब राज्य कौरवों की तरफ हुए। सिन्धु-सौवीर का राजा जयद्रथ था, जो दुर्योधन का बहनोई था। वह इस क्षेत्र में एक अत्यन्त प्रभावशाली राजा था, और उत्तर-पश्चिमी भारत के अन्य राजा उसके प्रभाव में थे। वह कौरवों की ओर से लड़ाई में शामिल हुआ। मद्र देश का राजा शल्य पाण्डवों का मामा था, पर उसने भी कौरवों का पक्ष लिया। कोशल, वत्स, विदर्भ आदि के राजाओं ने भी इस युद्ध में कौरवों का साथ दिया।

पाण्डवों के पक्ष में वे अनेक राजा थे, जिन्हें जरासन्ध के पराभव के कारण स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी। काशी, पूर्वी कोशल, पञ्चाल, मत्स्य, चेदि, कारूष और मगध के राजाओं का पाण्डवों के पक्षपातियों में प्रमुख स्थान था। वृष्णिराज्य के अधिपति कृष्ण पाण्डवों के प्रधान सहायक थे, पर सम्भवतः वे वृष्णि लोगों को पाण्डवों के पक्ष में युद्ध के लिये तैयार नहीं कर सके। परिणाम यह हुआ कि अकेले कृष्ण सारथी व परामर्शदाता के रूप में पाण्डवों के पक्ष में सम्मिलित हुए। यादवों के भी अनेक छोटे-बड़े राज्य इस समय विद्यमान थे, वे कौरव और पाण्डव दोनों पक्षों में बँटे हुए थे।

महाभारत में उन राज्यों व राजाओं का अविकल रूप से उल्लेख किया गया है, जो इस महायुद्ध में दोनों पक्षों की ओर से लड़े थे। इनकी सूची को पढ़कर यह

स्पष्ट हो जाता है, कि उस समय का भारत बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था और इन राज्यों की संख्या सैकड़ों में थी। इसमें सन्देह नहीं, कि उस युग में अनेक राजाओं का यह प्रयत्न रहता था, कि वे अपने साम्राज्य का विस्तार करें और अन्य राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लें। पर आर्य-जाति की परम्परा के अनुसार ये महत्त्वाकांक्षी चक्रवर्ती सम्राट् विजित राज्यों और उनके राजाओं का मूलोच्छेद नहीं करते थे, और अधीनस्थ रूप में उनकी पृथक् सत्ता कायम रहती थी। यही कारण है, कि महाभारत-युद्ध में सम्मिलित राजाओं की संख्या सैकड़ों में पहुँच गई थी।

कौरवों और पाण्डवों के पक्षों में शामिल हुए राज्यों की सूची को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है, कि उत्तर-पश्चिमी भारत, पूर्वी भारत और पश्चिमी विन्ध्य के राज्य कौरवों के पक्ष में थे, और मध्यभारत, आर्यावर्त और गुजरात के राज्य पाण्डवों के। इसका कोई मूलभूत राजनीतिक कारण था या नहीं, यह कह सकना बहुत कठिन है।

पाण्डव पक्ष की सेनाएँ मत्स्य देश (अलवर व उसका समीपवर्ती प्रदेश) में और कौरवों की सेनाएँ हस्तिनापुर से यमुना तक के प्रदेश में एकत्र हुईं। अन्त में कुरुक्षेत्र के मैदान में दोनों पक्षों की सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अठारह दिन की लड़ाई के बाद युद्ध का निपटारा हो गया। पाण्डवों का पक्ष विजयी हुआ। दुर्योधन और उसके भाई युद्ध में मारे गए और पाण्डवबन्धु कुरुदेश के शासन को हस्तगत करने में समर्थ हुए। अब इन्द्रप्रस्थ के पाण्डव राजा न केवल कुरुदेश के अधिपति थे, अपितु भारत में उनकी शक्ति का मुकाबला करने वाला अन्य कोई नहीं था।

महाभारत के इस युद्ध में योद्धाओं का बहुत बड़ी संख्या में संहार हुआ। इस युद्ध में शामिल होने के लिए जो सेनाएँ एकत्र हुई थीं, महाभारत ग्रन्थ में उनकी संख्या अतिशयोक्ति के साथ दी गई है। इसके अनुसार युद्ध में शामिल हुए पदाति योद्धाओं की ही संख्या बीस लाख के लगभग थी। पदातियों के अतिरिक्त हाथी, घोड़े और रथ भी लाखों की संख्या में लड़ाई के लिए लाये गए थे। महाभारत की इस संख्या पर विश्वास कर सकना तो सम्भव नहीं है, पर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है, कि महाभारत की यह लड़ाई भारतीय इतिहास में अद्वितीय थी। इतनी बड़ी संख्या में विविध आर्य राजा इससे पहले कभी किसी युद्ध में शामिल नहीं हुए थे। भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि कितने ही वीर पुरुष इस युद्ध में काम आए। महाभारत में इस बात का बड़े मार्मिक शब्दों में वर्णन किया गया है, कि जब विजयी पाण्डव कुरुदेश की राजधानी हस्तिनापुर में पहुँचे, तो उन्हें अनाथों और विधवाओं के रुदन के अतिरिक्त वहाँ कुछ नहीं मिला। अपने देश की इस दुर्दशा को देखकर उनके हृदय मे अत्यन्त ग्लानि उत्पन्न हुई, और उनका मन राज्य के शासन में नहीं लगा। अनुश्रुति के अनुसार पाण्डव लोग कुछ समय बाद ही हस्तिनापुर को छोड़ कर हिमालय की ओर चले गए, और वहाँ तपस्या द्वारा उन्होंने अपने जीवन का अन्त किया। पाण्डव-बन्धुओं के बाद अर्जुन का पोता परीक्षित कुरुदेश का राजा बना। पर कुरुदेश का अब वह उत्कर्ष नहीं रहा,

जो पहले था। कौरवों और पाण्डवों के युद्ध के कारण कुरुदेश की शक्ति क्षीण हो गई थी, और मगध को फिर से अपनी शक्ति को बढ़ाने का अवसर मिल गया था। आगे चलकर जरासन्ध के बार्हद्रथ वंश ने और अधिक उन्नति की, और मगध के राजा ही भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए।

कृष्ण और यादव—इस प्रकरण में हमने अनेक बार कृष्ण का जिक्र किया है, जो महाभारत-युद्ध में पाण्डवों के परम सहायक थे। कृष्ण वृष्णि राज्य के 'राजा' या 'गणमुख्य' थे। सम्भवतः, इस युग में वृष्णियों में वंशपरम्परागत राजसत्ता का अन्त होकर गणतन्त्र-शासन की स्थापना हो चुकी थी, और कृष्ण वंशक्रमानुगत राजा न होकर वृष्णिगण के 'मुख्य' मात्र थे। कृष्ण केवल राजनीतिज्ञ और गणमुख्य ही नहीं थे, वे उत्कृष्ट विचारक, दार्शनिक और तत्ववेत्ता भी थे। श्रीमद्भगवद्गीता में उपदिष्ट कर्मयोग का प्रवचन उन्होंने ही किया था। अनेक ऐतिहासिकों के अनुसार कृष्ण ही उस भागवत धर्म के प्रवर्त्तक थे, जो आगे चलकर भारत का एक प्रमुख धर्म बन गया।

महाभारत-युद्ध के कुछ समय बाद यादव-वंश के विविध राज्यों में आपस में लड़ाई शुरू हो गई। इन लड़ाइयों का रूप गृह-कलह का था। विशेषतया, वृष्णि लोग परस्पर लड़कर बहुत दुर्दशा को प्राप्त हो गए। महाभारत-युद्ध में कृष्ण ने जिस प्रकार अकेले पाण्डवों का साथ दिया था, यह बात ही वृष्णियों के पारस्परिक मतभेदों को सूचित करने के लिए पर्याप्त है। कृष्ण का अन्त एक निराश राजनीतिज्ञ के रूप में हुआ, जो अपने गणराज्य की आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने में प्रायः असफल रहे। महाभारत के युद्ध में आर्यावर्त्त के क्षत्रियों का जिस बड़ी संख्या में संहार हुआ था, उसके कारण इस देश के विविध राज्यों की दशा अत्यन्त हीन और शोचनीय हो गई थी।

पौराणिक अनुश्रुति में वैवस्वत मनु से शुरू कर महाभारत-युद्ध तक का इतिवृत्त जिस ढंग से दिया गया है, उसे हमने ऊपर के आठ प्रकरणों में अत्यन्त संक्षेप के साथ लिखा है। इसमें सन्देह नहीं, कि पुराणों का यह इतिवृत्त अस्पष्ट और अपूर्ण है। ऐक्ष्वाकव, पौरव आदि वंशों के राजाओं की जो सूची दी गई है, वह पूर्ण भी नहीं है। अनेक राजाओं के नाम उसमें छूट गए हैं। पर उस द्वारा वैदिक युग के आर्य राज्यों और उनके महत्त्वपूर्ण राजाओं का एक ऐसा विवरण हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो जाता है, जिस के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।

(९) वैदिक साहित्य द्वारा पौराणिक अनुश्रुति की पुष्टि

पुराणों में प्राचीन भारत के जिन राज्यों और राजाओं के नाम विद्यमान हैं, उनमें से कतिपय का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी हुआ है। मानव वंश के संस्थापक वैवस्वत मनु ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों के ऋषि हैं, और इसी प्रकार उनके पुत्र नाभानेदिष्ट और शर्यात भी। नाभानेदिष्ट के वंशजों में भलन्दन और वात्सप्रि के नाम भी वैदिक मन्त्रों के ऋषियों के रूप में उल्लिखित हैं। ऐक्ष्वाकव वंश के प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट् मान्धाता, अम्बरीष और त्रसदस्यु, ऐल-वंश के पुरूरवा, नहुष और ययाति तथा पौरव वंश के राजा सुदास द्वारा विरचित या दर्शन किये हुए मन्त्र वेदों के अन्तर्गत

हैं। पौराणिक अनुश्रुति में वर्णित कितनी ही बातों के संकेत वेदों में भी पाये जाते हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध उत्तर-पंचाल के राजा सुदास और हस्तिनापुर के राजा संवरण के युद्ध हैं, जिनका उल्लेख ऋग्वेद में दाशराज्ञ युद्ध के रूप में किया गया है। इस युद्ध में सुदास की शक्ति का अवरोध करने के लिए दस राजाओं ने एक संघ संगठित किया था, जिनमें से पक्थ, भलानस, शिवि, विषाणिन् और अलिन सिन्ध नदी के पश्चिमी क्षेत्र के थे, और अनु, द्रुह्यु, तुर्वश, यदु, और पुरु पूर्वी क्षेत्र के। दाशराज्ञ युद्ध का वृत्तान्त पहले लिखा जा चुका है। यहाँ इतना निर्देश करना ही पर्याप्त है, कि राजा सुदास के सम्बन्ध में जो अनुश्रुति पुराणों में पायी जाती है, ऋग्वेद द्वारा भी उसका समर्थन होता है।

पुराणों के अनुसार राजा नहुष ऐल-वंश के पुरूरवा के पौत्र थे, और नहुष के पुत्र का नाम ययाति था। पुराणों में ययाति को चक्रवर्ती कहा गया है। ययाति के पाँच पुत्र थे—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु। इनमें से पुरु ने अपने पिता के राज्य को प्राप्त किया, और अन्य चारों ने नये राज्यों की स्थापना की। ऐल वंश के इन राजाओं के नाम केवल वैदिक ऋषियों के रूप में ही नहीं मिलते, अपितु उनके सम्बन्ध में कतिपय घटनाओं के संकेत भी ऋग्वेद में विद्यमान हैं। एक मन्त्र में नहुष के दान की स्तुति की गई है (ऋग्वेद १।१२२।८), और ययाति को यज्ञों का अनुष्ठाता बताया गया है। पर वेदों में कहीं कोई ऐसा संकेत नहीं मिलता, जिससे यदु, तुर्वसु आदि का ययाति के पुत्र होना सूचित होता हो, यद्यपि इन पाँचों का उल्लेख ऋग्वेद में विद्यमान है। दाशराज्ञ युद्ध में ये पाँचों जातियाँ या राज्य सुदास के विरुद्ध राजा संवरण की सहायता के लिए अग्रसर हुए थे। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार ययाति के पाँचों पुत्रों के अपने-अपने पृथक् राज्य थे। ऋग्वेद में यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु नाम के जिन पाँच राज्यों का उल्लेख है, उनकी स्थापना ययाति के इन्हीं नामों के पुत्रों द्वारा की गई थी, यह कल्पना असंगत नहीं है। राजा सुदास के अतिरिक्त उत्तर-पंचाल के राजा सृंजय, सहदेव और सोमक का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। सृंजय के लिए इन्द्र ने तुर्वश के राजा वृचीवन्त को परास्त किया था (ऋग्वेद ६।२७।७)। सृंजय के बाद उत्तर-पंचाल के राजसिंहासन पर सहदेव और सोमक आरूढ़ हुए थे। साहदेव्य सोमक द्वारा दिये गए दान की स्तुति में ऋषि कक्षीवान् ने चार मन्त्र कहे हैं (ऋग्वेद ४।१५।७-१०)।

पौराणिक अनुश्रुति में जिन अनेक प्रतापी एवं चक्रवर्ती राजाओं का वर्णन है, उनमें से कतिपय द्वारा अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किए जाने का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विद्यमान है। ऐसा एक राजा दौःषन्ति (दुष्यन्त का पुत्र) भरत था, जिसने कि गंगा नदी के तट पर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था (शतपथ ब्राह्मण, १३।५।४।११)।

वैदिक साहित्य में कितने ही ऐसे राजाओं के नाम भी आये हैं, जिनका उल्लेख पौराणिक अनुश्रुति में या तो बिलकुल नहीं है, या ऐसे ढंग से है जिससे कि इन राजाओं का कोई महत्त्व सूचित नहीं होता। ऐसे राजा अभ्यावर्ती, अष्टकर्ण्य आदि थे, जिनके

दान की स्तुति में अनेक मन्त्र ऋग्वेद में विद्यमान हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक ऐसे प्रतापी राजाओं का उल्लेख है, जिन्होंने कि अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ये राजा कावषेय तुर, साहदेव्य सोमक, साञ्जय सहदेव, दैवावृध बभ्रु, वैदर्भ भीम, गान्धार नग्नजित, आनकि ऋतुविद् और पैजवन सुदास थे (ऐतरेय ब्राह्मण ७।५।८)। इनके नाम देने के पश्चात् ऐतरेय ब्राह्मण में यह कहा गया है, कि ये राजा सब दिशाओं से बलि (कर) ग्रहण किया करते थे। इससे इनका चक्रवर्ती राजा होना प्रमाणित होता है। इनमें से साञ्जय (सृञ्जय के पुत्र) सहदेव, साहदेव्य (सहदेव के पुत्र) सोमक और पैजवन सुदास का उल्लेख पौराणिक अनुश्रुति में भी है, और ऋग्वेद में भी। तुर कावषेय हस्तिनापुर के राजा संवरण का समकालीन था, और दाशराज्ञ युद्ध के साथ भी उसका सम्बन्ध था। आनकि ऋतुविद्, दैवावृध बभ्रु और गान्धार नग्नजित् का पौराणिक अनुश्रुति में चक्रवर्ती सम्राटों के रूप में उल्लेख नहीं मिलता। पर इनकी सत्ता से इन्कार भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनका परिगणन ऐसे राजाओं के साथ किया गया है, जिनकी स्मृति पौराणिक अनुश्रुति में विद्यमान है। ऐतरेय ब्राह्मण में ही अन्यत्र (८।१।४४) ऐसे राजाओं की सूची दी गई है, जिनका विधिवत् महाभिषेक हुआ था। ये राजा जनमेजय पारिक्षित, शार्यात मानव, च्यवन भार्गव, सत्रजित, सोमशुष्म भार्गव, युधांश्रौष्टि औग्रसैन्य, सुदास पैजवन, मरुत्त आविक्षित, संवर्त, अङ्ग वैरोचन, भरत दौःषन्तिः, दुर्मुख पांचाल, आरमराति, जानतपि आदि थे। इनमें से अनेक ऐसे हैं, पौराणिक अनुश्रुति में जिनका कहीं भी उल्लेख नही मिलता। पर क्योंकि इनके नाम दुष्यन्त के पुत्र भरत, परीक्षित के पुत्र इतिहास में जनमेजय और पंजवन सुदास सदृश इतिहास प्रसिद्ध राजाओं के साथ दिये गए हैं, अतः इन राजाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान मानना सर्वथा उचित है।

ऋग्वेद में कितने ही ऐसे राजाओं का उल्लेख है, जिन्होंने कि इन्द्र की सहायता से अपने अनेक शत्रुओं को परास्त किया था। वैदिक मन्त्रों में इन्द्र की स्तुति करते हुए यह कहा गया है कि उसके साहाय्य से ही ये राजा अपने शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ हुए थे। साथ ही, कतिपय ऐसे मन्त्र भी हैं, जिनमें राजाओं के दान की प्रशंसा की गई है। इस प्रकार जिन राजाओं का उल्लेख वैदिक साहित्य में और विशेषतया ऋग्वेद से मिलता है, उनमें मित्रातिथि (ऋग्वेद १०।३३।६), दुष्यामयि (ऋग्वेद ७।१८।२४), वीतहव्य (ऋग्वेद ११।८।४), वैशन्त (ऋग्वेद ७।३३।२), प्रमगन्द (ऋग्वेद ३।५।१४), तूर्वयाण (ऋग्वेद १।५३।१०), चित्र (ऋग्वेद ८।२१।१८), चित्ररथ (ऋग्वेद ४।३०।१८), कुरङ्ग (ऋग्वेद ८।४।१९), कौरयाण पाकस्थामन् (ऋग्वेद ८।३।२१), स्वनय भाव्य (ऋग्वेद १।१२६।१, ३), ऋज्राश्व (ऋग्वेद १।१००।१६), आसङ्ग प्लायोगि (ऋग्वेद ८।१।३२), आयु (ऋग्वेद १।५३।१०), अभ्यावर्ती चायमान (ऋग्वेद ६।२७।८), अभिप्रतारिन् काक्षसेनि (ऋग्वेद १।५६।१) आदि उल्लेखनीय हैं। ये सब राजा ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध में पौराणिक अनुश्रुति से कोई विशेष परिचय नहीं मिलता, या जिनका पुराणों में उल्लेख ही नहीं है। ऋग्वेद में भी प्रायः इनके नाम ही दिये गए हैं, यद्यपि किसी-किसी राजा के सम्बन्ध में कतिपय ऐसे संकेत भी विद्यमान हैं, जिनसे उनके राज्य,

का तथा उनके द्वारा किये गए किसी महत्त्वपूर्ण कार्य (यथा विजय एवं राज्यविस्तार आदि) का कुछ आभास मिल जाता है। उदाहरणार्थ, तूर्वयाण को पक्थों के राजा के रूप में उल्लिखित कर एक मन्त्र में यह कहा गया है कि इन्द्र ने च्यवान के विरुद्ध उसकी सहायता की थी (ऋग्वेद १०।६१।२)। पक्थ एक आर्य जाति थी, जिसका राज्य सिन्ध नदी के पश्चिम में था। वर्तमान समय के पक्थून इन पक्थों के ही उत्तराधिकारी हैं। पौराणिक अनुश्रुति में न इन पक्थों का उल्लेख है, और न इनके किसी राजा का। पर ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में पक्थों का उल्लेख विद्यमान है। दाशराज्ञ युद्ध में वे सुदास के विरुद्ध संगठित संघ में सम्मिलित हुए थे। एक मन्त्र में उन्हें 'अश्विनौ' का आश्रित व कृपापात्र भी कहा गया है (ऋग्वेद ८।२२।१०)। निःसन्देह, पक्थ लोग अश्विनौ के उपासक थे। पक्थ के समान शिवि भी आर्यों की एक प्राचीन जाति थी, और उसका राज्य भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में विद्यमान था। बौद्ध युग के बाद के काल के शिवि-जनपद के इतिहास की अनेक बातें हमें ज्ञात हैं, पर वैदिक युग में शिवि राज्य की क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध में कोई सूचना पौराणिक अनुश्रुति से प्राप्त नहीं होती। पर ऐतरेय ब्राह्मण में शैब्य राजा अमित्रपतन शुष्मिण (ऐतरेय ८।२३।१०) का उल्लेख है, जिससे यह समझा जा सकता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय (उत्तर-वैदिक काल) में शिवि जनपद की स्वतन्त्र रूप से सत्ता थी, और उसके एक राजा का नाम अमित्रतपन शुष्मिण था। यह नाम पुराणों में कहीं नहीं पाया जाता। इस शुष्मिण शैब्य ने उस आत्मराति ज्ञानतपि को परास्त किया था, जो उत्तर-कुरु की विजय के लिए प्रयत्नशील था। ऐतरेय ब्राह्मण में उत्तर-कुरु की स्थिति 'परेण हिमवन्त' (हिमालय के परे) बतायी गई है। उत्तर-कुरु, शिवि, पक्थ आदि भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र के राज्य थे, पौराणिक अनुश्रुति से जिनका विशेष परिचय नहीं मिलता। पर वैदिक साहित्य द्वारा उनके सम्बन्ध में भी कतिपय महत्त्वपूर्ण संकेत अवश्य प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में बल्हिक का एक प्रदेश या राज्य के रूप में उल्लेख है (अथर्ववेद ५।२२।५, ७ ९), और शतपथ ब्राह्मण में बल्हिक (शतपथ १२ ९।३।१-४) प्रातिपीय नाम के एक राजा का वर्णन हैं, जिसका सम्बन्ध सम्भवतः बल्हिक या बाल्हिक देश के साथ था। इसकी स्थिति भी उत्तर-कुरु के समान हिमालय के परवर्ती क्षेत्र में ही थी। सिन्ध नदी के परे की अलिन, विषाण आदि जिन जातियों के राजाओं ने दाशराज्ञ युद्ध मे सुदास के विरुद्ध भाग लिया था, उनके सम्बन्ध में भी पौराणिक अनुश्रुति प्रायः चुप है। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वैदिक युग के राजनीतिक इतिहास के लिए आवश्यक सामग्री न पुराणों और रामायण-महाभारत में पूर्ण रूप से प्राप्त होती है, और न वैदिक साहित्य में। राजनीतिक इतिहास के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनेक ऐसे संकेत वेदों में विद्यमान हैं, जो पुराण आदि में नहीं पाये जाते। इसी प्रकार पौराणिक अनुश्रुति में प्राचीन आर्य राज्यों और उनके राजाओं का जो इतिवृत्त संकलित है, उसमें बहुत-सा ऐसा है, जिसके सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में कोई भी निर्देश नहीं मिलता। ऐसे तथ्य अधिक नहीं है, जो पुराणों तथा वैदिक साहित्य में समान रूप से पाये जाते हों। पर यह सर्वथा

स्वाभाविक है, क्योंकि वेद धर्मपरक ग्रन्थ हैं और उनमें राज्यों, भौगोलिक स्थानों और राजाओं आदि के नाम प्रसङ्गवश ही आ गए हैं। फिर भी क्योंकि वेदों द्वारा पौराणिक अनुश्रुति की किन्हीं-किन्हीं बातों की पुष्टि हो जाती है, अतः पुराणों में संकलित ऐतिहासिक इतिवृत्त की प्रामाणिकता और अधिक बढ़ जाती है।

(१०) वैदिक युग के राजाओं का तिथिक्रम

जैसा कि हम पहले प्रतिपादित कर चुके हैं, वैवस्वत मनु और महाभारत के युद्ध के बीच के काल को भारतीय इतिहास का वैदिक युग कहा जाता है। मनु और महाभारत कालीन कौरव-पाण्डवों के बीच के राजाओं की ९५ या ९६ पीढ़ियाँ पुराणों में वर्णित हैं। एक राजा के शासन काल को औसतन १८ वर्ष का मानकर डा० पुसल्कर ने विद्याभवन द्वारा प्रकाशित 'वैदिक एज' ग्रन्थ में यह निरूपित किया है, कि वैवस्वत मनु का समय महाभारत से (९५×१८=१७१०) १७१० वर्ष पहले था। डा० पुसल्कर ने महाभारत का समय १४०० ई० पू० माना है, अतः मनु का समय (१४००+१७१०) ३११० ई० पू० हुआ, जिसे उन्होंने ३१०२ ई० पू० के रूप में इस कारण परिवर्तित कर दिया, क्योंकि प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार यह एक महत्त्वपूर्ण तिथि है और कलियुग का प्रारम्भ इसी से माना जाता है। यदि मनु का समय ३१०२ ई० पू० में हो, तो ययाति (मनु से ५ पीढ़ी बाद) का काल ३०१० ई० पू० के लगभग, मान्धाता (मनु से २० पीढ़ी बाद) का काल २७४० ई० पू० के लगभग, हरिश्चन्द्र (मनु से ३१ पीढ़ी के बाद) का काल २५४२ ई० पू० के लगभग और रामचन्द्र (मनु से ६५ पीढ़ी बाद) का काल १९५० ई० पू० में रखना होगा। पर भारतीय परम्परा का अनुसरण कर जो विद्वान् महाभारत युद्ध का समय ३१०२ ई० पू० में मानते हैं, उनके अनुसार मनु का काल १७०० वर्ष और पहले हो जाएगा, और साथ ही ययाति, मान्धाता, हरिश्चन्द्र और राम आदि अन्य राजाओं का भी।

पर जैसा कि हम पहले भी लिख चुके हैं, प्राचीन भारतीय इतिहास का तिथिक्रम एक अत्यन्त विवादग्रस्त विषय है। पौराणिक अनुश्रुति में ऐक्ष्वाकव आदि राजवंशों की जो वंशावलियाँ दी गई हैं, वे अपूर्ण हैं और उनमें केवल महत्त्वपूर्ण राजाओं के नाम ही दिये गए हैं। इसलिए डा० पुसल्कर द्वारा निर्धारित कालक्रम को प्रामाणिक रूप से स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है। पर उससे वैदिक युग के राजाओं के पौर्वापर्य का जो स्पष्ट चित्र प्रस्तुत हो जाता है, उसकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

नवां अध्याय

प्राचीनतम इतिहास की झलक और अन्य देशों से वैदिक आर्यों के सम्बन्ध

(१) प्राचीन अनुश्रुति

प्राचीन भारतीय विचारकों का यह विश्वास था, कि सृष्टि के बाद प्रलय होती है, और प्रलय के बाद फिर सृष्टि। सृष्टि के प्रादुर्भाव से प्रलय पर्यन्त जो काल है, उसे वे अनेक मन्वन्तरों में विभक्त करते थे। मन्वन्तर के विभाग कृत युग, त्रेता युग, द्वापर युग और कलि युग हैं। वर्तमान समय में जो मन्वन्तर चल रहा है, उसका प्रारम्भ वैवस्वत मनु से हुआ था। पिछले अध्याय में वैदिक युग के राजनीतिक इतिहास की जो रूपरेखा हमने प्रस्तुत की है, वह इसी मन्वन्तर का आदि-भाग है। पर पौराणिक अनुश्रुति में बीते हुए मन्वन्तरों, उनके राजाओं और उनके साथ सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं की स्मृति भी सुरक्षित है, यद्यपि यह स्मृति अत्यन्त धुंधली तथा अस्पष्ट है। पुराणों में संकलित अनुश्रुति के अनुसार प्रलय के बाद जब फिर सृष्टि हुई, तो पहला राजा स्वायम्भव मनु था, जिसकी उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई थी। इस मनु को पुराणों में 'विराज' भी कहा गया है, जिससे यह संकेत मिलता है, कि सृष्टि के प्रथम मन्वन्तर में उस प्रकार की राज्यसंस्था का विकास नहीं हुआ था, जैसी कि बाद में विकसित हो गई थी। अथर्ववेद के एक सूक्त में भी यह प्रतिपादित किया गया है, कि एक ऐसा समय था जब राज्यसंस्था का अभाव था। यह 'विराड्' या विराज या अराजक दशा देर तक कायम नहीं रह सकी। किस क्रम से राज्यसंस्था का विकास हुआ, यह भी अथर्ववेद में वर्णित है। स्वायम्भव मनु के समय में यह विराड् या विराज दशा ही थी, जब सब व्यक्ति अपने-अपने धर्म (कर्त्तव्य) के पालन में तत्पर रहते थे, और किसी एक 'पालक' के अभाव में भी एक-दूसरे द्वारा सब का पालन किया जाता था। वर्णों और वर्ण-धर्मों की तब भी सत्ता थी, क्योंकि इनका निर्धारण ब्रह्मा द्वारा ही किया जा चुका था। स्वायम्भव मनु की राजधानी सरस्वती नदी के तट पर थी, जहाँ से उसने सब शत्रुओं पर विजय पाने में सफलता प्राप्त की थी।

स्वायम्भव मनु के दो पुत्र और तीन कन्याएं थीं। पुत्रों के नाम प्रियव्रत और उत्तानपाद थे। प्रियव्रत के तीन पुत्र थे, उत्तम, तामस और रैवत। ये तीनों तीन मन्वन्तरों के प्रवर्तक हुए। पर दूसरे मन्वन्तर का प्रवर्तन स्वारोचिष द्वारा किया गया था, जो स्वायम्भव मनु की बड़ी पुत्री आकूति का पुत्र था। उत्तानपाद की दो रानियाँ

थीं, सुरुचि और सुनीति। सुनीति का पुत्र ध्रुव था, और सुरुचि के पुत्र कीर्तिमत् और उत्तम थे। उत्तानपाद सुनीति की उपेक्षा करता था, और उसका सम्पूर्ण प्रेम सुरुचि को ही प्राप्त था। इस कारण सुरुचि अपनी सौत के पुत्र ध्रुव को सदा अपमानित करती रहती थी, जिससे ध्रुव बहुत दुखी रहता था और उसे अपने पिता का प्यार भी प्राप्त नहीं होता था। परिणाम यह हुआ कि बाल्यावस्था में ही ध्रुव ने सांसारिक सुखभोग का परित्याग कर तपस्वी का जीवन अपना लिया और विष्णु की भक्ति प्रारम्भ कर दी। विष्णु ने प्रसन्न होकर ध्रुव को वह स्थान प्रदान करा दिया, जिसका कि वह अधिकारी था। ध्रुव के वंशजों में चाक्षुष एक नये मन्वन्तर का प्रवर्तक हुआ। पुराणों के अनुसार वह छठा मनु था। इसी के वंश में आगे चलकर वेन हुआ, जो बहुत ही क्रूर और अत्याचारी था। प्रजा को उसने बहुत पीड़ित किया, जिसके कारण उसके विरुद्ध विद्रोह हो गया। महाभारत में लिखा है कि राग और द्वेष से अभिभूत होकर वेन प्रजा के प्रति 'विधर्मा' (अपने धर्म का पालन न करने वाला) हो गया था, जिसके परिणामस्वरूप ब्रह्मवादी ऋषियों ने मन्त्रपूत कुशाओं द्वारा उसकी हत्या कर दी थी। वेन का पुत्र पृथु था, जिसे महाभारत में 'वैन्य' (वेन का पुत्र) भी कहा गया है। राजा बनते समय वैन्य पृथु ने यह प्रतिज्ञा की थी—'भूमि और जनता को ब्रह्म मानकर मैं सदा उनका पालन करूँगा। दण्डनीति में जिन बातों को धर्मानुकूल प्रतिपादित किया गया है, मैं अशंक रूप से उनका अनुसरण करूँगा। मैं कभी स्ववश (स्वेच्छाचारी) नहीं होऊँगा।' वैन्य पृथु ने अविकल रूप से इस प्रतिज्ञा का पालन किया, जिसके कारण उसके शासन में जनता सुख समृद्धि से परिपूर्ण हो गई। पृथु के वंश में आगे चलकर राजा दक्ष हुआ, जिसकी पुत्री का पौत्र वैवस्वत मनु था। इसी मनु से उस मन्वन्तर का प्रारम्भ हुआ, जो अब तक भी जारी है। पुराणों में भारतीय इतिहास की जो यह प्राचीनतम अनुश्रुति संकलित है, वह अत्यन्त अस्पष्ट होते हुए भी पर्याप्त रूप से महत्त्वपूर्ण है। ध्रुव की कथा अब तक भी भारत में प्रचलित है, और उसे सर्वथा निराधार नहीं कहा जा सकता। वेन और पृथु भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, यद्यपि पुराणों के अनुसार उनका समय वैवस्वत मनु से पहले था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि पार्थ्य (सम्भवतः, पृथु के वंशज) ताम्व ने वेन का स्मरण किया है, और पृथवान का भी, शायद पृथु ही जिससे अभिप्रेत है (ऋग्वेद (१०।९३।१४)। दक्ष भी प्राचीन साहित्य में एक प्रसिद्ध राजा है, जिसकी पुत्री सती का विवाह शिव के साथ हुआ था। पुराणों के अनुसार उसका समय भी वैवस्वत मनु से पहले है। इस अनुश्रुति से भारतीय इतिहास के प्राचीनतम युग की एक अस्पष्ट-सी झलक हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाती है, और यही इसका उपयोग है।

(२) जलप्लावन

शतपथ ब्राह्मण, महाभारत और पुराणों के अनुसार वैवस्वत मनु के समय में एक ऐसा जलप्लावन आया था, जिसके कारण प्रलय की सी दशा उत्पन्न हो गई थी। यह एक प्रकार की खण्ड-प्रलय थी, जिसके कारण सारी पृथिवी जल में डूब गई थी।

शतपथ ब्राह्मण का जलप्रलय विषयक विवरण बहुत संक्षिप्त है। उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं—प्रातः के समय 'अवनेजन' (प्रक्षालन) के लिये जैसे जल लाया जाता है, वैसे ही मनु के हाथों के प्रक्षालन के लिये जल लाया गया। जब मनु प्रक्षालन कर रहे थे, एक मछली उनके हाथों में आ गई। मछली ने मनु से कहा—आप मेरा संवर्धन करें, मैं आपको पार उतार दूँगी। मनु ने पूछा—तुम मुझे किससे पार उतारोगी? 'एक बाढ़ आयेगी, जो सब को बहा ले जायगी। मैं उसमें आपको पार उतार दूँगी।' मछली ने उत्तर दिया। मैं तुम्हारा संवर्धन कैसे करूँ? मनु ने प्रश्न किया। जब तक हम छोटी होती हैं, हमारे लिये बहुत विपत्ति रहती है। मछली ही मछली को निगल जाती है। आप मुझे एक कुम्भ में रख दें। जब मैं बड़ी हो जाऊँ, तब एक गढ़ा खोद कर उसमें मुझे रख दें। जब मैं उस गढ़े के लिए बड़ी हो जाऊँ, तब मुझे ले जाकर समुद्र में डाल देना। तब तक मैं इतनी बड़ी हो जाऊँगी कि विनाश का भय नहीं रहेगा।' वह मछली शीघ्र ही झष (एक बड़ी मछली) बन गई। झष ही सब से बड़ी मछली होती है। अब उसने मनु से कहा—'अमुक वर्ष जलप्लावन आयेगा। तब आपने एक नाव बनाकर मेरा ध्यान करना। जब बाढ़ का पानी बढ़ने लग जाए, तो आपने उस नाव पर चढ़ जाना और मैं आपको जल से पार उतार दूँगी।' मछली ने जैसा कहा था, मनु ने वैसा ही किया। जब मछली बड़ी हो गई, तो वह उसे समुद्र में छोड़ आये। मछली ने जिस वर्ष में जलप्लावन आने की बात कही थी, मनु ने उसके कथन का स्मरण किया और जब बाढ़ का पानी बढ़ने लगा, तो वह उस नौका पर चढ़ गया जिसे उसने पहले ही तैयार कर लिया था। तब वह मछली तैरती हुई मनु की नाव के पास आई, और मनु ने नाव के रस्से को मछली के सींग के साथ बांध दिया। अब वह मछली उस नाव को बड़ी तेजी के साथ उत्तर-गिरि की ओर ले गई। पर्वत की चोटी पर पहुँच कर मछली ने मनु से कहा—मैंने आपकी रक्षा कर दी है। अब इस नाव को एक वृक्ष के साथ बांध दें। पर ऐसा न हो कि बाढ़ का पानी आपको बहा कर ले जाए। जब बाढ़ उतरने लगे, तो जल के घटने के साथ-साथ आप भी धीरे-धीरे नीचे उतरें। मनु ने ऐसा ही किया। उत्तर-गिरि के जिस भाग से मनु धीरे-धीरे नीचे उतरे थे, वह 'मनोरवसर्प्पण' कहाता है। वह बाढ़ (जल-प्लावन) सब प्राणियों को बहा ले गई थी, केवल मनु ही उसमें बचे रह सके थे।[1]

महाभारत में जलप्लावन की जो कथा दी गई है, वह अधिक विस्तृत है। मनु के हाथ में एक मछली का आना और मछली के कहने पर मनु द्वारा उसका पालन एवं संवर्धन किया जाना, पहले पात्र में, फिर जलाशय में, फिर गंगा में और फिर समुद्र में उस मछली को डाल देने आदि सब बातें प्रायः वैसी ही हैं, जैसी की शतपथ ब्राह्मण की कथा में है। पर महाभारत की कथा के अनुसार मछली के कहने पर मनु ने सब प्रकार के बीजों को भी सञ्चित कर लिया था और उन्हें भी सुरक्षित रूप से नौका में रख दिया था। सप्तर्षि भी इस नौका में मनु के साथ थे। जलप्लावन आने पर

१. शतपथ ब्राह्मण १।८।१-६

मछली नौका को हिमवन्त पर्वत के सबसे ऊँचे शिखर पर ले गई, और वहाँ मनु की नौका को बाँध दिया गया। वहाँ पहुँच कर मछली ने अपना परिचय देते हुए कहा—मैं ब्रह्मा प्रजापति हूँ। मीन का रूप धारण कर इस घोर विपत्ति से मैंने तुम्हारी रक्षा की है। अब देव, असुर, मनुष्य, चराचर जगत् सब की सृष्टि मनु द्वारा की जायगी। क्योंकि मनु सब प्रकार के बीजों आदि को अपने साथ नौका पर ले गये थे और इस प्रकार वे नष्ट होने से बच रहे थे, अतः जलप्लावन का अन्त होने पर वे फिर से सब चराचर जगत् की सृष्टि करने में समर्थ हुए। मत्स्य, भागवत और अग्नि आदि पुराणों की कथाएँ भी प्रायः इसी प्रकार की हैं। सनातन पौराणिक धर्म में विष्णु के मत्स्यावतार की जो कल्पना की गई, उसका आधार सम्भवतः जलप्लावन की यह कथा ही है। मत्स्य पुराण के अनुसार मछली के कहने पर मनु ने सब प्रकार के प्राणी, चाहे वे पिण्डज, अण्डज, स्वेदज या उद्भिज थे, सब नौका पर चढ़ा लिये थे, और इस प्रकार चराचर जगत् को जलप्लावन द्वारा विनष्ट होने से बचा लिया गया था।

जलप्लावन की यह कथा कुछ भेद से प्राचीन जगत् के अन्य साहित्य में भी विद्यमान है। बाइबल में लिखा है कि ईश्वर ने पृथिवी की ओर दृष्टिपात कर यह पाया कि वह पापमय है। अतः उसने नोआ (नूह) से कहा कि मैं पृथिवी पर जलप्लावन लाता हूँ। पृथिवी पर जो कुछ भी है, सब उससे नष्ट हो जायगा। तू नौका पर चढ़ जाना, और अपने साथ अपनी स्त्री और पुत्रों को और उनकी पत्नियों को भी चढ़ा लेना। साथ ही, प्रत्येक प्रकार के प्राणी को भी नौका पर अपने साथ ले लेना। अभी सात दिन शेष हैं। उनके बाद मैं पृथिवी पर वृष्टि लाऊँगा और सब जीवित प्राणी, जिन्हे हमने बनाया है, नष्ट हो जायेंगे। सात दिन बीत जाने पर ऐसा ही हुआ, जलप्लावन के जल से सारी पृथिवी आक्रान्त हो गई। जब जलप्लावन समाप्त हो गया, तो ईश्वर के आशीर्वाद से नोआ और उसके पुत्रों द्वारा पृथिवी फिर से आबाद की गई।

मेसोपोटामिया के क्षेत्र से प्राचीन कैल्डियन सभ्यता के जो बहुत-से अवशेष उपलब्ध हुए हैं, उनमे ऐसी तख्तियां भी हैं जिन पर प्राचीन लेख कीलाक्षुर हैं। ऐसी कुछ तख्तियो पर जलप्लावन की कथा भी अंकित है। इस कथा मे भी बाढ़ से बचने के लिये नौका का प्रयोग और उसमे सब प्रकार के प्राणियों तथा बीजों आदि को बचा कर सुरक्षित रखने की बात कही गई है।

प्राचीन ग्रीस में भी जलप्लावन की कथा प्रचलित थी। इस कथा के अनुसार प्रोमिथियस का पुत्र दिउकेलियन जब राज्य कर रहा था, तो जुपिटर देवता के कोप के कारण ग्रीस में जलप्लावन आया। दिउकेलियन को इसका पहले ही ज्ञान था, अतः उसने एक नौका तैयार कर ली थी, जिसमें वह अपनी पत्नी पाइरा के साथ चढ़ गया। नौ दिनों तक बाढ़ का जल निरन्तर बढ़ता गया, जिसके कारण ग्रीस के सब प्राणी नष्ट हो गये। पर दिउकेलियन और उसकी पत्नी जिस नौका में सवार थे, वह पर्वत की चोटी पर जा लगी, जिससे वे बाढ़ के प्रकोप से बच गये और पुनः अपने देश को आबाद करने में समर्थ हुए।

प्राचीन काल के अनेक प्रदेशों एवं अनेक जातियों में जलप्लावन की जो यह कथा पायी जाती है, उसे सर्वथा कल्पित कह सकना कठिन है। सम्भवतः, यह किसी वास्तविक प्राकृतिक घटना पर आधारित है। भूगर्भशास्त्र के विद्वानों ने जो अनुसन्धान किये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि पृथिवी की भौगोलिक तथा प्राकृतिक दशाओं में बहुत परिवर्तन होते रहे हैं, और एक से अधिक बार ऐसे अवसर भी आये हैं जब कि पृथिवी का बड़ा भाग हिम से आच्छादित हो गया था। यदि हिमप्रलय एक यथार्थ तथ्य है, तो जलप्लावन भी वास्तविक घटना हो सकती है। सम्भव है, कि हिमप्रलय की स्मृति ही जलप्लावन के रूप में सुरक्षित रही हो। नौका द्वारा मनु या नोआ का बचना और अपने साथ जीव-जन्तुओं तथा वनस्पति आदि को भी बचा लेना एक आलंकारिक बात हो सकती है। जलप्लावन की जो कथा प्राचीन भारतीय अनुश्रुति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, वह भारतीय इतिहास के एक नवयुग को सूचित करती है। वैवस्वत मनु द्वारा उसी समय से एक नये मन्वन्तर का प्रारम्भ किया गया था, और तभी से भारत के प्राचीन राजवंशों और राजाओं का क्रमबद्ध वृत्तान्त पुराणों और वैदिक साहित्य द्वारा हमें ज्ञात होता है। उससे पहले के काल की कुछ झलक ही प्राप्त की जा सकती है।

(३) देवासुर संग्राम

वैदिक साहित्य में देवों और असुरों के संघर्ष के अनेक संकेत विद्यमान हैं, और पौराणिक तथा अन्य प्राचीन साहित्य में भी इसका उल्लेख है। देव और असुर कौन थे, इस प्रश्न पर सब विद्वान् एकमत नहीं हैं। पर यह सर्वथा स्पष्ट है, कि देवों और असुरों के संघर्ष का आर्य जाति की उन दो शाखाओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिन्होंने कि भारत और ईरान में अपने विविध राज्य स्थापित किये थे। आर्यों की एक शाखा का प्रसार भारत में हुआ, और एक दूसरी शाखा का ईरान में। भारतीय आर्य देव के उपासक थे, और ईरानी आर्य असुर के। आर्यों की ईरानी शाखा का प्रधान देवता अहुरमज्द या असुरमहत् था। प्राचीन भारतीय साहित्य में असुर शब्द का प्रयोग बुरे अर्थ में हुआ है, और प्राचीन ईरानी साहित्य (जेन्दवास्ता) में देव शब्द का। पर प्रारम्भ में यह बात नहीं थी। कोई समय था, जबकि भारतीय आर्य असुर शब्द का प्रयोग भी अच्छे अर्थ में या देव के पर्यायवाची रूप में किया करते थे। आर्यों के आदि-निवास स्थान के प्रश्न पर पहले विचार किया जा चुका है। शुरू में आर्य लोग चाहे सप्तसिन्धव देश में रहते रहे हों, चाहे मध्य एशिया में, चाहे उत्तरी ध्रुव में, और चाहे दक्षिण-पूर्वी यूरोप में; पर एक प्रदेश में रहते हुए उनका धर्म एक था और उनके उपास्य देव भी एक थे। पर बाद में उनकी विविध शाखाएँ विभिन्न प्रदेशों में जा कर बसने लगीं और स्थान भेद के कारण समयान्तर में उनकी भाषा तथा धर्म आदि में भी भेद विकसित होने लगे। यूरोप के विविध प्रदेशों में जाकर आबाद हुई आर्य जातियों की तुलना में भारतीय आर्य और ईरानी आर्य चिर काल तक एक साथ रहे। यही कारण है कि उनकी प्राचीन भाषाओं में अधिक समता पायी जाती है, और उनके देवी-

देवताओं में भी पर्याप्त अंश तक सादृश्य है। पर साथ ही यह भी एक तथ्य है, कि किसी प्राचीन समय में आर्य जाति की इन दोनों शाखाओं में इस अंश तक मतभेद तथा विरोध बढ़ गये थे कि उनके कारण उनमें युद्ध भी होने लगे थे। सम्भवतः ये युद्ध ही देवासुर संग्राम के नाम से प्रसिद्ध है, और इन्हीं की स्मृति ब्राह्मण ग्रन्थों में सुरक्षित है।

वैदिक साहित्य में उस युग की स्मृति सुरक्षित है, जब कि भारतीय आर्य और ईरानी आर्य एक साथ रहते थे और उनके धार्मिक मन्तव्यों तथा उपास्य देवों में कोई भेद व विरोध नहीं था। 'देव' को हम भारतीय आर्यों का प्रतिनिधि या प्रतीक समझ सकते हैं, और 'असुर' को ईरानी आर्यों का। जैसा कि हमने अभी ऊपर लिखा है, ईरानी आर्यों का प्रमुख उपास्य देवता अहुर-मज्द या असुर-महत् था, जब कि भारतीय आर्य 'असुर' को दैत्य या राक्षस के अर्थ में प्रयुक्त करने लगे थे। पर प्रारम्भ में यह दशा नहीं थी। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है, कि देव और असुर दोनों ही 'प्राजापत्य' (प्रजापति की सन्तान) हैं और देव उनमें कनिष्ठ हैं तथा असुर ज्येष्ठ हैं।[1] शतपथ के अनुसार देव और असुर परस्पर भाई-भाई थे, और उनमें प्रतिस्पर्धा रहा करती थी। ऋग्वेद में 'असुर' शब्द का प्रयोग वरुण, मित्र, द्यौः और इन्द्र सदृश देवताओं के लिये भी किया गया है, जिससे यह सूचित होता है कि प्रारम्भ में भारतीय या वैदिक आर्य भी असुर को अच्छे या देव के अर्थ में प्रयुक्त किया करते थे। ऋषि अगस्त्य ने एक मन्त्र में इन्द्र की स्तुति करते हुए उसे सत्पति और मघवान् के साथ असुर भी कहा है।[2] वरुण के लिये तो असुर शब्द बहुत बार प्रयुक्त हुआ है।[3] एक मन्त्र में द्यौः देवता के साथ भी असुर विशेषण मिलता है।[4]

पर बाद में 'असुर' का प्रयोग उन्हीं अर्थों में किया जाने लगा, जिनमें कि दैत्य, राक्षस सदृश शब्द प्रयुक्त हुआ करते थे। वेदों में कितने ही ऐसे मन्त्र विद्यमान हैं, जिनमें देवों द्वारा असुरों के वध की बात कही गयी है। देवत्व की रक्षा के लिए देव जब असुरों की हत्या के लिये प्रयत्नशील हुए, इसका उल्लेख भी एक मन्त्र में है।[5] देवों द्वारा जिन असुरों का संहार किया गया था, उनके कतिपय नेताओं के नाम भी वैदिक साहित्य में उल्लिखित हैं। एक मन्त्र में बृहस्पति से प्रार्थना की गई है कि वे प्रतप्त पाषाण से असुर वृकद्वरस् के वीरों का संहार कर दें।[6] अन्यत्र ऋजिश्वा के

---

१. 'द्वया ह प्राजापत्याः देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त।' शतपथ ब्राह्मण १४।४।१।१

२. 'त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नॄन्पाह्यसुर त्वमस्मान्।
त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः।' ऋग्वेद १।१७७।१

३. 'इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम्।' ऋग्वेद ५।८५।५

४. 'इन्द्राय हि द्यौरसुरो अनम्नतेन्द्राय मही पृथिवी वरीमभिर्द्युम्नसाता वरीमभिः' ऋग्वेद १।१३१।१

५. हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः। ऋग्वेद १०।१५७।४

६. 'बृहस्पते तपुषाश्नेव विध्य वृकद्वरसो असुरस्य वीरान्।' ऋग्वेद २।३०।४

साथ मैत्री करके इन्द्र द्वारा मायावी असुर पिप्रु के सुदृढ़ पुरों के भेदन की बात कही गई है।[1] एक मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र और विष्णु ने शम्बर के ९९ पुरों को ध्वंस किया और असुर 'वर्चिन्' के शत सहस्र वीरों को धराशायी कर दिया।[2] ऋग्वेद में 'असुरघ्न' और 'असुरहा' विशेषण के रूप में आये हैं, जिन्हें इन्द्र, अग्नि और सूर्य के लिये प्रयुक्त किया गया है।[3] ये तीनों भारतीय आर्यों के देवता थे और आर्यों की दृष्टि में ये असुरों के विरोधी थे।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह तो स्पष्ट है कि भारतीय या वैदिक आर्य प्रारम्भ में असुर शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थों में करते थे, पर बाद में वे इसे बुरे अर्थों में प्रयुक्त करने लग गये थे। साथ ही, यह भी निर्विवाद है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में देवों और असुरों के युद्धों का वर्णन है, और वैदिक संहिताओं में भी इन्द्र सदृश देवता को असुरों का वध करने वाला कहा गया है। प्रश्न यह उठता है, कि ये असुर कौन थे? शम्बर, वर्चिन् और पिप्रु सदृश जिन व्यक्तियों के लिये ऋग्वेद में असुर विशेषण का प्रयोग किया गया है, ऋग्वेद में ही उन्हें 'दास' एवं 'दस्यु' भी कहा गया है। जिस पिप्रु को एक मन्त्र में असुर कहा गया है,[4] उसी के लिये अन्यत्र दास विशेषण प्रयुक्त है।[5] इसी प्रकार वर्चिन् असुर भी है और दास भी।[6] एक मन्त्र में वर्चिन् और असुर दोनों के लिये 'दास' विशेषण का प्रयोग विद्यमान है।[7] यही बात कतिपय अन्य असुरों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, और स्वाभाविक रूप से इससे यह परिणाम निकालने की प्रवृत्ति होती है कि जिस दास या दस्यु जाति को परास्त कर भारतीय आर्यों ने इस देश में अपने राज्यों की स्थापना की थी, उसी का अन्य नाम असुर था। दास व दस्यु जातीय इन असुरों का वध करने के कारण ही इन्द्र, अग्नि तथा सूर्य को 'असुरघ्न' व 'असुरहा' कहा गया है। पर इस मत को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। दस्युओं व दासों को ऋग्वेद में 'अनास'[8] (नासिका से विरहित या

---

1. दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना।'
   ऋग्वेद १०।१३८।३
2. 'इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्।
   शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान्॥' ऋग्वेद ७।९९।५
3. ऋग्वेद ६।२२।४; ७।१३।१; १०।१७०।२
4. ऋग्वेद १०।१३८।३
5. यः सृबिन्दमनर्शनिं पिप्रुं दासमहीशुवम्। वधीदुग्रो रिणन्नपः।'
   ऋग्वेद ८।३२।२
6. 'उत दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शतावधीः। अधि पंच प्रधीँरिव।
   ऋग्वेद ४।३०।१५
7. 'दिवे दिवे सदृशीरन्यमर्धं कृष्णा असेधदप सद्मनो जाः।
   अहन्दासा वृषभो वस्नयन्तोदव्रजे वर्चिनं शम्बरं च॥ ऋग्वेद ६।४७।२१
8. ऋग्वेद ५।२९।१०

चपटी नाक वाले), 'अयज्यु'[1] (यज्ञ न करने वाले), 'अव्रत'[2] तथा 'अन्यव्रत'[3] (जिनके व्रत भिन्न हों या हों ही नहीं), 'देवपीयु'[4] (देवों से घृणा करने वाले) और 'मृध्रवाच्'[5] (जिनकी बोली समझी न जा सके) आदि कहा गया है, जिससे उनका आर्यभिन्न जाति का होना सूचित होता है। इसके विपरीत शतपथ ब्राह्मण में असुरों को देवों का बड़ा भाई कहा गया है, और जैसा कि हमने अभी ऊपर लिखा है, ऋग्वेद में भी असुर शब्द वरुण, मित्र, इन्द्र और द्यौः जैसे देवताओं के लिये प्रयुक्त है। इन तथ्यों को दृष्टि में रखकर असुरों की दास व दस्युओं से एकता प्रतिपादित करना संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि बाद में भारतीय आर्य असुर शब्द को बुरे अर्थों में और विरोध प्रकट करने के लिये प्रयुक्त करने लग गये थे, अतः शम्बर, पिप्रु, वर्चिन् आदि दस्यु या दास जातीय व्यक्तियों को भी उन्होंने असुर कह दिया—यही मत युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

आर्यों की भारतीय और ईरानी शाखाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध था। वे चिरकाल तक एक साथ रही थीं। प्रारम्भ में उनका धर्म एक था और वे एक ही देवताओं की उपासना किया करती थीं। पर समयान्तर में उनमें विरोध उत्पन्न हो गया। ऐतिहासिकों का यह मत है कि ईरानी आर्य प्रधानतया मित्र और वरुण (मित्रावरुणौ) की पूजा करने लगे, और भारतीय आर्य इन्द्र की। मित्र और वरुण को ईरानी आर्य 'असुर' कहने लगे, और इन्द्र आदि को भारतीय आर्य देव, यद्यपि प्रारम्भ में असुर और देव शब्द पर्यायवाची रूप से प्रयुक्त हुआ करते थे। इस प्रकार एक आर्य जाति की दो शाखाएँ दो विभिन्न एवं परस्पर-विरोधी धर्मों का अनुसरण करने लगीं। पर उनके धार्मिक मन्तव्यों व पूजाविधि में जहाँ अनेक भेद विकसित हो गए, वहाँ उनमें सादृश्य भी पर्याप्त रूप से विद्यमान रहा। वैदिक आर्यों के समान ईरानी आर्य भी अग्नि के पूजक थे। कुण्ड में अग्नि का आधान कर उसकी पूजा करना उनके धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग था। वर्तमान समय के पारसी लोग, जो प्राचीन ईरानी आर्यों के उत्तराधिकारी हैं और कुछ परिवर्तित रूप में उन्हीं के धर्म के अनुयायी हैं, अग्नि को पवित्र मानते हैं और उसकी पूजा करते हैं। यद्यपि भारतीय आर्यों के धार्मिक अनुष्ठानों में यज्ञाग्नि का महत्त्व अब कम हो गया है, और उसका स्थान मन्दिरों में प्रतिष्ठापित मूर्तियों की पूजा ने ले लिया है, पर पारसी लोगों के धर्म-स्थानों में अग्नि को सदा प्रज्वलित रखा जाता है। अग्नि को पवित्र मानने के कारण ही पारसी शवों का दाह नहीं करते। सूर्य या मित्र भी अग्नि का ही एक रूप है। ईरानी आर्यों के धर्म में इस उपास्य देवता का विशिष्ट स्थान था, और वे 'मिथ्' (मित्र या सूर्य) की पूजा किया करते थे। मिथ्

---

१. ऋग्वेद ७।६।३
२. ऋग्वेद १।५१।८
३. ऋग्वेद ८।७०।११
४. ऋग्वेद १२।११।२७
५. ऋग्वेद ५।२९।१०

के समान वे 'भरत' के भी पूजक थे। भरत और वरुण की एकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। ईरान में सोम लता को प्राप्त करना सुगम नहीं था, क्योंकि यह उत्तर-पश्चिमी भारत के पार्वत्य प्रदेश में ही उत्पन्न होती थी। पर ईरानी आर्य सोम को भूले नहीं थे। उनके धर्मग्रन्थ (अवेस्ता) में 'होम' के रूप में सोम की महिमा का बखान किया गया है। होम सोम को ही कहते थे, उच्चारण भेद से ईरानी आर्यों ने सोम को 'होम' कहना शुरू कर दिया था। वैदिक आर्यों और ईरानी आर्यों के धर्मों में कितनी ही अन्य समताएँ भी प्रदर्शित की जा सकती हैं। अपानपात् देवता वेदों में भी है और अवेस्ता में भी। वेदों का गन्धर्व अवेस्ता में गन्दरव के रूप में है, और वेद का कृषाणु करसानि के रूप में। विवस्वान् के पुत्र यम को वेदों में यमलोक का स्वामी कहा गया है, और अवेस्ता में विवन्हन्त का पुत्र यिम स्वर्गलोक का अधिपति है। याज्ञिक कर्मकाण्ड के साथ सम्बन्ध रखने वाले कितने ही शब्द वैदिक और प्राचीन ईरानी साहित्य में एक सदृश हैं। अवेस्ता में होता को जाओतर, अथर्वन् को अथ्रवन्, मन्त्र को मन्थ्र, यजत को यजत, यज्ञ को यस्न और आहुति का आजुति कहा गया है, जो स्पष्टतया एक ही मूल के शब्द हैं। ईरानी आर्यों के प्राचीन धर्म का जो परिचय हमें प्राप्त होता है, उसका मुख्य आधार अवेस्ता है, जो पारसियों का धर्मग्रन्थ है। पर यह ग्रन्थ उस सुधार की प्रक्रिया का परिणाम है, जिसका प्रवर्तक जरथुश्त्र नामक सुधारक था। ईरान के प्राचीन इतिहास में उसका वही स्थान है, जो भारत के इतिहास मे बुद्ध का है। यही कारण है, जो अवेस्ता द्वारा धर्म का जो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, वह अनेक अंशों में उन प्राचीन आर्यों के धर्म से भिन्न है, जो अत्यन्त प्राचीन काल में वैदिक आर्यों से पृथक् हो गए थे। पर अवेस्ता के अनुशीलन से भी इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि ईरानी आर्यों और वैदिक आर्यों के धर्म में बहुत-सी समताएँ थीं।

वैदिक और ईरानी आर्यों में वैमनस्य और वैर के प्रादुर्भाव के क्या कारण थे, इस सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक उद्भावनाएँ की हैं। एक मत यह है कि आर्य जाति के आदि-धर्म में जिन देवताओं की उपासना की जाती थी, वे प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक मात्र थे। द्यौः, वायु, अग्नि आदि प्रकृति के ही विभिन्न अंश हैं, और इन्हीं के अधिष्ठात्री देवताओं के रूप में आर्य लोगों द्वारा विविध देवताओं की कल्पना की गई थी। पर बाद में कतिपय भावरूप देवताओं को भी परिकल्पित किया गया, जिनमें वरुण प्रमुख था। ऋग्वेद में वरुण को सब (देव, असुर और मनुष्य) का राजा कहा गया है। वे 'धृतव्रत' हैं, उनके नियम सदा स्थिर रहते हैं, और वे अपने स्पशों (चरों) तथा पाशों से सबको उनका पालन करने के लिए विवश करते हैं। इन्द्र प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक रूप देवताओं में प्रधान थे, और वरुण भावरूप देवताओं में। ऋग्वेद में इन दोनों की स्तुति के बहुत-से मन्त्र विद्यमान हैं। समयान्तर में आर्यों में इस प्रश्न पर मतभेद हो गया कि देवताओं में वरुण प्रधान है या इन्द्र। भावरूप देवताओं को महत्त्व देने वाले लोग अपने को असुर का उपासक कहने लगे, क्योंकि असुर विशेषण का प्रयोग प्रधानतया वरुण के लिए ही किया जाता था, जैसा कि ऋग्वेद से सूचित

होता है। इन्द्र को महत्त्व देने वाले लोग असुर को देव का उपासक कहने लगे, यद्यपि प्रारम्भ में असुर और देव में कोई विशेष भेद नहीं समझा जाता था। देव और असुर के उपासकों में भेद व वैरभाव इतना अधिक बढ़ गया कि वे परस्पर युद्ध के लिए तत्पर हो गये और उनका एक साथ रह सकना सम्भव नहीं रहा। भारतीय आर्यों की भाषा में असुर का अर्थ दैत्य व राक्षस हो गया, और ईरानी आर्य देव शब्द को घृणित व विकृष्ट अर्थ में प्रयुक्त करने लगे। आर्य जाति के इन दो वर्गों में परस्पर विद्वेष का ही यह परिणाम हुआ कि वे एक साथ निवास नहीं कर सके, और उन्होंने दो देशों—भारत और ईरान—में जा कर अपने विविध राज्य स्थापित किये। आर्यों की इन दो शाखाओं में जो संघर्ष हुआ, उसकी स्मृति ही ब्राह्मण-ग्रन्थों में देवासुर संग्राम के रूप में सुरक्षित है। जिस रूप में शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य साहित्य में इसका वर्णन किया गया है, उसे यहाँ लिख सकना सम्भव नहीं है। इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है कि ईरानी आर्यों और भारतीय आर्यों में विरोधभाव ने ऐसा उग्र रूप धारण कर लिया था, कि युद्ध के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से उसकी परिणिति सम्भव ही नहीं रही थी।

(४) पश्चिमी एशिया में आर्य जातियों एवं राज्यों की सत्ता

सप्तसिन्धव देश, मध्य एशिया या उत्तरी ध्रुव, जहाँ कहीं भी आर्यों का आदि निवासस्थान रहा हो, वहाँ से उनकी विविध शाखाएँ पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों में भी जाकर आबाद हुईं। ईरान के दक्षिण-पश्चिम में यूफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों का मध्यवर्ती प्रदेश प्राचीन काल में सभ्यता का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। सुमेरियन इसकी प्राचीनतम सभ्यता थी, जिसकी लिपि को अभी पढ़ा नहीं जा सका है। बाद में इस क्षेत्र में कैल्डियन (काल्दी) लोगों ने अपना राज्य स्थापित किया, और फिर बैबिलोनियन (बाबुली) लोगों ने। इन बैबिलोनियन लोगों का मुख्य देवता असुर था, जिसके नाम पर उन्होंने युफ्रेटस (दजला) नदी के पश्चिमी तट पर एक नगर भी बसाया था। असुर के राजा शाल्मनेसर ने १३०० ई० पू० के लगभग प्रायः सम्पूर्ण बैबिलोनिया को जीत कर अपने अधीन कर लिया था, और इस समय से बैबिलोनियन लोगों का राज्य असीरिया कहाने लगा था। युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश (जिसे वर्तमान समय में ईराक या मैसोपोटामिया कहते हैं) की इन प्राचीन सभ्यताओं का वैदिक युग के भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस प्रदेश के प्राचीन अवशेषों में सागौन की लकड़ी का एक टुकड़ा प्राप्त हुआ है, विद्वानों के मत में जिसे भारत से ही प्राप्त किया गया था। जिन अवशेषों में यह लकड़ी मिली थी, उन्हें ३००० ईस्वी पूर्व के लगभग का माना जाता है। इस क्षेत्र की पुरानी भाषा में मलमल के लिये 'सिन्धु' शब्द था। इससे यह संकेत मिलता है, कि प्राचीन बैबिलोनियन व असीरियन साम्राज्य का भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था, और सिन्धु देश की मलमल वहाँ बड़ी मात्रा में बिकने के लिये आया करती थी, जिसके कारण वहां के निवासी मलमल के लिये सिन्धु शब्द को ही प्रयुक्त करने लग गये थे। बैबिलोनियन

व असीरियन लोगों का तोलने के लिये एक मान 'मना' था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में भी 'हिरण्यया मना' का उल्लेख है (ऋग्वेद ८।७८।२), जिसे एक तोल का द्योतक समझा जाता है। ये सब तथ्य यह प्रतिपादित करने के लिये पर्याप्त हैं, कि प्राचीन समय में भारत और बेबिलोनियन राज्य में सम्बन्ध की सत्ता थी।

पर बेबिलोनियन (असीरियन) लोगों के धार्मिक मन्तव्यों की भी वैदिक आर्यों के धर्म से समता थी। उनके प्रधान देवता 'अनु' और 'बल' थे, जिन्हें वे अस्सुर भी कहते थे। ईरानी आर्य भी असुर-महत् के उपासक थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। अस्सुर के उपासक होने के कारण ही सम्भवतः ईराक के इन निवासियों को असीरियन या अस्सुर कहा जाता था। बल या वल का ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में उल्लेख है। यह भी असुर के समान इन्द्र का विरोधी व शत्रु था, और उसे पराभूत करने के कारण इन्द्र के लिये 'वलंरुज्' विशेषण भी प्रयुक्त किया गया है (ऋग्वेद ३।४५।२) वैदिक आर्यों की दृष्टि मे बल की वही स्थिति थी, जो असुर की थी। पर असीरियन लोगें के ये दोनों प्रधान देवता थे। यदि इस दृष्टि से देखा जाए, तो असीरियन लोगों को भी ईरानी आर्यों के समान विशाल आर्य जाति की एक शाखा मानना होगा। असीरियन लोगों के अन्य देवता 'अनु' और 'दगनु' थे, जिन्हें अग्नि और दहन के साथ मिलाया गया है। वे लोग वायु देवता को 'मतु' कहते थे, जो सम्भवतः मरुत् का ही एक रूप था। सूर्य देवता के लिये वे 'दिमनिसु' शब्द प्रयुक्त करते थे, जिसे 'दिनेश' के साथ मिलाया जा सकता है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनका यह मत था, कि प्रारम्भ में केवल 'अप्सु' और 'तिअमत' की सत्ता थी। सृष्टि का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। वैदिक आर्य भी यही मानते थे कि सृष्टि से पूर्व सर्वत्र तम व्याप्त था, और फिर आपः द्वारा सृष्टि बनी। 'तिअमत' तम का और अप्सु आपः का ही रूप है। युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों के क्षेत्र की इन प्राचीन सभ्यताओं के जिन अनेक राजाओं के नाम वहाँ के भग्नावशेषों में उपलब्ध तख्तियों पर कीलांकित रूप से उत्कीर्ण मिले हैं, उनमें कतिपय नाम ऐसे भी हैं जो संस्कृत भाषा के नामों से बहुत मिलते-जुलते हैं। इन तथ्यों को दृष्टि में रख कर यह कल्पना भी की गई है कि ईरानियन लोगों के समान असीरियन लोग भी आर्य जाति की ही एक शाखा थे और अपने ईरानी बन्धुओं के समान वे भी असुर के उपासक थे।

पश्चिमी एशिया के तुर्की राज्य के अन्तर्गत बोगजकोई नामक स्थान पर उपलब्ध प्राचीन भग्नावशेषों में मित्तनी जाति के राजा मतिउज और खत्ती या हत्ती (Hittite) जाति के राजा सुब्बिलुलिम के बीच हुई एक सन्धि का सन्धिपत्र मिला है, जिसके अन्त में यह प्रार्थना की गई कि मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ इस सन्धि को स्थिर रखें। ये सब वैदिक देवता हैं, और बोगजकोई के सन्धि पत्र में इनका उल्लिखित होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि मित्तनी और खत्ती लोग वैदिक देवताओं के उपासक थे। इजिप्ट के तेल-अल-अमर्ना नामक स्थान पर अनेक ऐसे पत्र मिले हैं, जो मिट्टी की तख्तियों पर कीलांकित रूप से उत्कीर्ण हैं। इन पत्रों में पश्चिमी एशिया के राजाओं के कतिपय ऐसे नाम भी आए हैं, जो संस्कृत के प्रतीत होते हैं।

ऐसे कुछ नाम दशरत्थ, अर्तमन्य, मत्तवज, सुतर्न आदि हैं। बोगजकोई के सन्धि पत्र को १४०० ईस्वी पूर्व के लगभग का माना जाता है, और तेल-अल-अमर्ना को भी लगभग इसी काल का। ये सब प्रमाण यह प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त हैं कि ईस्वी सन् से १४०० वर्ष पूर्व के लगभग तुर्की और सीरिया के प्रदेशों में ऐसी जातियों के राज्य थे, जिन्हें आर्य परिवार का कहा जा सकता है। इन प्रदेशों में आर्यों के धर्म तथा भाषा की सत्ता थी, यह तो निर्विवाद है। पर इन प्रदेशों की जातियों का भारतीय आर्यों के साथ क्या सम्बन्ध था, इस विषय में जो अनेक मत हैं, उन सबको यहाँ उल्लिखित कर सकना सम्भव नहीं है। बोगजकोई के मित्तनी और खत्ती लोगों को ईरानी आर्यों की अन्यतम शाखा भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनके सन्धिपत्र में इन्द्र का भी उल्लेख है, जिसे प्राचीन ईरानी दैत्य सम मानते थे। सम्भवतः, मितन्नि और खत्ती ऐसी आर्य जातियाँ थीं, जो असुर और देवों के विरोध व संघर्ष से पूर्व ही पश्चिमी एशिया के इस क्षेत्र में आ बसी थीं।

पश्चिमी एशिया की एक अन्य प्राचीन जाति फिनीशियन थी, जिसकी बस्तियाँ प्रायः भूमध्य सागर के पूर्वी और दक्षिणी तट पर स्थित थीं। यह एक व्यापारी जाति थी, जिसे लेटिन भाषा में 'प्यूनि' कहा जाता था। प्यूनि को ऋग्वेद के पणि के साथ मिलाया गया है। पणियों के विषय में इस ग्रन्थ में पहले लिखा जा चुका है। यहाँ यह निर्दिष्ट कर देना आवश्यक है, कि फिनीशियन लोगों के मुख्य देवता बल और उरुण (वरुण) थे। इनका सम्बन्ध असुरों से था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। सम्भवतः, वैदिक युग के भारत के 'असुर' पणि लोगों ने ही सुदूर पश्चिम में जाकर अपनी के बस्तियाँ कायम की थीं, जो प्राचीन रोमन इतिहास में प्यूनिक कहाती हैं।

दसवाँ अध्याय

वैदिक युग का सामाजिक जीवन

(१) वर्ण व्यवस्था

वर्ण और जाति—प्राचीन भारत का समाज वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। इस देश के चिन्तकों ने मानव समाज को चार वर्णों या वर्गों में और मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं। किसी भी समाज के मनुष्यों को इन चार वर्णों में विभक्त किया जा सकता है। जो पढ़ने-पढ़ाने, धार्मिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करने, और धर्ममार्ग के अनुसरण के लिए प्रेरित करने के काम करें, उन्हें ब्राह्मण कह सकते हैं। देश की बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से रक्षा करना और समाज में शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना करना क्षत्रिय वर्ण का कार्य है। कृषि, पशु-पालन, व्यापार, व्यवसाय, उद्योग आदि द्वारा सम्पत्ति का उत्पादन जिन सर्वसाधारण लोगों द्वारा किया जाए, उन्हें वैश्य कहा जा सकता है। जो अन्य तीन वर्णों के लोगों की सेवा में रहकर अपना जीवन व्यतीत करें, वे शूद्र हैं। ये चार ऐसे वर्ण हैं, जो किसी भी समाज में हो सकते हैं। इन्हीं को दृष्टि में रखकर भारत के प्राचीन विचारकों ने यह प्रतिपादित किया था, कि सब कोई को अपने-अपने वर्ण-धर्म का पालन करना चाहिए और राज्य-संस्था का भी यह कर्तव्य है कि वह सबको अपने-अपने स्वधर्म में स्थिर रखे। इसी में प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज का हित एवं कल्याण है।

पर वर्ण और जाति पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। वर्ण और जाति में भेद है। वर्ण संख्या में चार हैं, पर जातियों की संख्या सैकड़ों में है। कितनी ही जातियाँ ऐसी हैं जिन्हें किस वर्ण के अन्तर्गत किया जाए यह सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कायस्थ जाति न ब्राह्मण वर्ग में सम्मिलित की जा सकती है, और न क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र वर्गों में। जाट जाति के लोगों का प्रधान कार्य कृषि है। स्मृतियों और नीति-ग्रन्थों के अनुसार कृषि कार्य वैश्यों का है। पर जाट कभी अपने को वैश्य कहना स्वीकार नहीं करेंगे। खत्री, अरोड़ा, महाजन सदृश अनेक जातियों के लोगों का मुख्य कार्य व्यापार है। पर वे अपने को क्षत्रिय वर्ग का समझते हैं। सैनी, कोरी, मुराई आदि जातियों के लोगों के धन्धों का सम्बन्ध प्रधानतया खेती से है, पर वे वैश्य नहीं माने जाते। जुलाहों, बढ़इयों, दरजियों आदि की पृथक् जातियाँ हैं। पर इन्हें चातुर्वर्ण्य में किस वर्ण के अन्तर्गत लिया जाए, यह निर्विवाद नहीं है। जिन्हें आजकल 'हरिजन' जातियाँ कहा जाने लगा है, उनके पूर्वज शूद्र वर्ण के अन्तर्गत थे, यह भी सुनिश्चित

रूप से नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता यह है, कि जाति और वर्ण न केवल एक नहीं हैं, अपितु उनमें कोई स्पष्ट सम्बन्ध भी नहीं है। ब्राह्मण माने जाने वाले लोगों में भी सगे (त्यागी), सारस्वत तथा भूमिहार सदृश ऐसी जातियाँ हैं, जिनके कार्यों का सम्बन्ध खेती व व्यापार से है, पौरोहित्य उनका कार्य नहीं है। वस्तुतः, भारत में जातियों का विकास वर्ण विभाग से सर्वथा स्वतन्त्र रूप में हुआ है। प्राचीन आर्यों में जो बहुत-से 'जन' (कबीले या ट्राइब) थे, वे जब किसी एक प्रदेश पर स्थायी रूप से बस गए, तो उन्होंने अपने पृथक् जनपद (राष्ट्र या राज्य) बनाए और कालान्तर में ये ही जन पृथक् जातियों के रूप में परिवर्तित हो गए। खत्री, अरोड़ा, अग्रवाल, रोहतगी, कोरी, सैनी आदि जातियों का विकास इसी ढंग से हुआ। प्राचीन भारत के सर्वसाधारण लोगों में जो जुलाहे, बढ़ई, लुहार, सुनार, धोबी, नाई आदि के धन्धे करते थे, उन्होंने अपने को श्रेणियों (गिल्ड) में संगठित किया हुआ था। अपने धन्धों तथा सामाजिक आचार-विचार के सम्बन्ध में वे स्वयं नियमों का निर्माण करते थे। उनके संगठन बहुत सुदृढ़ होते थे, और किसी व्यावसायिक श्रेणी के किसी सदस्य के लिए अपनी श्रेणी के नियमों का अतिक्रमण कर सकना सम्भव नहीं होता था। कालान्तर में इन व्यावसायिक श्रेणियों ने पृथक् जातियों का रूप प्राप्त कर लिया, जिससे बढ़ई, जुलाहा, लुहार सदृश जातियों का निर्माण हुआ। इन जातियों को चातुर्वर्ण्य के किस वर्ण में सम्मिलित किया जाए, इसका कभी निर्धारण करने का प्रयत्न नहीं किया गया। समय-समय पर भारत पर अनेक विदेशी जातियाँ आक्रमण करती रहीं, भारत के धर्म तथा संस्कृति को अपना कर जो भारतीय समाज का अंग बन गई। पर इन्हें भी किस वर्ण में सम्मिलित किया जाए, यह सुस्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं किया जा सका, यद्यपि कतिपय स्मृतिकारों ने इन्हें संकर जातियों के रूप में प्रतिपादित करने का अवश्य प्रयत्न किया।

वर्ण और जाति के इस भेद को अपने सम्मुख रखना बहुत आवश्यक है। इसके बिना प्राचीन भारतीय समाज के स्वरूप को समझ सकना सम्भव नहीं है। भारतीय इतिहास के अत्यन्त प्राचीन काल में जब आर्य लोग इस देश में अपने विविध जनपद स्थापित करने में तत्पर थे, तब यह क्रियात्मक तथा सम्भव था कि कर्म के आधार पर या बाद में कर्म के वंशक्रमानुगत हो जाने पर जन्म के आधार पर जनपद के विविध निवासियों को चार वर्णों में विभक्त किया जा सके। पर जब जनपद महाजनपदों के रूप में विकसित होने लगे और कतिपय प्रतापी राजाओं ने जनपदों व महाजनपदों को जीतकर अपने विशाल साम्राज्य बना लिए और उनके निवासियों ने काम-धन्धों के आधार पर अपने को श्रेणियों में संगठित करना प्रारम्भ कर दिया, तो समाज को चार वर्णों में विभक्त कर सकना सम्भव नहीं रह गया। उस समय में वह जाति भेद प्रकाश में आने लगा, जो आज तक भी भारतीय समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

(२) वैदिक तथा उत्तर-वैदिक काल में वर्ण भेद

ऋग्वेद के समय में भारतीय आर्य चार वर्णों में विभक्त नहीं हुए थे। यही कारण है कि पुरुष सूक्त के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

शूद्र—चारों वर्णों का उल्लेख नहीं मिलता। केवल पुरुष सूक्त में समाज के स्वरूप को एक शरीर के समान प्रतिपादित करते हुए चारों वर्णों का उल्लेख किया गया है। वेद के अनुसार ब्राह्मण समाज के मुख हैं, राजन्य (क्षत्रिय) भुजाएँ हैं, वैश्य जंघाएँ व पेट हैं, और शूद्र पैर हैं[1]। पुरुष सूक्त को प्रायः सभी आधुनिक विद्वान् बाद के समय का मानते हैं। ऋग्वेद में अन्यत्र ब्राह्मणों[2] और क्षत्रियों[3] का उल्लेख अवश्य हुआ है, पर वैश्य और शूद्र शब्द केवल पुरुष सूक्त में ही आए हैं। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि इस प्राचीन वैदिक काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वसाधारण जनता या विशः (ऋग्वेद में विशः शब्द अनेक स्थलों पर आया है) से पृथक् होने लग गए थे—यद्यपि अभी चातुर्वर्ण्य का पूर्ण रूप से विकास नहीं हुआ था। ऋग्वेद के अनुशीलन से तत्कालीन समाज का जो स्वरूप उपस्थित होता है, उसे संक्षेप के साथ इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

पंच जन—वैदिक युग के भारतीय आर्य जनों (कबीला या ट्राइब) में विभक्त थे। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'पंचजनाः'[4] और 'पंचकृष्टयः'[5] का उल्लेख आता है, जो सम्भवतः उस युग के आर्यों की पाँच प्रमुख जातियों (कबीलों) को सूचित करते हैं। ये पंचजन अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश और पुरु थे। पर इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, सृंजय आदि अन्य भी अनेक जनों का उल्लेख वेदों में आया है, जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि ज्यों-ज्यों आर्य लोग भारत में फैलते गए, उनमें विविध जनों का विकास होता गया। आर्य जाति के प्रत्येक जन में सब व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति एक समान थी, सबको एक ही 'विशः' (जनता) का अंग माना जाता था।

आर्य और दास—आर्यों के भारत में प्रवेश से पूर्व यहाँ जिन लोगों का निवास था, वेदों में उन्हें 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है। इनकी अनेक समृद्ध बस्तियाँ भारत में विद्यमान थीं। आर्यों ने इन्हें जीतकर अपने अधीन किया और ये आर्यभिन्न लोग आर्य-जनपदों में आर्य-राजाओं की अधीनता में रहने लगे। यह स्वाभाविक था कि इन दासों व दस्युओं की सामाजिक स्थिति आर्यों की अपेक्षा हीन रहे। आर्य लोग इनसे घृणा करते थे, इन्हें अपने से हीन समझते थे, और इन्हें अपने समान स्थिति देने को उद्यत नहीं थे। इसी दशा का यह परिणाम हुआ, कि आर्य-जनपदों में निवास करने वाली जनता दो भागों में विभक्त हो गई—(१) आर्य, और (२) दास। दास-जाति की हीन स्थिति के कारण इस शब्द का अभिप्राय ही संस्कृत भाषा में गुलाम हो

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥ ऋग्वेद १०।९०।१२

२. 'संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणो व्रतचारिणः।' ऋग्वेद ६।१०३।१
तथा ऋग्वेद ७।१०३।१

३. 'धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः।'
ऋग्वेद १०।६६।८

४. 'विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।' ऋग्वेद १।८९।१०

५. 'अस्माकं द्युम्नमधि पंचकृष्टिषूच्चा स्वर्ण शुशुचीत दुष्टरम्।' ऋग्वेद २।२।१०

गया। दास जाति के ये लोग शिल्प में अत्यन्त चतुर थे। ये अच्छे विशाल घरों का निर्माण करते थे, शहरों में रहते थे, और अनेक प्रकार के व्यवसायों में दक्ष थे।[1] आर्यों द्वारा विजित हो जाने के बाद भी शिल्प और व्यवसाय में इनकी निपुणता नष्ट नहीं हो गई। ये अपने इन कार्यों में तत्पर रहे। विजेता आर्य सैनिक थे। वे याज्ञिक अनुष्ठानों को गौरव की बात समझते थे, और भूमि के स्वामी बनकर खेती, पशुपालन आदि द्वारा जीवन का निर्वाह करते थे। विविध प्रकार के शिल्प दास-जाति के लोगों के हाथों में ही रहे। इसका परिणाम यह हुआ, कि भारत में प्राचीन काल से ही शिल्पियों को कुछ हीन समझने की प्रवृत्ति रही। आर्यों और दासों में परस्पर सामाजिक सम्बन्ध का सर्वथा अभाव हो, यह बात नहीं थी। प्राच्य भारत में जहाँ आर्यों की अपेक्षा आर्यभिन्न जातियों के लोग अधिक संख्या में थे, उनमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध होता रहता था। उन प्रदेशों में ऐसे लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी, जो शुद्ध आर्य या दास न होकर वर्णसंकर थे। ऐसे वर्णसंकर लोगों को ही सम्भवतः 'व्रात्य' कहा जाता था। अथर्ववेद में व्रात्यों का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है।[2] बाद में व्रात्य-स्तोम-यज्ञ का विधान कर इन व्रात्यों को आर्य जाति में सम्मिलित करने की भी व्यवस्था की गई।[3] पर इसमें सन्देह नहीं, कि वैदिक युग में आर्यों और दासों का भेद बहुत स्पष्ट था, और उस काल के आर्य-जनपदों में ये दो वर्ण ही स्पष्ट रूप से विद्यमान थे।

वर्ण-व्यवस्था—आर्य विशः के सब व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति एक समान थी। पर धीरे-धीरे उसमें भी भेद प्रादुर्भूत होने लगा। दास-जातियों के साथ निरन्तर युद्ध में व्यापृत रहने के कारण सर्वसाधारण आर्य जनता में कतिपय ऐसे वीर सैनिकों (रथी, महारथी आदि) की सत्ता आवश्यक हो गई, जो युद्ध-कला में विशेष निपुणता रखते हों। इनका कार्य ही यह समझा जाता था कि ये शत्रुओं से जनता की रक्षा करें। क्षत (हानि) से त्राण करने वाले होने के कारण इन्हें 'क्षत्रिय' कहा जाने लगा। यद्यपि ये क्षत्रिय आर्य विशः के ही अंग थे, तथापि इन्हें विशः के सर्वसाधारण लोगों (वैश्यों) से अधिक सम्मानित व ऊँचा समझा जाता था। क्षत्रिय सैनिकों के विशिष्ट कुल 'राजन्य' कहाते थे। सम्भवतः, ये राजन्य ही वे 'राजकृतः' थे, जो अपने में से एक को राजा के

---

१. ऋग्वेद ३।२०।८, ६।२०।१०

२. अथर्ववेद १५।२।१३, ११; १५।१०; २५।११; १५।१२; १५।१३ १५।१६; १५।१७; १५।१८
अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में व्रात्य के साथ 'विद्वान्' विशेषण का प्रयोग किया गया है, और विद्वान् व्रात्य को एक एवं अधिक रात्रियों तक अपने घर पर अतिथि बनाने से जो पुण्य प्राप्त होते हैं, उनका बड़े विस्तार रूप से वर्णन किया गया है (अथर्ववेद १५।१३)। इस से सूचित होता है, कि व्रात्य जातियों के लोगों की स्थिति भी समाज में प्रतिष्ठित थी।

३. कात्यायन श्रौत सूत्र २२।४; ताण्ड्य ब्राह्मण १७।१-४

पद के लिए वरण करते थे। जिस प्रकार क्षत्रियों की सर्वसाधारण आर्य विशः में एक विशिष्ट स्थिति थी, वैसे ही उन चतुर व्यक्तियों की भी थी, जो याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष रूप से दक्ष थे। जब आर्य लोग भारत में स्थिर रूप से बस गए, तो उनके विधि-विधानों व अनुष्ठानों में भी बहुत वृद्धि हुई। प्राचीन समय का सरल धर्म निरन्तर अधिक-अधिक जटिल होता गया। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि कुछ लोग जटिल याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष निपुणता प्राप्त करें, और याज्ञिकों की इस श्रेणी को सर्वसाधारण आर्य-विशः द्वारा क्षत्रियों के समान ही विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाए। इस प्रकार वैदिक युग में उस चातुर्वर्ण्य का विकास प्रारम्भ हो गया था, जो आगे चलकर भारत में बहुत अधिक विकसित हुआ, और जो बाद के हिन्दू व भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता बन गया। पर वैदिक युग मे यह भावना होने पर भी कि ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वसाधारण विशः (वैश्य जनता) से उत्कृष्ट व भिन्न हैं, जातिभेद या वर्ग भेद का अभाव था। कोई व्यक्ति ब्राह्मण या क्षत्रिय है, इसका आधार उसकी योग्यता या अपने कार्य में निपुणता ही थी। कोई भी व्यक्ति अपनी निपुणता, तप व विद्वत्ता के कारण ब्राह्मण पद को प्राप्त कर सकता था। इसी प्रकार आर्य जन का कोई भी मनुष्य अपनी वीरता के कारण क्षत्रिय व राजन्य बन सकता था। वैदिक ऋषियों ने समाज की कल्पना एक मानव शरीर के समान की थी, जिसके शीर्ष-स्थानीय ब्राह्मण थे, बाहुरूप क्षत्रिय थे, पेट व जंघाओं के सदृश स्थिति वैश्यों की थी, और शूद्र पैरों के समान थे। सम्भवतः, आर्य-भिन्न दास लोग ही शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे।

यद्यपि आर्य लोग दास जातियों के व्यक्तियों को अपनी तुलना मे हीन समझते थे, पर उन्हें अस्पृश्य नहीं माना जाता था। कतिपय दास परिवार अच्छे समृद्ध भी थे, और आर्य ब्राह्मण उनसे दान दक्षिणा ग्रहण करने में भी संकोच नहीं करते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र मे बल्बूथ नामक दास द्वारा एक ब्राह्मण को १०० गौवें दान में दिए जाने का उल्लेख है।[1] कतिपय मन्त्रों मे दासों के हित-सुख के लिए भी प्रार्थना की गई है।

साथ ही, यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के लोगों की स्थिति का आधार जन्म को नही माना जाता था। याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा सैनिक कार्य में विशिष्टता के कारण ही कतिपय लोगों को ब्राह्मण तथा क्षत्रिय समझा जाता था, और उनकी स्थिति अन्य आर्य-विशः की तुलना में ऊँची मानी जाती थी। सम्पूर्ण आर्य विशः एक है, यह भावना ऋग्वेद के काल में भली-भाँति विद्यमान थी, और चातुर्वर्ण्य का उस रूप में अभी विकास नहीं हुआ था जैसा कि बाद के काल में देखा जाता है।

उत्तर-वैदिक युग में चातुर्वर्ण्य का विकास—यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के अनेक

---

१. 'शतं दासे बल्बूथे विप्रस्तरुक्ष आ ददे।
ते ते वायविमे जना मदन्तीन्द्रगोपा मदन्ति देवगोपाः ॥' ऋग्वेद ८।४६।३२

मन्त्रों में चारों वर्णों का उल्लेख है।[1] इससे सूचित होता है कि इन वेदों के समय में वर्ण-भेद भली-भांति विकसित हो चुका था। याज्ञिक कर्मकाण्ड का जो जटिल रूप इस काल में विकसित हो गया था, उसमें यह स्वाभाविक था कि ऋत्विक्, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि के रूप में यज्ञ की विविध प्रक्रियाओं के ऐसे विशेषज्ञ होने लगें, जिनकी स्थिति सामान्य आर्य जनता से अधिक ऊँची हो। अरण्यों व आश्रमों में निवास करने वाले ब्रह्मवादियों और तत्त्वचिन्तकों को भी ब्राह्मणों के इसी वर्ग में गिना जाने लगा, और इस प्रकार याज्ञिकों तथा मुनियों के एक नये वर्ग का प्रादुर्भाव हो गया। विविध आर्य जनों (कबीलों) ने जब सप्तसिन्धव देश से आगे बढ़कर पूर्वी और दक्षिणी भारत में फैलना शुरू किया, तो वहाँ के मूल निवासियों से उन्हें युद्ध करने पड़े। इस दशा में जो रथेष्ठ (रथी) और राजन्य युद्ध में विशेष योग्यता प्रदर्शित करते थे और जिनके पराक्रम के कारण ही आर्यों के लिए नये-नये प्रदेशों को अधिगत कर सकना सम्भव था, उन द्वारा भी एक नये वर्ग का विकास हुआ, जिसे क्षत्रिय कहा जाता था। इस वर्ग के व्यक्तियों की स्थिति भी सर्वसाधारण आर्य 'विश:' की तुलना में अधिक ऊँची थी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त जो सर्व-साधारण आर्य जनता थी, उसमें सब प्रकार के शिल्पी, वणिक्, कृषक, पशुपालक आदि सम्मिलित थे, और उसे 'विश:' या 'वैश्य' कहा जाता था। समाज मे जो सबसे निम्न वर्ग था, और जो आर्य गृहस्थों की सेवा मे दास, कर्मकर आदि के रूप मे कार्य करता था, उसे शूद्र कहते थे। तीनों उच्च वर्णों के बालक अपने-अपने कुलों के लिये उपयुक्त विद्या ग्रहण किया करते थे, और यज्ञोपवीत धारण कर 'द्विज' बनने का अवसर प्राप्त करते थे। विद्या द्वारा मनुष्य दूसरा जन्म प्राप्त करता है, यह विचार उस समय मे भली-भाँति विकसित हो चुका था। यज्ञोपवीत को द्विजत्व का चिह्न माना जाता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्राह्मण के लिए सूत के, क्षत्रिय के लिए सन के और वैश्य के लिए ऊन के यज्ञोपवीत का विधान किया गया है, और साथ ही यह भी लिखा गया है कि ब्राह्मण का वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य का शीत ऋतु मे उपनयन होना चाहिए। इससे विदित होता है, कि ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना के समय में वर्णभेद ने अच्छा विकसित रूप प्राप्त कर लिया था।

पर अभी वर्णभेद ने न अधिक जटिल रूप ही प्राप्त किया था, और न उसका आधार पूर्णतया जन्म को ही माना जाता था। अनुश्रुति के अनुसार विश्वामित्र का जन्म एक क्षत्रिय कुल में हुआ था। पर ब्राह्मण वशिष्ठ के स्थान पर राजा सुदास ने उन्हें अपना पुरोहित बनाया था। अनेक ऐसे क्षत्रिय राजा थे, जो अध्यात्म तथा दार्शनिक चिन्तन के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। ब्राह्मण लोग भी उनके पास जाकर इन विषयों की शिक्षा ग्रहण किया करते थे। विदेह के राजा जनक,[2] प्रवाहण जाबालि,[3] केकय देश के राजा अश्वपति[4] और काशी के राजा अजातशत्रु[5] की कथाएँ उपनिषदों

---

१. 'ब्राह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्।' यजुर्वेद ३०।५

२. शतपथ ब्राह्मण १४।६।१ ३. छान्दोग्य उपनिषद् ५।३

४. छान्दोग्य उपनिषद् ५।२ ५. बृहदारण्यक उपनिषद् २।१

में विद्यमान हैं, जिनमें इनके ज्ञान और विद्वत्ता का उल्लेख किया गया है। श्वेतकेतु के पिता ब्राह्मण उद्दालक पांचाल के क्षत्रिय राजा प्रवाहण जाबालि के पास ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से गये थे। इसी प्रकार जो अनेक ब्राह्मण कुमार राजा अश्वपति आदि के पास विद्या ग्रहण करने के लिए गये थे, उनकी कथाएँ भी प्राचीन साहित्य में दी गई हैं। ब्राह्मण गुरु ऐसे बालकों को भी शिक्षा देने में संकोच नहीं करते थे, जिनके कुल, गोत्र आदि का कुछ भी पता न हो। छान्दोग्य उपनिषद् में कथा आती है, कि सत्यकाम जाबाल जब आचार्य गौतम के पास विद्याध्ययन के लिए गया, तो आचार्य ने उसके पिता के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इस पर सत्यकाम ने उत्तर दिया कि उसे न अपने पिता का नाम ज्ञात था और न अपने गोत्र का ही पता था, क्योंकि उसकी माता परिचारिका के रूप में अनेक घरों में कार्य करती थी और तभी उसका जन्म हो गया था।[1] सत्यकाम जाबाल के कुल गोत्र का पता न होने पर भी गौतम ने उसे विद्याभ्यास कराना स्वीकार कर लिया और विधिवत् यज्ञोपवीत संस्कार कराके उसे अपना शिष्य बना लिया। ऐतरेय ब्राह्मण का कर्ता महिदास किसी अज्ञात आचार्य की पत्नी इतरा (शूद्र दासी) का पुत्र था। इसी कारण वह 'ऐतरेय' (इतरा का पुत्र) नाम से प्रसिद्ध हुआ। पर अपनी योग्यता तथा विद्वत्ता के कारण वह समाज में अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त कर सकने में समर्थ हुआ, और ऐतरेय ब्राह्मण की उसने रचना की। ऐतरेय ब्राह्मण में कथा आती है कि एक बार ऋषि सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ कर रहे थे, उस समय ऐलूप कवष नाम का एक व्यक्ति उनके बीच में आ बैठा। उसे देखकर ऋषियों ने कहा—यह दासी का पुत्र अब्राह्मण है, हमारे बीच में कैसे बैठ सकता है। पर परिचय होने पर ऋषियों ने बाद में कहा—यह तो परम विद्वान् है, देवता भी इसे जानते हैं।[2] यह कवष ऐलूष ऋग्वेद के दसवें मण्डल के अनेक सूक्तों की ऋषि भी है (३१-३५)। इसी प्रकार ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अनेक सूक्तों (११६-१२६) का ऋषि कक्षीवान् भी औशिक नाम की शूद्रा का पुत्र था। एक अन्य प्राचीन कथा के अनुसार राजा शान्तनु के भाई देवापि ने याज्ञिक अनुष्ठान में दक्षता प्राप्त करके ब्राह्मण-पद प्राप्त कर लिया था और राजन्य शान्तनु के यज्ञ करवाये थे।[3] इस युग में विविध वर्णों में विवाह भी सम्भव था। महर्षि च्यवन ने राजन्य शर्याति की कन्या के साथ विवाह किया था।[4] च्यवन ब्राह्मण थे। इसी प्रकार के कितने ही उदाहरण प्राचीन अनुश्रुति में विद्यमान हैं। इससे स्पष्ट है कि वर्णभेद ने अभी ऐसा रूप प्राप्त नहीं किया था कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय कुलों में उत्पन्न हुए बिना आर्य 'विशः' का कोई व्यक्ति इन वर्णों में सम्मिलित न हो सके।

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् ४।१

२. ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवषमैलूषं सोमादनयन् दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति······ते वा ऋषयोऽब्रुवन् विदुर्वा इमं देवाः। ऐतरेय ब्राह्मण २।३।१

३. ऋग्वेद १०।९८।७

४. शतपथ ब्राह्मण ४।१।५।१

सूत्र ग्रन्थों के काल में वर्णभेद—ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् सूत्रग्रन्थों की रचना हुई, जो तीन प्रकार के हैं—श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्मसूत्र। इनके अध्ययन से सूचित होता है कि इनकी रचना के काल में वर्णभेद का और अधिक विकास हुआ। अब ब्राह्मणों को अन्य सब की तुलना में अधिक श्रेष्ठ माना जाने लगा। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार राजा अन्य सबसे तो श्रेष्ठ होता है, पर ब्राह्मणों से नहीं। ब्राह्मणों का सत्कार करना राजा का कर्तव्य है। यदि कोई ब्राह्मण आ रहा हो, तो राजा को उसके लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए।[1] धर्मसूत्रों में ब्राह्मण को अवध्य, अदण्ड्य, अबहिष्कार्य और अबन्धन कहा गया है, और ब्रह्म-हत्या को घोर पाप प्रतिपादित किया गया है। यह भी व्यवस्था की गई है कि ब्राह्मण से कोई कर न लिया जाए। अन्य सबसे तो षड्भाग राजकीय कर के रूप में लिया जाने का विधान है, पर ब्राह्मण से नहीं, क्योंकि वह वेदपाठ करता है और विपत्तियों का निवारण करता है। इस युग में ब्राह्मण वर्ण का आधार जन्म से माना जाने लगा था। इसीलिए विशेष अवस्थाओं में ब्राह्मणों को यह अनुमति थी कि वे अन्य वर्णों के कार्य भी कर सकें। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार संकट की दशा में ब्राह्मण के लिए शस्त्र धारण करना समुचित माना गया है। केवल क्षत्रियों के कर्म ही नहीं, अपितु वैश्यों के कर्म भी वे सम्पादित कर सकते थे। ब्राह्मणों के लिए क्षत्रियों तथा वैश्यों के कर्म कर सकने की अनुमति उसी अवस्था में सार्थक समझी जा सकती है, जब कि ब्राह्मण वर्ण का आधार जन्म हो।

समाज में क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों से नीचे था। बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से जनता की रक्षा करना, शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना और देश का शासन करना क्षत्रियों के कार्य थे। पर इनके लिए ब्राह्मण वर्ग के सहयोग की आवश्यकता स्वीकार की जाती थी। ब्रह्म शक्ति और क्षत्र शक्ति एक-दूसरे की पूरक हैं, यह विचार वैदिक युग में भी विद्यमान था।[2] सूत्र ग्रन्थों में भी अनेक स्थानों पर राजा और क्षत्रिय वर्ग के लिए ब्राह्मणों के सहयोग की बात कही गई है। वैश्य वर्ग के लोगों का कार्य कृषि, पशुपालन, वाणिज्य और महाजनी माना जाता था, पर संकट के समय शस्त्र-धारण की भी उन्हें अनुमति थी। समाज में शूद्रों की स्थिति अत्यन्त हीन थी। उनका एक मात्र कार्य तीनों उच्च वर्णों के लोगों की सेवा करना ही समझा जाता था। उनकी स्थिति दासों के सदृश थी। इसीलिए गौतम धर्मसूत्र में कहा है कि उच्च वर्णों के लोगों के जो जूते, वस्त्र आदि जीर्ण शीर्ण हो जाएँ, उन्हें शूद्रों के प्रयोग के लिए दे दिया जाए और उनके भोजन-पात्रों में जो जूठन शेष बच जाए शूद्र उस द्वारा अपनी क्षुधा को शान्त करें। शूद्रों को इतना हीन माना जाने लगा था कि उनकी हत्या कर देने पर उसी दण्ड की व्यवस्था की गई थी, जो कि कौवे, मेंढक, कुत्ते आदि की हत्या के लिए विहित था। शूद्र को न वेद पढ़ने का अधिकार था और न यज्ञ करने का। गौतम

१. वशिष्ठ सूत्र १३।५६-६०
२. 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥' यजुर्वेद २०।२५

धर्मसूत्र के अनुसार यदि कोई शूद्र वेद-मन्त्र सुन ले, तो उसके कानों में सीसे या लाख को पिघला कर डाल देना चाहिए; और यदि कोई शूद्र वेदमन्त्रों का उच्चारण कर ले, तो उसकी जीभ काट देनी चाहिए। उसके लिए उपनयन संस्कार वर्जित था, अतः उसे विद्याध्ययन का अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकता था। किसी भी प्रकार की विद्या व शिल्प की शिक्षा प्राप्त न कर सकने के कारण शूद्रों के लिए यही एकमात्र मार्ग रह जाता था कि वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य परिवारों में सेवा द्वारा अपना जीवन-निर्वाह किया करें।

समाज में सब वर्णों के लोगों की न केवल स्थिति एकसदृश नहीं थी, अपितु उनके लिए कानून भी पृथक्-पृथक् थे। एक ही अपराध करने पर विविध वर्णों के व्यक्तियों के लिए विभिन्न दण्डों की व्यवस्था थी। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण का अपमान करने पर क्षत्रिय को १०० कार्षापण जुरमाना करने का विधान था। पर यदि ब्राह्मण क्षत्रिय का अपमान करे, तो उस पर केवल ५० कार्षापण जुरमाना किया जाता था। ब्राह्मण द्वारा वैश्य को अपमानित करने पर केवल २५ कार्षापण दण्ड की व्यवस्था थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं और उनमें पहले के वर्ण क्रमशः जन्म के आधार पर पिछले वर्णों की तुलना में अधिक-अधिक श्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है, कि सूत्र ग्रन्थों के रचना काल में भारत में वर्ण-भेद भली-भाँति विकसित हो चुका था, और वर्णों का आधार जन्म को माना जाने लगा था। पर इस युग में भी यह असम्भव नहीं था कि निचले वर्ण का कोई व्यक्ति धर्माचरण द्वारा अपने से उच्च वर्ण को प्राप्त कर सके। इसीलिए आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है, कि "धर्माचरण द्वारा निकृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से उच्च वर्ण को प्राप्त कर सकता है, और अधर्म का आचरण करने से उत्कृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से निचले वर्ण का हो जाता है।"

(२) आश्रम व्यवस्था

चार आश्रम—प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में चार वर्णों के समान चार आश्रमों का भी बहुत महत्त्व था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम माने जाते थे। इन आश्रमों की कल्पना का आधार यह विचार था, कि प्रत्येक मनुष्य चार ऋण लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य देवताओं, ऋषियों, पितरों और अन्य मनुष्यों के प्रति ऋणी होता है। सूर्य, वरुण, अग्नि आदि देवताओं का मनुष्य ऋणी होता है, क्योंकि इन्हीं की कृपा से वह प्रकाश, जल, उष्णता आदि प्राप्त करता है। इनके बिना वह अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। अतः मनुष्य का कर्तव्य है, कि वह देवताओं की पूजा करे, यज्ञ आदि द्वारा उनके ऋण को अदा करे। अपने साथ के अन्य मनुष्यों के ऋण को अदा करने के लिए अतिथि-यज्ञ का विधान था। ऋषियों के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे चुकाने का यही उपाय था, कि मनुष्य उस ज्ञान को कायम रखे व उसमें वृद्धि करे, जो उसे पूर्वकाल के ऋषियों की कृपा से

प्राप्त हुआ था। इसके लिए मनुष्य को ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहकर ज्ञान उपार्जन करना चाहिये, और बाद में वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश कर अपने ज्ञान को ब्रह्मचारियों व अन्तेवासियों को प्रदान करना चाहिए। माता-पिता (पितर) के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके ही अदा किया जा सकता है। गृहस्थ-धर्म से सन्तानोत्पत्ति करके अपने पितरों के वंश को जारी रखना व वंशतन्तु का उच्छेद न होने देना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य माना जाता था। संन्यास-आश्रम में प्रवेश करके मनुष्य अपने साथी मनुष्यों का उपकार करने में ही अपने सारे समय को व्यतीत करता था, और इस प्रकार वह मनुष्य-ऋण को अदा करता था। पर हर कोई मनुष्य संन्यासी नहीं हो सकता था। जो व्यक्ति विशेषरूप से ज्ञानवान् हो, सब प्राणियों में आत्मभावना रखने की सामर्थ्य जिसमें हो, वही संन्यासी बनकर भैक्षचर्या (भिक्षा-वृत्ति) द्वारा निर्वाह करने का अधिकारी था। संन्यासी किसी एक स्थान पर स्थियी रूप से निवास नहीं करता था। उसका कर्तव्य था, कि वह सर्वत्र भ्रमण करता हुआ लोगों का उपकार करे। इसलिये उसे 'परिव्राजक' भी कहते थे। वानप्रस्थ लोग शहर या ग्राम से बाहर आश्रम बनाकर रहते थे, और वहाँ ब्रह्मचारियों को विद्यादान करते थे। ब्रह्मचारी अपने घर से अलग होकर वानप्रस्थी गुरुओं के आश्रमों में निवास करते थे, और गुरु-सेवा करते हुए ज्ञान का उपार्जन करते थे। गृहस्थाश्रम को ऊँची दृष्टि से देखा जाता था। वशिष्ठ सूत्र में लिखा है, कि जिस प्रकार सब बड़ी और छोटी नदियाँ समुद्र में जाकर विश्राम पाती हैं, उसी प्रकार सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ पर आश्रित रहते हैं। जैसे बच्चे अपनी माता की रक्षा में ही रक्षित रहते हैं, वैसे ही सब भिक्षुक व संन्यासी गृहस्थों की ही रक्षा में रहते हैं।

प्रत्येक आर्य से यह आशा की जाती थी, कि वह अपना सारा जीवन सांसारिक झंझट में ही न बिता दे, अपितु ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी होकर अपना जीवन बिताए। मानव-जीवन का अन्तिम ध्येय मोक्ष की प्राप्ति को माना जाता था, पर सांसारिक सुख भी हेय नहीं समझे जाते थे। योगशास्त्र में धर्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।" जिस द्वारा सांसारिक अभ्युदय और मोक्ष की सिद्धि हो, वही धर्म है। गृहस्थ आश्रम में रह कर मनुष्य सांसारिक अभ्युदय करे, पर उसी को जीवन का परम लक्ष्य न मान ले। संसार का भोग कर स्वेच्छापूर्वक उसका त्याग कर दिया जाए, और जीवन का अन्तिम भाग अध्यात्म-चिन्तन और परोपकार में व्यतीत किया जाए। इसी प्रयोजन से मानव जीवन के सौ वर्षों को चार भागों या आश्रमों में विभक्त किया गया था। पहले पच्चीस साल ब्रह्मचर्य आश्रम के थे, जिसमें मनुष्य को बुद्धि के विकास, शिक्षा के ग्रहण और शक्ति के संचय के लिये उद्योग करना था। पच्चीस वर्ष गृहस्थ जीवन के लिये नियत थे, जिसमें मनुष्य को धर्मपूर्वक धन का उपार्जन तथा सांसारिक सुखों का भोग करना होता था। पर इस जीवन की एक सीमा थी। पचास वर्ष का हो जाने पर गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती थी, कि वह वन में जाकर आरण्यक आश्रमों में निवास करे और वहाँ ब्रह्मचारियों को विद्यादान करने के साथ-साथ अध्यात्म-चिन्तन में अपना समय लगाये।

पचहत्तर साल का हो जाने पर विशेष रूप से ज्ञानी तथा समर्थ व्यक्तियों से यह आशा की जाती थी, कि वे अपना शेष जीवन परोपकार में व्यतीत करें और सब कोई को अपने-अपने कर्तव्य का बोध कराएँ। संन्यास आश्रम में मनुष्य को तप, त्याग और संयम का चरम आदर्श अपने सम्मुख रखना होता था। वह पूर्णतया अकिञ्चन होकर भैक्ष-चर्या द्वारा जीवन निर्वाह करता था और सब इच्छाओं, वासनाओं और आकांक्षाओं से ऊपर उठकर मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता था। सब प्रवृत्तियों का त्याग कर संन्यासी निवृत्ति मार्ग को अपनाता था, और इस प्रकार वह उस लक्ष्य की प्राप्ति करने में समर्थ होता था, जिसे भारत के प्राचीन चिन्तक मानव-जीवन का परम व अन्तिम उद्देश्य मानते थे और जिसे वे 'मोक्ष' कहते थे।

आश्रम व्यवस्था का विकास—वैदिक साहित्य में चारों आश्रमों का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि वहाँ 'ब्रह्मचारी'[1] तथा 'ब्रह्मचर्य'[2] शब्द अनेक स्थलों पर आये हैं, और 'यति' शब्द का प्रयोग भी हुआ है।[3] यति का अभिप्राय संन्यासी से ही है। गृहस्थ के लिये ऋग्वेद में 'गृहपति' शब्द का प्रयोग किया गया है।[4] अथर्व वेद में भी गृहस्थ के लिये 'गृहपति' शब्द ही प्रयुक्त है।[5] पर वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों के रूप में जो प्राचीन वैदिक साहित्य है, उसमें चारों आश्रमों की सत्ता के अनेक संकेत विद्यमान हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के एक संदर्भ में यह कहा गया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण कर 'गृही' (गृहस्थ) बने, गृही जीवन बिताकर 'वनी' (वानप्रस्थ) बने, और फिर 'वनी' होने के बाद परिव्राजक (संन्यासी) बन जाए।[6] बृहदारण्यकोपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा है कि मैं अब परिव्राजक बन रहा हूँ। पर जिन संज्ञाओं द्वारा बाद में चार आश्रमों का प्रतिपादन किया जाने लगा, उनका सर्वप्रथम उल्लेख जाबालोपनिषद में मिलता है। सम्भवतः, प्राचीन भारत में चार आश्रमों की कल्पना धीरे-धीरे विकसित हुई थी, और उपनिषदों के निर्माण काल तक आश्रम व्यवस्था का पूर्ण रूप से विकास हो गया था। यही कारण है कि सूत्र-ग्रन्थों, पुराणों, महाभारत और स्मृतियों में चारों आश्रमों का स्पष्ट तथा विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है और यह भी बताया गया है कि चारों आश्रमों के क्या-क्या धर्म व कर्तव्य हैं।

---

१. ऋग्वेद १०।१०९।५; अथर्ववेद ६।१०८।२

२. 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥ अथर्ववेद ११।५।१९
अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के सम्पूर्ण पांचवें सूक्त में ब्रह्मचर्य की ही महिमा कही गई है।

३. ऋग्वेद ८।३।९; ८।६।१८

४. ऋग्वेद ६।५६।२

५. अथर्ववेद १४।१।५१

६. 'ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत्।'

बौधायन धर्म सूत्र के अनुसार आश्रम व्यवस्था का प्रारम्भ प्रह्लाद के पुत्र कपिल द्वारा किया गया था। वहाँ लिखा है कि देवताओं की स्पर्धा में मनुष्यों ने इसका सूत्रपात किया था। देवता यह मानते थे कि आश्रम व्यवस्था उन्नत और विकसित समाज के लिये आवश्यक है, अतः दूसरों को भी उसे अपनाना चाहिए। चातुर्वर्ण्य के समान चार आश्रमों का उद्गम भी प्राचीन चिन्तकों ने ब्रह्मा से माना है। महाभारत, ब्रह्माण्ड पुराण और वायु पुराण में आये एक श्लोक के अनुसार ब्रह्मा द्वारा चार वर्णों के समान चार आश्रमों की भी स्थापना की गई थी। इन आश्रमों के नाम वहाँ गृहस्थ, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और भिक्षुक दिये गये हैं। संन्यासी के लिए ही वहाँ भिक्षुक शब्द का प्रयोग हुआ है। मनुष्य अपने जीवन की किस आयु में किन-किन कर्मों का सम्पादन किया करे, इसका स्पष्ट रूप से निरूपण करने के लिए ही मानव-जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया; उन्हें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नाम दिये गये, और उनके कर्म निर्धारित कर दिये गये। राजा का यह कर्तव्य माना जाता था, कि मनुष्यों को अपने-अपने वर्ण-धर्मों का पालन करने के साथ-साथ आश्रम-धर्मों के पालन के लिये भी प्रेरित करे, ताकि सब कोई अपने-अपने आश्रम-धर्मों में भी स्थिर रहें। इसीलिये ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि राजा सगर के राज्य में आश्रम-धर्मों का अविकल रूप से पालन किया जाता था, और छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार आश्रम-धर्म के पालन से पुण्य लोक की प्राप्ति होती है। यह माना जाता था कि यदि कोई मनुष्य आश्रम-धर्म से भ्रष्ट हो जाए, उसका पालन न करे, तो उसे यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। वायुपुराण में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो मनुष्य आश्रम-धर्म से 'मुक्त-चित्त' हो जाए या जिसका मन आश्रम-धर्म के पालन में न लगे, उसे कुम्भपाक नरक में जाना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर-वैदिक काल तक भारत में आश्रम व्यवस्था भली-भाँति स्थापित हो चुकी थी, और इस देश के चिन्तकों की सम्मति में समाज के लिये वर्ण-धर्म के समान आश्रम-धर्म का पालन भी बहुत आवश्यक हो गया था।

(३) विवाह और पारिवारिक जीवन

वैदिक युग के आर्य विवाह को एक धार्मिक कृत्य मानते थे। मानव-जीवन को जिन चार आश्रमों में उन्होंने विभक्त किया था, उनमें गृहस्थाश्रम को सबसे महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त था। उत्तर-वैदिक युग के साहित्य में गृहस्थ के महत्त्व को प्रगट करते हुए यह कहा गया है, कि जिस प्रकार छोटी और बड़ी सब नदियाँ समुद्र में जा कर आश्रय ग्रहण करती हैं, वैसे ही सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ से ही आश्रय प्राप्त करते हैं। जैसे बच्चे माता द्वारा रक्षा किये जाने पर ही रक्षित होते हैं, वैसे ही सब भिक्षुक (संन्यासी) गृहस्थियों के दान से ही निर्वाह करते हैं।[1] गौतम धर्म सूत्र[2] तथा बौधायन धर्म सूत्र[3] में तो यहाँ तक कह दिया गया है, कि वास्तव में गृहस्थाश्रम ही

---

१. वशिष्ठ सूत्र ८।१५-१६

२. गौतम धर्म सूत्र ३।१,५

३. बोधायन धर्म सूत्र २।६।२६,४२,४३

एक आश्रम है। ब्रह्मचर्याश्रम में गृहस्थ की तैयारी की जाती है, और वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों की मान्यता शास्त्रों को अभिमत नहीं है। गृहस्थ जीवन विवाह पर ही निर्भर था, अतः विधिवत् विवाह संस्कार कर के गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना प्रत्येक नर नारी का धार्मिक कर्तव्य माना जाता था। इसीलिये शतपथ ब्राह्मण ने यह प्रतिपादित किया है, कि जाया (स्त्री) पुरुष की 'अर्ध' (आधी) होती है। जब तक पुरुष जाया को प्राप्त न कर ले, वह सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकता। जाया को प्राप्त कर के ही पुरुष सन्तान उत्पन्न करता है, और 'अर्ध' न रह कर 'सर्व' (पूर्ण) बनता है।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार[2] प्रत्येक मनुष्य तीन ऋण लेकर उत्पन्न होता है, देव-ऋण, ऋषिऋण और पितृऋण। इनमें से पितृऋण से उऋण होने के लिये आवश्यक है कि मनुष्य विवाह करके सन्तान उत्पन्न करे।[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि 'अपत्नीक' (पत्नी से रहित) पुरुष 'अयज्ञिय' (जिसे यज्ञ करने का अधिकार न हो) होता है।[4] यज्ञ सदृश धार्मिक अनुष्ठानों के लिये पत्नी का अत्यधिक महत्त्व होने के कारण ही उसे सहधर्मिणी एवं अर्धाङ्गिनी कहा जाता था। क्योंकि विवाह एक धार्मिक कृत्य था, अतः पति और पत्नी के सम्बन्ध को भी शाश्वत माना जाता था, और वैदिक युग के आर्यों की दृष्टि में यह वाञ्छनीय नहीं था कि तलाक आदि द्वारा विवाह-सम्बन्ध का विच्छेद हो सके।

ऋग्वेद में विवाह के अनेक प्रयोजन बताये गये हैं। इनमें एक प्रयोजन वीर एवं सुयोग्य सन्तान की प्राप्ति तथा सन्तान द्वारा अमरत्व को प्राप्त करना है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में पत्नी द्वारा यह प्रार्थना की गई है कि मेरे पुत्र शत्रुओं का नाश करने वाले हों और मेरी पुत्री तेजस्विनी हो।[5] एक अन्य मन्त्र में यह प्रार्थना है कि पत्नी दस पुत्रों को जन्म दे।[6] वैदिक आर्य यह समझते थे, कि सन्तान-तन्तु को न टूटने देने से मनुष्य अमरत्व को प्राप्त कर लेता है,[7] क्योंकि सन्तान अपना ही रूप होती है। विवाह का एक अन्य प्रयोजन धर्म का पालन समझा जाता था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, कि याज्ञिक अनुष्ठान पत्नी के बिना पूर्ण नहीं किये जा सकते थे। रति या ऐन्द्रिय सुख विवाह का एक अन्य प्रयोजन था। उपनिषदों में ऐन्द्रिय सुख की

---

१. 'अर्धो ह वाऽएष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायतेऽसर्वो हि तावद्भवत्यथ यदैवं जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति।' शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०
२. तैत्तिरीय ब्राह्मण ६।३।१०।५
३. बौधायन २।६।८
४. 'अयज्ञो वा ह्येष योऽपत्नीकः।' तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।२।६
५. मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्। ऋग्वेद १०।१५९।३
६. इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
'दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥' ऋग्वेद १०।८५।४५
७. ऋग्वेद ५।४।१०

तुलना ब्रह्मानन्द के साथ की गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि जैसे किसी पुरुष को अपनी पत्नी से मिलते हुए न बाह्य जगत् का ध्यान रहता है और न आभ्यन्तर जगत् का, वैसे ही पुरुष को प्राज्ञ आत्मा से जुड़ जाने पर बाहर और अन्दर की किसी भी वस्तु का कोई ध्यान नहीं रह जाता।[1] मनुस्मृति में इन तीन के अतिरिक्त विवाह का एक चौथा प्रयोजन भी बताया गया है। वह है स्वर्ग, अपने लिये तथा पितरों के लिये स्वर्ग की प्राप्ति। मनु के अनुसार ये सब बातें—सन्तान, धर्म-कार्य, रति और स्वर्ग की प्राप्ति 'दाराधीन' (पत्नी के अधीन) हैं। अत सब कोई को विवाह बन्धन में बँध कर इनकी प्राप्ति करनी चाहिये।[2] विवाह का एक प्रयोजन स्वर्ग भी है। प्राचीन भारतीय विचारक यह मानते थे कि धर्म अर्थ और काम स्वर्ग की प्राप्ति के लिये सोपान रूप में हैं। विवाह द्वारा जब मनुष्य गृहस्थ होकर धर्म का पालन, धर्मानुकूल अर्थ (सम्पत्ति) का उपार्जन तथा धर्मानुमत ढंग से काम का सेवन करता है, और इस प्रकार अपना सांसारिक अभ्युदय कर लेता है, तभी वह स्वर्ग की प्राप्ति के लिये समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों का जीवन बिताये बिना मनुष्य का वह विकास नहीं हो सकता, जिससे कि स्वर्ग की प्राप्ति के योग्य बना जाता है। इसी दृष्टि से सब के लिये गृहस्थ होकर पारिवारिक जीवन बिताना आवश्यक माना जाता था।

प्राचीन साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण विद्यमान हैं, जिनमें कि कतिपय व्यक्तियों ने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का निश्चय किया, पर अन्त में उन्होंने अपनी भूल अनुभव की, और विवाह करके वे पितृ ऋण से उऋण हुए। महाभारत में कथा आती है, कि जरत्कारु ने यह निश्चय किया था कि वह जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहेगा। पर जब उसने अपने पितरों की दुर्दशा देखी, तो उसने अपने प्रण को तोड़ दिया और पितरों की सद्गति के लिये नागराज वासुकि की बहन से विवाह कर पितृऋण से छुटकारा प्राप्त किया। इसी प्रकार रुचि विवाह को दुःखों और पापों का कारण मानता था, और उसने देर तक विवाह नहीं किया था। वृद्धावस्था में उसने अपनी भूल अनुभव की, और मालिनी नामक कुमारी के साथ विवाह कर अपनी भूल का सुधार किया।

विवाह द्वारा गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर वैदिक युग के स्त्री पुरुष किस प्रकार का पारिवारिक जीवन बिताते थे, इसका अत्यन्त सुन्दर एवं स्पष्ट चित्र ऋग्वेद के एक सूक्त में प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार विवाह के पश्चात् वर-वधू का यह आशीर्वाद दिया जाता था—तुम यहीं इसी घर में रहो। कभी वियुक्त न होओ। अपने इस घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते हुए और मोद मनाते हुए पूरी आयु तक निवास करो।[3] पत्नी को सम्बोधन कर एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि यह 'अघोरचक्षु'

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२१

२. 'अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ॥' मनुस्मृति ९।२८

३. 'इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥' ऋग्वेद १०।८५।४२

(जिसकी दृष्टि में कठोरता न हो), 'अपतिघ्नी', (जो पति को किसी भी प्रकार की कोई क्षति न पहुँचाए), 'शिवा' (मंगलकारिणी), 'सुमना' (शुभ संकल्प वाली), 'सुवर्चा', 'वीरसू' (वीर सन्तान को जन्म देने वाली) है, और यह सब द्विपदों (मनुष्यों) और चतुष्पदों (चौपायों) के लिये कल्याणकारी हो।[1] पत्नी का अपने परिवार में क्या स्थान होता था, इसका आभास वेद के इस कथन से मिलता है कि स्त्री अपनी सास, श्वसुर, ननद आदि पारिवारिक जनों पर साम्राज्ञी के समान शासन करे।[2] परिवार में पति-पत्नी की स्थिति एक समान मानी जाती थी, यह अथर्ववेद के इस मन्त्र से सूचित होता है—'मैं ज्ञानी हूँ, तू भी वैसी ही ज्ञानी है। मैं साम हूँ, तो तू ऋक् है। मैं द्यौः हूँ, तो तू पृथ्वी है। ऐसे हम दोनों यहाँ साथ मिल कर रहें और सन्तान उत्पन्न करें।[3] अथर्ववेद में पारिवारिक जीवन का जो आदर्श निरूपित किया गया है, वह बड़े महत्व का है। वहाँ पति-पत्नी से यह कहा गया है, कि मैं तुम्हें एक सदृश हृदय वाला, एक सदृश मन वाला, और द्वेष से विरहित बनाता हूँ। जिस प्रकार गौ अपने पैदा हुए बछड़े को प्यार करती है, वैसे ही तुम दोनों एक-दूसरे के प्रति प्रेमभाव रखो। परिवार में पुत्र पिता का 'अनुव्रत' (पिता के व्रतों के अनुरूप व्रत वाला) और माता का 'संमना' बने। पत्नी पति के प्रति सदा मीठी और शान्तिमय वाणी का प्रयोग करे। भाई-भाई से द्वेष न करे, बहन बहन के प्रति द्वेषभाव न रखे, सब कोई एकसदृश व्रत का अनुसरण करते हुए परस्पर मीठी वाणी का प्रयोग किया करें। जिस प्रकार देव लोग साथ रहते हुए एक दूसरे के प्रति द्वेषभाव नहीं रखते, जिस ज्ञान से वे परस्पर मिल कर रहते हैं, उसी ज्ञान को मैं तुम्हारे परिवार के लिए प्रदान करता हूँ।...तुम्हारी प्रपा (पानी पीने का स्थान) एक हो, तुम्हारा अन्नभाग (भोजन सामग्री आदि सम्पत्ति) एक हो। मैं तुमको एक जुए में जोड़ता हूँ। जिस प्रकार अरे रथ के पहिये की नाभि के चारों ओर जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार तुम एक साथ जुड़कर गति करते हुए अग्नि की पूजा करो (याज्ञिक कर्म आदि का सम्पादन करो।[4] परिवार में पति और पत्नी की

---

१. 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।' ऋग्वेद १०।८५।४४

२. 'सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव अधिदेवृषु॥' ऋग्वेद १०।८५।४६

३. 'अमोहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्।
ताविह संभवाव प्रजामाजनयावहै॥' अथर्ववेद १४।२।७१

४. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥१
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥२
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥३

समान स्थिति होने के कारण स्त्री धार्मिक कर्मकाण्ड में हाथ बंटाती थी, और पति के साथ व स्वतन्त्र रूप से भी उसे यज्ञ के अनुष्ठान का अधिकार प्राप्त था।[1]

वैदिक युग में विवाह संस्था का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में भी कतिपय संकेत वेदों में विद्यमान हैं। पति का वरण करने में स्त्री की सम्मति को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो स्त्री स्वयं ही अपने 'मित्र' (पति) का चुनाव करती है, वही 'भद्रा' वधू होती है।[2] विधवा विवाह भी उस युग में प्रचलित था। एक मन्त्र में कहा गया है कि मृत पति से दूर ले जायी गई जीवित स्त्री को परिणीत (विवाहित) होता हुआ मैंने देखा है। जो स्त्री पहले अन्ध-तम (प्रगाढ़ अन्धकार) से आच्छादित थी, उसे मैं प्रगतिशील दशा में ले आया हूँ।[3] इस मन्त्र में विधवा विवाह का स्पष्ट संकेत है।

विवाह सम्बन्ध निर्धारित करते हुए यह ध्यान में रखा जाता था कि वर और वधू 'सदृश' हों, अर्थात् गुण, कर्म और स्वभाव उनके एक समान हों। जिन दृष्टियों से वर वधू में सादृश्य की अपेक्षा की जाती थी, वे निम्नलिखित थे—कुल की सदृशता, *शीलस्वभाव की सदृशता, शरीर एवं रूप की सदृशता, आयु की अनुकूलता, विद्या की* सदृशता, धन (आर्थिक स्थिति) की समानता और दोनों का 'सनाथ' (जिनके माता-पिता जीवित हों) होना। प्राचीन भारतीय विवाह सम्बन्ध को तय करते हुए कुल को बहुत महत्व देते थे। आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है कि सब से पूर्व माता और पिता दोनों के कुलों की परीक्षा कर ली जाए। यदि वर और वधू दोनों के पितृकुल और मातृकुल उत्कृष्ट हों, तभी विवाह तय किया जाए। मनु का भी यही मत था। उस के अनुसार उत्तम कुल के वर का उत्तम कुल की वधू के साथ ही विवाह होना चाहिये, अधम कुल में नहीं। उत्तम कुल का क्या अभिप्राय है, इसे याज्ञवल्क्य-स्मृति तथा उस पर लिखे गये विज्ञानेश्वर के भाष्य में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, कि मातृ पक्ष की दस पीढ़ी से और पितृ पक्ष की पाँच पीढ़ियों से श्रोत्रियों का जो कुल विख्यात हो, वही 'महाकुल' या उत्तम कुल कहाता है। कुल, परिवार या वंश के गुण-दोष सन्तान में भी आते हैं, इस तथ्य को दृष्टि में रखने के कारण ही विवाह सम्बन्ध

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥४
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ अथर्ववेद ३।३०।१-६

१. ऋग्वेद ५।२८।१; ८।६१।१; १०।८६।१

२. कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ॥' ऋग्वेद १०।२७।१२

३. 'अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥'
अथर्ववेद १८।३।३

के लिये कुल को भी महत्व दिया जाता था। पर कुल के साथ-साथ वर और वधू के व्यक्तिगत गुणों व स्वभाव आदि को दृष्टि में रखना भी आवश्यक था। वर के लिये अखण्ड ब्रह्मचर्य भी एक महत्वपूर्ण गुण था। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार ऐसे युवक को ही विवाह करना चाहिये, जो 'अविलुप्तब्रह्मचर्य' हो, और वह ऐसी वधू से ही विवाह करे, जो युवावस्था को प्राप्त हो चुकी हो। 'आपस्तम्ब गृह्यसूत्र' में यह व्यवस्था की गई है कि विवाह-सम्बन्ध निर्धारित करते समय यह भली-भांति परीक्षा ले ली जाए कि वर पुंस्त्व गुण से सम्पन्न है या नहीं, और वह युवा, धीमान् और जनप्रिय है या नहीं। मनु ने भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले व्यक्तियों के लिये उनका 'अविलुप्त-ब्रह्मचर्य' होना आवश्यक माना है। साथ ही, उनके लिये यह भी आवश्यक है कि उन्होंने कम से कम एक वेद का अध्ययन पूर्ण कर लिया हो। कैसे पुरुषों के साथ विवाह-सम्बन्ध नहीं करना चाहिये, इसका भी शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है। नारद स्मृति के अनुसार लोकविद्विष्ट (जो जन-प्रिय न होकर जनता द्वारा धिक्कृत हो), सम्बन्धियों तथा मित्रों द्वारा परित्यक्त, क्षय रोग से ग्रस्त, उदरी (बड़ी तोंद वाला), प्रमत्त, पतित, कुष्ठी (कुष्ठ रोग से पीड़ित), सगोत्र, अन्ध, बधिर, नपुंसक, विजातीय तथा प्रव्रजित व्यक्ति विवाह के योग्य नहीं होते।

वर के समान वधू के लिये भी कतिपय गुण आवश्यक माने जाते थे। वधू को बन्ध्या न होकर सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ होना चाहिये, और विवाह-सम्बन्ध निर्धारित करने से पहले परीक्षा द्वारा यह जान लेना चाहिये कि वह बन्ध्या नहीं है। मनु ने लिखा है कि ऐसी स्त्री से विवाह न किया जाए, जो कपिल (भूरे) रंग की हो, जिसका कोई अंग (यथा उंगली) अधिक हो, जो रोगी हो, जिसके शरीर पर बहुत अधिक बाल हों या बाल बिलकुल न हों, जो बहुत वाचाल हो, जिसकी आँखें भूरी हों जिसका नाम वृक्ष, नदी या पर्वत पर रखा गया हो या जिसका नाम पक्षी या साँप पर हो और या जिसका नाम भयंकर हो। विष्णुपुराण में ऐसी स्त्री को विवाह सम्बन्ध के लिये अवाञ्छनीय माना गया है, जिसका रंग बहुत काला या भूरा हो, जिसका कोई अंग कम या अधिक हो, जो चिररोगिणी हो, जिसके शरीर पर बहुत बाल हों, या बाल बिलकुल न हों, जो दुष्टा हो, जिसकी वाणी कटु हो, जिसके होठों पर बाल हों, जिसका कद बहुत छोटा हो, जिसके दाँत विरल हों और जो बातचीत में सदा व्यंग करती रहती हो। विवाह-सम्बन्ध स्थिर करते समय स्त्री के वित्त, गुण, रूप, प्रज्ञा तथा बन्धु-बान्धवों को दृष्टि में रखा जाता था, और इन गुणों से विरहित स्त्री को विवाह के लिये वाञ्छनीय नहीं समझा जाता था।

विवाह सगोत्र व्यक्तियों में निषिद्ध था। 'गोत्र' कुल या परिवार को कहते हैं। ऐसे वर-वधू का ही विवाह विहित था, जो एक गोत्र के न हों, अर्थात् जिनका जन्म एक ही कुल में न हुआ हो। इसीलिये न केवल भाई-बहनों में ही, अपितु चचेरे, फुफेरे व ममेरे भाई-बहनों में भी विवाह का निषेध था। पाणिनि के अनुसार पौत्र से प्रारम्भ कर जो सन्तान-परम्परा होती है, उसे 'गोत्र' कहते हैं (अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्)। इस प्रकार एक गोत्र में उत्पन्न सब व्यक्ति परस्पर भाई-बहन होते हैं। इसीलिये 'सगोत्र'

विवाह को निषिद्ध किया गया था। गोत्र के साथ ही 'प्रवर' को भी विवाह-सम्बन्ध तय करते हुए ध्यान में रखा जाता था। पूर्वपुरुषों में जिसने मन्त्रद्रष्टा होकर वैदिक मन्त्रों का निर्माण या दर्शन किया हो, उसे 'प्रवर' कहते थे। अतः जिन व्यक्तियों का प्रवर एक हो, वे भी एक ही वंश या कुल के माने जाते थे, और उनमें भी विवाह निषिद्ध था। शास्त्रकारों ने सगोत्र और सप्रवर विवाहों को वाञ्छनीय नहीं माना है। गौतम धर्म-सूत्र, आपस्तम्ब धर्म-सूत्र और बौधायन धर्म-सूत्र आदि सभी धर्मशास्त्रों में इसका निषेध किया गया है। बौधायन ने तो यहाँ तक कहा है कि सगोत्र कन्या से माता के समान व्यवहार किया जाए। मनु के अनुसार जो पुरुष बुआ (फूफी), मौसी व मामा की कन्या से विवाह करता है, उसकी शुद्धि चान्द्रायण व्रत द्वारा ही सम्भव है।

धर्मशास्त्रों की इस व्यवस्था का अतिक्रमण करने के उदाहरण भी प्राचीन साहित्य में विद्यमान हैं। सुभद्रा अर्जुन की ममेरी बहन थी, पर यह सम्बन्ध उनके विवाह में बाधक नहीं हुआ था। मगध के राजा अजातशत्रु का विवाह अपने मामा कोशल के राजा की पुत्री वजिरा के साथ हुआ था। ऐसे ही अन्य भी अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य से दिये जा सकते हैं। वर्तमान समय में भी दक्षिणी भारत के हिन्दुओं में ममेरी बहन के साथ विवाह-सम्बन्ध अनुचित नहीं माना जाता। प्राचीन समय में भी दाक्षिणात्यों में यह प्रथा प्रचलित थी, और इसका संकेत बौधायन धर्म-सूत्र में विद्यमान है। वहाँ लिखा है कि दक्षिण के लोगों में ममेरी और फुफेरी बहनों के साथ विवाह-सम्बन्ध प्रचलित था। सम्भवतः, उत्तरी भारत के राजकुलों तथा कतिपय अन्य सम्भ्रान्त वर्ग में भी ऐसे विवाहों का चलन था। ऊपर जो उदाहरण दिये गए हैं, उनका सम्बन्ध प्रायः ऐसे कुलों के ही साथ है।

क्योंकि विवाह-सम्बन्ध के लिये कुल को बहुत महत्व दिया जाता था, अतः स्वाभाविक रूप से विवाह प्रायः अपने ही वर्ण में हुआ करता था। पर इस प्रथा का प्रचलन उस समय में हुआ, जब कि वर्णव्यवस्था और जातिभेद का भारत में भली-भाँति विकास हो चुका था। वैदिक और उत्तर-वैदिक युगों में असवर्ण विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय कुमारी सुकन्या के साथ विवाह किया था। इसी प्रकार श्यावाश्व नामक ब्राह्मण कुमार का एक क्षत्रिय कन्या से विवाह हुआ था। अनुलोम विवाह बाद के काल के धर्मशास्त्रों में भी विहित हैं, जिनके अनुसार उच्च वर्ण का कुमार अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह कर सकता था। मनु ने तो यहाँ तक लिखा है, कि कन्यारत्न को 'दुष्कुल' (हीन कुल) से भी प्राप्त किया जा सकता है। पर धर्मशास्त्रों को प्रायः यही मत अभिप्रेत था, कि विवाह अपने ही कुल या वर्ण में हो। असवर्ण विवाह को वे अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। सूत्र ग्रन्थों में आठ प्रकार के विवाह उल्लिखित हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। वर के विद्या, सदाचार आदि गुणों को भली-भाँति जाँच कर जब कन्या का पिता अलंकृत कन्या के साथ उसका विवाह करे, तो ऐसा विवाह 'ब्राह्म' कहाता था। जब वर और वधू परस्पर मिलकर धर्मचर्या

का पालन करते हुए विवाह-सम्बन्ध को स्वीकार करें, तो ऐसे विवाह को 'प्राजापत्य' कहते थे। कन्या पक्ष द्वारा गौओं की एक जोड़ी वर पक्ष को प्रदान कर जो विवाह किया जाता था, उसकी संज्ञा 'आर्ष' थी। यज्ञवेदी के सम्मुख ऋत्विग् की स्वीकृति से 'कन्यादान' कर जो विवाह सम्पन्न होता था, उसे 'दैव' कहते थे। कन्या और पुरुष परस्पर प्रेम के कारण स्वयं जो विवाह कर लेते थे, वह 'गान्धर्व विवाह' कहाता था। शुल्क (दहेज) देकर जो विवाह किया जाता था, उसे 'आसुर' कहते थे। कन्या का बलपूर्वक अपहरण कर उससे जो विवाह कर लिया जाता था, उसे राक्षस विवाह माना जाता था। सोयी हुई या बेसुध स्त्री को ले जाकर उससे जो विवाह किया जाता था, उसे 'पैशाच विवाह' कहते थे। इनमें से पहले चार प्रकार के विवाह 'धर्म्य' (धर्मानुकूल) माने जाते थे, यद्यपि गान्धर्व आदि पिछले चार प्रकार के विवाहों का चलन भी उत्तर-वैदिक युग में हो चुका था और कतिपय प्रदेशों व जातियों में ऐसे विवाह हुआ भी करते थे। पर वैदिक युग में इन विवाहों की सत्ता के संकेत नहीं मिलते। सूत्रग्रन्थों और स्मृतियों के काल में भी पिछले चार प्रकार के विवाहों को उत्तम नहीं समझा जाता था। बौधायन धर्मसूत्र में लिखा है, कि जो पुरुष लोभ में आकर और द्रव्य लेकर अपनी कन्या का विवाह करता है, वह घोर पाप का भागी बनता है, और आने वाली सात पीढ़ी तक के लिए अपने वंश को कलंकित कर देता है। जो कन्या द्रव्य लेकर विवाहार्थ लायी जाती है, वह देवयज्ञ और पितृयज्ञ में पति का साथ नहीं दे सकती।[1] पहले चार प्रकार के जो 'धर्म्य' विवाह होते थे, उनका उच्छेद नहीं हो सकता था। यदि पति पत्नी का या पत्नी पति का त्याग करे, तो इस कार्य को अत्यन्त बुरा माना जाता था, और इस कुकर्म के लिये कठोर प्रायश्चित्त की व्यवस्था थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है कि जिस पति ने अन्याय से अपनी पत्नी को त्याग दिया हो, वह गधे का चमड़ा ओढ़कर प्रतिदिन सात घरों में यह कहते हुए भिक्षा मांगे कि उस पुरुष को भिक्षा दो जिसने अपनी पत्नी को त्याग दिया है। इस प्रकार भिक्षा द्वारा वह छह महीने तक अपना निर्वाह करे। पत्नी के पति का त्याग कर देने पर उसे छह मास तक कृच्छ्र व्रत करना होता था। (आपस्तम्ब १।१०।२८। १९,२०)।

वैदिक युग में बहुपत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित थी या नहीं, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। ऋग्वेद के एक मन्त्र (१०।१०१।११) में दो पत्नियां रखने वाले पुरुष की उपमा ऐसे घोड़े से दी गई है, जो रथ की दोनों धुराओं के बीच में दबा हुआ चलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में बहुविवाह की प्रथा प्रारम्भ हो चुकी थी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों का उल्लेख है, जिनके नाम मैत्रेयी और कात्यायनी थे।[2] ऐसे ही अन्य भी अनेक उदाहरण उत्तर-वैदिक युग के साहित्य से दिये जा सकते हैं।

---

१. बौधायन धर्मसूत्र, १।११।२१।२-३

२. 'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः मैत्रेयी च कात्यायनी च।' शतपथ १४।७।३।१

विशेष परिस्थितियों में विधवा विवाह की अनुमति भी वैदिक युग में दी जाती थी। इस विषय के एक मन्त्र का उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। यद्यपि पुरुष और स्त्री दोनों के लिए पुनर्विवाह कर सकना सम्भव था, पर कतिपय दशाओं में सन्तान की प्राप्ति के लिए 'नियोग' को भी समुचित तथा धर्मानुकूल माना जाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार पुत्रहीन विधवा अपने देवर से सन्तान की उत्पत्ति कर सकती थी।[1] उत्तर-वैदिक युग में नियोग द्वारा सन्तान की उत्पत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कुरुदेश के राजा शान्तनु के पुत्र चित्रांगद और विचित्रवीर्य की मृत्यु हो जाने पर उनकी पत्नियों ने वेद व्यास के साथ नियोग कर सन्तान को जन्म दिया था। महाभारत की यह कथा सर्वविदित है।

बहिन और भाई का विवाह वैदिक युग में सर्वथा निषिद्ध था। ऋग्वेद के यमयमी सूक्त में यम (भाई) द्वारा अपनी बहिन (यमी) को स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि तू मुझसे भिन्न किसी शक्तिशाली समर्थ पुरुष की पति के रूप में प्राप्ति की इच्छा कर।[2]

(३) रहन-सहन और खान-पान

वस्त्र—वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग के लोग प्रायः तीन वस्त्र धारण किया करते थे, वास, अधीवास और नीवि।[3] सम्भवतः, वास को कटि के नीचे पहना जाता था, और उसे 'परिधान' भी कहते थे।[4] अधीवास कटि से ऊपर पहने जाने वाला वस्त्र होता था। सम्भवतः, यह लम्बे कुरते या चोगे के ढंग का वस्त्र था। इनके अतिरिक्त एक अन्य वस्त्र का भी प्रयोग किया जाता था, जिसे नीवि कहते थे। इसे वस्त्र के नीचे पहनते थे। शतपथ ब्राह्मण में जिस यज्ञीय परिधान का वर्णन है, उसमें तार्प्य, पाण्ड्व, अधीवास और उष्णीष सम्मिलित हैं।[5] तार्प्य एक रेशमी वस्त्र होता था, जिसे अधोवास के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। पाण्ड्व एक ऊनी कपड़े को कहते थे। अधीवास ऊपर पहने जाने वाले चोगे का नाम था, और उष्णीष को सिर पर बांधा जाता था। शतपथ में जिस पोशाक का यज्ञीय परिधान के रूप में वर्णन है, सम्भवतः वही वैदिक युग के आर्यों द्वारा सामान्य जीवन में भी प्रयुक्त की जाती थी। पुरुषों और स्त्रियों के पहनने के कपड़ों में क्या अन्तर था, इस पर कोई प्रकाश वैदिक साहित्य से नहीं पड़ता। पर शतपथ ब्राह्मण के एक सन्दर्भ से यह अवश्य ज्ञात

---

१. 'कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शत्रुया विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥
ऋग्वेद १०।४०।२

२. 'उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ऋग्वेद १०।१०।१०

३. अथर्ववेद ८।२।१६

४. ऋग्वेद १।१४०।९; १।१६२।१६

५. शतपथ ब्राह्मण ५।३।५।२०

होता है कि स्त्रियाँ याज्ञिक कर्मकाण्ड के अवसर पर 'कौश वास' धारण किया करती थीं।[1] कौश का अभिप्राय: रेशमी (कौशेय) भी हो सकता है और कुशा द्वारा निर्मित भी। अथर्ववेद में 'उपवास' नामक एक वस्त्र का उल्लेख है, जिससे ओढ़ने की चादर अभिप्रेत है।[2] पगड़ी (उष्णीष) केवल पुरुष ही नहीं पहनते थे, अपितु स्त्रियाँ भी पहना करतीं थी। यजुर्वेद में 'इन्द्राण्या उष्णीषः (इन्द्राणी के लिए उष्णीष) का उल्लेख मिलता है,[3] जिससे स्त्रियों द्वारा भी पगड़ी पहना जाना सूचित होता है। शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र की प्रिय पत्नी (इन्द्राणी) की उष्णीष के साथ 'विश्वतम रूप' विशेषण का प्रयोग किया गया है,[4] जिससे यह संकेत मिलता है कि इन्द्राणी सदृश सम्पन्न महिलाएँ जो पगड़ी बाँधती थीं, वह 'विश्वतम रूप' होती थीं। या तो वे अनेक रंगों की होती थीं और या उन पर विविध प्रकार की चित्रकारी की होती थी। वैदिक युग के लोग पैरों में जूते भी धारण किया करते थे। संस्कृत में जूते को 'उपानह्' कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण मे यह शब्द विद्यमान है, और वहाँ 'वाराह्य' (वराह के चमड़े से बने हुए) उपानहों का उल्लेख है।[5] वेदों में उपानह शब्द नही आया है, पर अथर्ववेद में 'पत्संगिनी:' का उल्लेख है,[6] जिससे किसी प्रकार के पादत्राण या जूते का अभिप्राय ही प्रतीत होता है।

वैदिक युग में विभिन्न प्रकार के वस्त्र रुई, ऊन, रेशम और विभिन्न प्रकार की घास (सन आदि) से बनाये जाते थे। आर्थिक जीवन पर प्रकाश डालते हुए इस विषय का विशद रूप से प्रतिपादन किया जाएगा। उस काल में 'वासो वाय' (कपड़ा बुनने वाले) का शिल्प अच्छी उन्नत दशा में था,[7] और वे सूत, ऊन, रेशम आदि से अनेकविध कपड़ों का निर्माण किया करते थे। कपड़ों पर अनेक प्रकार से कसीदागिरी और कढ़ाई भी की जाती थी, और इसके लिए सुवर्ण का भी प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद में 'हिरण्ययान् उत्कान्' का उल्लेख हैं,[8] जिसका अर्थ सुवर्ण से काढ़े हुए परिधान ही किया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि वैदिक युग के आर्य अनेक प्रकार से अलंकृत वस्त्रों को धारण किया करते थे। शरीर को ढकने के लिए सूती, ऊनी और रेशमी कपड़ों के अतिरिक्त 'अजिन' या 'चर्म' द्वारा निर्मित वस्त्रों का प्रयोग करने की प्रथा भी वैदिक

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।८
२. अथर्ववेद १४।२।४६
३. यजुर्वेद ३८।३
४. 'इन्द्राण्या उष्णीष इतीन्द्राणी ह वाऽइन्द्रस्य प्रिया पत्नी तस्या उष्णीषो विश्वरूपतमः सोऽसीति।' शतपथ ब्राह्मण १४।२।१।८
५. 'अथ वाराह्याऽ उपानहाऽउपमुञ्चते······तत्पशूनामेवैतद्रसे प्रतितिष्ठति तस्माद्वाराह्याऽ उपानहाऽ उपमुञ्चते॥' शतपथ ब्राह्मण ५।४।३।१९
६. अथर्ववेद ५।२१।१०
७. ऋग्वेद १०।२६।६
८. ऋग्वेद ५।५५।६

युग में विद्यमान थी। अजिन का अर्थ मृगचर्म है, और शतपथ ब्राह्मण में 'अजिनवासी' (अजिन के वस्त्र पहने हुए) ब्राह्मणों का उल्लेख है।[1] ऋग्वेद के एक सूक्त में ऋषि काण्वकृष्ण को प्रस्कण्व द्वारा दिये गये दान की स्तुति की गई है। प्रस्कण्व ने सौ श्वेत बैलों, सौ बाँसों, सौ कुत्तों और चार सौ लाल घोड़ियों के साथ सौ 'म्लातानि चर्माणि' (कमायी हुई खालों) को भी दान में दिया था।[2] कमायी हुई ये खालें किसी प्रकार के परिधान के लिये ही प्रयुक्त की जाती थीं, इस कल्पना को असंगत नहीं कहा जा सकता।

आभूषण—वैदिक युग में आभूषण पहनने का भी रिवाज था। ऋग्वेद में 'निष्क', 'कुरीर' और 'कर्णशोभन' आभूषणों का उल्लेख है। निष्क एक प्रकार का हार होता था, जिसे गले में पहना जाता था। वेदों में 'निष्कग्रीव' का उल्लेख है,[3] और ऐतरेय ब्राह्मण में 'निष्ककण्ठ' का।[4] निष्क नाम का एक सिक्का भी वैदिक युग में प्रचलित था, जिसे वस्तुओं के विनिमय के लिए प्रयुक्त किया जाता था। निष्कग्रीव और निष्ककण्ठ जैसे हार सम्भवतः निष्कसंज्ञक सिक्कों द्वारा ही बनाये जाते थे। कुरीर को सिर या माथे पर धारण किया जाता था। अथर्ववेद में कुरीर का उल्लेख सिर पर धारण किये जाने वाले आभूषण के रूप में किया गया है।[5] यजुर्वेद में देवी सिनीवाली के लिए 'सुकपर्दा' और 'स्वौपशा' विशेषणों के साथ 'सुकरीरा' विशेषण का भी प्रयोग किया गया है।[6] सुकपर्दा का अर्थ सुन्दर वेणी वाली है। सिनीवाली की वेणी जहाँ अत्यन्त सुन्दर थी, वहाँ उसने वेणी के साथ सुन्दर करीर को भी धारण किया हुआ था। कर्णशोभन को कानों में पहना जाता था। ऋग्वेद में कर्णशोभन का एक आभूषण के रूप में उल्लेख है।[7] अथर्ववेद में एक अन्य आभूषण का नाम आया है, जिसे 'कुम्ब' कहते थे।[8] कुरीर के समान इसे भी सिर पर धारण किया जाता था। ऋग्वेद में 'रुक्म' और 'मणि' का भी आभूषणों के रूप में उल्लेख विद्यमान है। रुक्म एक ऐसा आभूषण था, जो छाती पर लटका रहता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में मरुतों के लिये 'रुक्मवक्षसः' विशेषण आया है,[9] जिससे यह सूचित होता है कि यह आभूषण वक्षस्थल की शोभा बढ़ाया करता था। मणि का प्रयोग भी आभूषण के रूप में किया

---

१. 'तत्सर्वं वत्वाजिनवासी चरति।' शतपथ ब्राह्मण ३।९।१।१२
२. ऋग्वेद ८।५५।३
३. ऋग्वेद ५।१९।३; अथर्ववेद ५।१७।१४
४. ऐतरेय ब्राह्मण ८।२२
५. अथर्ववेद ६।१३८।३
६. यजुर्वेद ११।५६
७. ऋग्वेद ८।७८।३
८. अथर्ववेद ६।१३८।३
९. ऋग्वेद २।३४।२

जाता था। ऋग्वेद में 'मणिग्रीव' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है,[1] जिससे इसका गरदन में लटका कर पहने जाना सूचित होता है। न्योचनी संज्ञक एक अन्य आभूषण का भी ऋग्वेद में उल्लेख है,[2] जिसे वधू विवाह के अवसर पर पहना करती थी। इसमें सन्देह नहीं, कि वैदिक युग के स्त्री पुरुष अनेकविध आभूषणों से अपने शरीर को अलंकृत किया करते थे।

केशविन्यास—वैदिक युग में केशविन्यास पर भी बहुत ध्यान दिया जाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में एक ऐसी युवती का वर्णन है, जिसने कि अपने बालों की चार वेणियाँ (कपर्द) बनायी हुई थीं।[3] यजुर्वेद में सिनीवाली के लिये सुकपर्दा विशेषण का प्रयोग किया गया है, जिससे इस देवी द्वारा अपनी वेणी को अत्यन्त सुन्दर रूप से बनाये जाने का संकेत मिलता है। इस युग के पुरुष जहाँ दाढ़ी मूँछ रखा करते थे, वहाँ उन्हें मूंड डालने की प्रथा भी विद्यमान थी। ऋग्वेद में 'क्षुर' का उल्लेख है,[4] जिससे उस्तरा भी अभिप्रेत हो सकता है। अथर्ववेद में क्षुर शब्द अनेक बार आया है,[5] और वहाँ उसका अर्थ हजामत बनाने वाले उस्तरे से ही लिया गया है।

शय्या आदि घरेलू सामान—वैदिक युग के घरों पर हम आर्थिक जीवन का प्रतिपादन करते हुए विशद रूप से प्रकाश डालेंगे। पर जिन पर्यङ्क, आसन्दी आदि से घरों को सुसज्जित किया जाता था, वैदिक युग के रहन-सहन का वर्णन करते हुए भी उनका उल्लेख करना उपयोगी है। अथर्ववेद में 'आसन्दी' का अनेक बार उल्लेख हुआ है,[6] और यजुर्वेद में भी।[7] इसके चार पाये होते थे और इसे बैठने के काम में लाया जाता था। इस पर आस्तरण (गद्दा) बिछा रहता था, और उपबर्हण (तकिया) लगा रहता था। पीठ को टिकाने के लिये इसके पीछे उपश्रय (पीठ) भी बना होता था।[8] पर्यङ्क का उल्लेख कौषीतकी उपनिषद में भी मिलता है,[9] और इसका उपयोग लेटने के लिए किया जाता था। पर्यङ्क (पलंग) के समान एक अन्य शय्या 'प्रोष्ठ' होती थी, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में आता है। एक मन्त्र में तीन प्रकार स्त्रियाँ की कही गई हैं, 'प्रोष्ठेशया' (प्रोष्ठ पर सोने वाली), 'वह्येशया' (वह्य पर सोने वाली) और

---

१. ऋग्वेद १।१२२।१४
२. ऋग्वेद १०।८५।६
३. ऋग्वेद १०।११४।३
४. ऋग्वेद २।१६६।१०; ८।४।१६
५. अथर्ववेद ६।३८।१-३
६. 'यवासन्द्यामुपधाने यद् वोपवासने कृतम्।' अथर्ववेद १४।२।६५
७. 'प्रोह्यमाणः सोमं आगतो वरुणं आसन्द्यामासन्नोऽग्निराग्नीध्र···।' यजुर्वेद ८।५६
८. 'वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम्॥ सामासाद उद्गीथोपश्रयः॥ तामासन्दीं व्रात्य आरोहत॥ अथर्ववेद १५।३।७,८,६
९. कौषीतकी उपनिषद् १।५

'तल्पशीवरीः' (तल्प पर सोने वाली)।[1] इससे स्पष्ट है कि प्रोष्ठ, वह्य और तल्प-तीनों विभिन्न प्रकार की शय्याएँ थीं, जिन्हें सोने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। पर इनमें भेद क्या था, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः, वह्य पालकी को कहते थे। अथर्ववेद के एक मन्त्र में वह्य पर चढ़ी हुई वधू का उल्लेख है, जिससे उसका पालकी होना सूचित होता है।[2] विवाह के समय जो पलंग वर-वधू के प्रयोग के लिए प्रदान किया जाता था, और जिसका उपयोग वर-वधू ही किया करते थे, उसे तल्प कहते थे। अथर्ववेद के एक मन्त्र में वधू से कहा गया है, कि वह प्रसन्नचित्त होकर तल्प पर आरोहण करे और पति के लिए प्रजा (सन्तान) को उत्पन्न करे। शतपथ ब्राह्मण में सन्तान को 'तल्प्य' भी कहा गया है, क्योंकि उसका जन्म तल्प पर ही होता था।[4] प्रोष्ठ, वह्य, तल्प, पर्यङ्क और आसन्दी के अतिरिक्त वैदिक युग के घरों में अनेकविध चटाइयाँ, आसन आदि भी हुआ करते थे, जो उठने-बैठने के काम में आते थे। वस्त्र आदि विविध प्रकार का सामान रखने के लिए 'कोश' (पेटियाँ) प्रयुक्त किये जाते थे,[5] और अन्न आदि भोजन सामग्री के लिए कलश, द्रोण और दृति। कोश जहाँ पेटी को कहते थे, वहाँ एक ऐसे बरतन को भी जो बाल्टी के समान होता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कोश से रस्सी बाँध कर 'अवत' (कुएं) से जल खींचने का उल्लेख है।[6] कलश घड़े को कहते थे, जो या तो मिट्टी का बना होता था और या धातु का। द्रोण लकड़ी का बना पात्र होता था, जिसमें सोमरस एकत्र किया जाता था।[7] दृति का निर्माण चमड़े से किया जाता था।[8] सूप, छलनी, उलूखल, चषक (प्याले), स्थली (थाली) आदि अन्य भी विविध प्रकार के उपकरणों का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है, जिनका उपयोग उस युग के लोग घरेलू प्रयोजनों के लिये किया करते थे।

भोजन—वैदिक युग में आर्यों के मुख्य भोज्य पदार्थ अन्न, कन्द, मूल, फल, दूध और घृत थे। वैदिक साहित्य में प्रधानतया व्रीहि, यव, तिल, माश (उड़द), श्यामाक (साँवक) शारिशाका (सरसों) और गन्ने का उल्लेख मिलता है, जिन्हें कृषि द्वारा उत्पन्न किया जाता था। ये सब भोजन के काम आते थे। व्रीहि (धान) अनेक प्रकार के होते थे, यथा, 'आशु' (शीघ्र पैदा होने वाला), 'कृष्ण' और 'महाव्रीहि' (बड़े दानों वाला)। तंदुल का उल्लेख भी वैदिक साहित्य में है, जो चावल का ही बोध-

---

१. प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्पशीवरीः।' ऋग्वेद ७।५५।८

२. सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव।' अथर्ववेद ५।२०।३

३. आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै। अथर्ववेद १४।२।३१

४. शतपथ ब्राह्मण १३।१।६।२

५. अथर्ववेद १४।१।६

६. ऋग्वेद ३।३२।१५

७. ऋग्वेद १।३।१; ६।२।८

८. ऋग्वेद १।१६१।१०; ४।५।१।१

कराता है।[1] भोजन के लिए उबाले गए तण्डुलों (चावलों) को 'ओदन' कहते थे[2], जिसके अनेक प्रकार थे, यथा क्षीरौदन (खीर), दध्योदन (दही चावल), मुद्गौदन (मूँग चावल की खिचड़ी), तिलौदन, उदौदन (जल में पकाए हुए चावल), मांसौदन (मांस का पुलाव) और घृतोदन आदि।[3] विविध प्रकार के इन चावलों का उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण आदि उत्तर-वैदिक युग के साहित्य में आया है। पर क्षीरोदन 'क्षीरपाकमोदनम्' (दूध में पकाए हुए चावल) के रूप में ऋग्वेद में भी विद्यमान है।[4] यव जौ को कहते थे। ऋग्वेद में यव का अनेक मन्त्रों में उल्लेख हुआ है,[5] पर गेहूँ का कहीं वर्णन नहीं है। पर यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण आदि में 'गोधूम' का परिगणन व्रीहि, यव, मास, तिल, मूँग (मुद्ग) खल्व, प्रियंगु, मसूर श्यामाक, नीवार आदि कृषि-जन्य पदार्थों के साथ किया गया है।[6] गोधूम से गेहूँ ही अभिप्रेत है। इससे यह संकेत मिलता है कि वैदिक युग में अन्य अन्नों के समान गेहूँ का भी भोजन के लिए उपयोग होता था। गेहूँ द्वारा कौन-से खाद्य पदार्थ वैदिक युग में तैयार किये जाते थे, इस पर भी वेद मन्त्रों द्वारा कुछ प्रकाश पड़ता है। ऐसा एक पदार्थ 'पक्ति' था, जिसका उल्लेख प्रायः पुरोडाश के साथ किया गया है।[7] पक्ति और पुरोडाश दोनों से दो प्रकार की रोटियाँ ही अभिप्रेत थीं, जिन्हें बनाने के लिये गोधूम और तण्डुल को प्रयुक्त किया जाता था। अपूप (पुआ और पूड़ा) का उल्लेख भी वैदिक साहित्य में आया है। ऋग्वेद में इसे 'घृतवन्त' कहा गया है।[8] इक्षु (गन्ने) का उल्लेख अथर्ववेद में है, जिससे सूचित होता है कि वैदिक युग में शर्करा आदि का भी भोजन के लिए प्रयोग किया जाता था। वैदिक युग के आर्यों के भोजन में दूध, दही और घृत का बहुत अधिक स्थान था। दूध से न केवल क्षीरोदन बनाया जाता था, अपितु सोमरस में मिलाकर भी उसका पान किया जाता था। दही को मथकर 'मन्थ' (मट्ठा) भी बनाया जाता था। मन्थ न केवल मट्ठे को कहते थे, अपितु एक ऐसे पेय की भी संज्ञा थी, जिसे सत्तू और दूध को मिलाकर तैयार किया जाता था।

मांस भक्षण का प्रश्न—वैदिक युग में मांस भक्षण का प्रचार था या नहीं, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। जिन प्रमाणों द्वारा वैदिक युग में मांस भक्षण की

---

१. अथर्ववेद १०।६।२६; ११।१।१८
२. शतपथ ब्राह्मण २।५।३।४
३. बृहदारण्यक उपनिषद् ६।४।१३-१६; शतपथ ब्राह्मण २।५।३।४; ११।५।७।५
४. ऋग्वेद ८।७७।१०
५. ऋग्वेद १।२३।१५
६. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।' यजुर्वेद १८।१२
७. यजुर्वेद २१।५९ ऋग्वेद ४।२४।५
८. 'यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने।' ऋग्वेद १०।४५।९

प्रथा का प्रतिपादन किया जाता है, उनमें से कतिपय का यहाँ उल्लेख करना उपयोगी होगा, ताकि यह भी प्रदर्शित किया जा सके कि दूसरे पक्ष के विद्वान् इन मन्त्रों का क्या अर्थ करते हैं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के सताईसवें सूक्त में एक मन्त्र है, जिसका अर्थ सायण द्वारा यह किया गया है कि प्रजापति के वीर अङ्गिरसों ने मेदा (चरबी) और माँस से युक्त मेष (भेड़) को पकाकर इन्द्र के लिए पशुयाग का अनुष्ठान किया।[1] इसी सूक्त के एक मन्त्र में 'तुभ्र' (स्थूल) वृषभ (बैल) के पकाये जाने की बात कही गई है।[2] ऋग्वेद के एक मन्त्र में अग्नि को 'उक्षान्न' (उक्षा या बैल जिसका अन्न या खाद्य हो) कहा गया है।[3] उत्तर-वैदिक युग के साहित्य में तो मांस भक्षण के संकेत और भी अधिक स्पष्ट हैं। शतपथ ब्राह्मण में राजा, ब्राह्मण और अतिथि के लिए 'महोक्ष' (बड़ा बैल) और 'महाज' (बड़ा बकरा) पकाने का विधान किया गया है।[4] बृहदारण्यक उपनिषद् के एक संदर्भ में यह कहा गया है कि जो कोई मनुष्य यह चाहे कि उसका पुत्र सर्वत्र विजय करने वाला, पण्डित, सभा समिति में आने-जाने वाला और वहाँ जाकर सुनियन्त्रित भाषण देने वाला, सब वेदों का वक्ता और पूरी आयु भोगने वाला हो, तो उसे और उसकी पत्नी को बैल के मांस को चावलों के साथ पका कर और उसमें ताजा घी डाल कर खाना चाहिए।[5] वैदिक साहित्य में जो अजामेध, अश्वमेध और गोमेध सदृश यज्ञों का विधान है, उनमें इन पशुओं की बलि देकर यज्ञशेष के रूप में उनके मांस का भक्षण भी किया जाता था।

पर जिन विद्वानों का यह मत है कि वैदिक आर्य मांसभक्षक नहीं थे, वे इन मन्त्रों तथा इसी प्रकार के अन्य मन्त्रों का अर्थ अन्य प्रकार से करते हैं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के जो मन्त्र ऊपर लिखे गये हैं, वे पहेलियों के रूप में हैं। वहाँ मेष का अर्थ भेड़ न होकर मेष राशि अभिप्रेत है। मेष, वृष, मिथुन आदि बारह राशियाँ हैं, सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती हुई पृथ्वी जिनके सम्मुख जाती है। मन्त्र में 'पीवानं मेषं' को पकाने का अभिप्राय मेष राशि के तारापुञ्ज को इस रूप में चमकाना है, जिससे कि वह आकाश में चमकता हुआ दिखायी दे सके। लुडविग सदृश कतिपय

---

१. 'पीवानं मेषमपचन्त वीरा न्युप्ता अक्षा अनुदीव आसन्।' ऋग्वेद १०।२७।१७

२. 'यदीदहं युधये सन्नयान्यदेवयून्तन्वा शूशुजानान्।
अमा ते तुभ्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं निषिञ्चम्।' ऋग्वेद १०।२७।२

३. 'उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे॥
स्तोमैर्विधेमाग्नये॥' ऋग्वेद ८।४३।११

४. 'अथ यस्यातिथ्यं नाम⋯एतद्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्तदह मानुषं हविर्देवानामेवमस्मा एतदातिथ्यंकरोति।' शतपथ ३।४।१।२

५. 'अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो विजिगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्ष्णेन वा आर्षभेण वा।'

बृहदारण्यक उपनिषद् ८।४।१८

आधुनिक विद्वानों ने भी इस मन्त्र में आये हुए 'पीवान मेष' का अर्थ जल से फूला हुआ मेघ (swollen rain-cloud) किया है। मन्त्र में आये हुए 'अपचन्त' शब्द का अर्थ केवल 'पकाया' ही नहीं होता। सायण ने स्वयं एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए 'पचति' (पकाया है) का अर्थ 'वृष्ट्यभिमुखं करोति' (वर्षा करता है) किया है।[1] इसी प्रकार 'वृषभ' का अर्थ भी केवल बैल नहीं है। वृषभ के अर्थ चन्द्रमा और सोम (सोमलता) भी होते हैं। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के एक (१०१ वें) सूक्त में वृषभ शब्द दो बार आया है। वहाँ वह पर्जन्य या मेघ का बोधक है, इसे मैकडानल और कीथ ने भी वैदिक इन्डेक्स में स्वीकार किया है।[2] ऋग्वेद के नवम मण्डल में आये हुए वृषभ शब्द का अनेक स्थलों पर सायण ने सोम अर्थ किया है। यदि वृषभ का अर्थ सोम मान लिया जाए, तो ऊपर लिखे मन्त्र में 'अमा ते तुभ्रं वृषभं पचानि' का अर्थ यह होगा कि इन्द्र द्वारा सोम को परिपक्व किया जाता है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के एक मन्त्र में आये हुए 'उक्षान्न' शब्द का अर्थ 'बैल जिसका खाद्य हो' करना संगत नहीं है। ऋग्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण में जो उक्ष या महोक्ष शब्द आये हैं, उनसे बैल अभिप्रेत न हो कर वह औषधि अभिप्रेत है, अमरकोष में जिसे शृंगी या काकड़ासिंगी का पर्यायवाची प्रतिपादित किया गया है। इसी प्रकार 'महाज' में जो अज शब्द है, उसका अर्थ भेड़ न होकर अन्न है। महाभारत के शान्तिपर्व में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि अज संज्ञा बीजों की है। यज्ञों में बीजों द्वारा ही आहुति देनी चाहिए, छाग (भेड़ बकरी) को मार कर नहीं।[3] शतपथ ब्राह्मण में जहाँ राजा, ब्राह्मण और अतिथि के लिये 'महोक्ष' तथा 'महाज' पकाकर देने का विधान है, वहाँ उक्ष औषधि (ककड़ासिंगी) तथा विशेष प्रकार के बीजों को पका कर देना ही अभिप्रेत है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जहाँ उत्तम संतान की प्राप्ति के लिए औक्षण मांस को चावल और घी के साथ पका कर खाने की बात कही गई है, वहाँ भी उन औषधियों को चावल तथा घी के साथ पका कर खाने का विधान है, जिन्हें कि 'उक्षण' या 'वृषभ' कहा जाता है और आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत के अनुसार जो पित्त तथा खून की गरमी का विनाश करने वाली होने के साथ-साथ जीवन और शक्ति देने वाली भी हैं।[4] निस्संदेह, ऐसी औषधि गर्भवती स्त्री के लिए बहुत लाभकर है। शतपथ ब्राह्मण में उसी के सेवन का विधान किया गया है। यह सही है कि वैदिक साहित्य में अश्वमेध, गोमेध, और अजामेध सदृश यज्ञों

---

१. ऋग्वेद ८।९९।१५ पर सायण भाष्य

२. वैदिक इन्डेक्स, वृषभ शब्द।

३. 'बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वा वैदिकी श्रुतिः।
अज संज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ ॥'

४. उक्ष और ऋषभ ऐसी औषधियां हैं जिन्हें आयुर्वेद में काकोल्यादि गण में सम्मिलित किया गया है। इस गण की औषधियों के ये गुण हैं—
काकोल्यादिरयं पित्त शोणितानिलनाशनः।
जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥

का विधान है। पर इन यज्ञों में पशु, गौ और अजा की बलि दी जाती थी, यह बात सब विद्वानों को मान्य नहीं है। इन यज्ञों का क्या अभिप्राय है, इस विषय पर वैदिक युग के धार्मिक जीवन का निरूपण करते हुए पहले प्रकाश डाला जा चुका है। यह विषय अत्यन्त विवादग्रस्त है। इस ग्रन्थ में इसका अधिक विस्तार से विवेचन कर सकना सम्भव नहीं है।

गौ की अवध्यता—पर इस प्रसंग में यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर गौ को 'अघ्न्या' (जिसका वध न किया जा सके) कहा गया है, या 'अघ्न्या' को गौ के पर्यायवाची रूप से प्रयुक्त किया गया है। उदाहरणार्थ, एक मन्त्र में गौ को 'अघ्न्ये' सम्बोधन करके उसे शुद्ध जल पीने तथा तृण (घास) खाने के लिए कहा गया है।[1] एक अन्य मन्त्र में यह गौ 'अघ्न्या' है, यह कहकर उसके दूध में निरन्तर वृद्धि की प्रार्थना की गई है।[2] ये दोनों मन्त्र ऋग्वेद के हैं। अथर्ववेद में अघ्न्या शब्द गौ के पर्यायवाची रूप से प्रयुक्त किया गया है। परिवार में पति-पत्नी और पिता-पुत्र आदि में किस प्रकार सांमनस्य (मन का एकसदृश होना) और 'सहृदय' (हृदय का एकसदृश होना) हो, और सब कैसे एक-दूसरे से प्रेम करें, इसके लिए यह कहा गया है कि जैसे 'अघ्न्या' (गौ) अपने वत्स (बछड़े) से करती है।[3] गौ के लिए वेदों में 'अघ्न्या' शब्द प्रयुक्त होने से यह सूचित होता है कि वैदिक युग में गौ को अवध्य माना जाता था। इस दशा में उसका मांस खाये जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

(६) स्त्री शिक्षा और समाज में स्त्रियों की स्थिति

वैदिक युग में स्त्रियां भी पुरुषों के समान शिक्षा प्राप्त करती थीं, याज्ञिक कर्म-काण्ड में पुरुषों को सहयोग प्रदान करती थीं, और समाज में उनका महत्त्वपूर्ण एवं समुचित स्थान था। बालकों के समान बालिकाओं का भी यज्ञोपवीत संस्कार होता था, और वे भी ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करती हुई शिक्षा प्राप्त किया करती थीं। अथर्ववेद के एक मन्त्र के अनुसार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के पश्चात् ही कन्या युवा पति को प्राप्त करती है।[4] आश्वलायन श्रौत सूत्र में लिखा है, कि बालक और बालिका—दोनो के लिए ब्रह्मचर्य समान है (समानं ब्रह्मचर्यम्)। गोभिल गृह्य सूत्र में विवाह के समय जिस कन्या को वर के लिए प्रदान किया जाता है, उसके लिए 'यज्ञोपवीतिनीम्' (जिसने यज्ञोपवीत धारण किया हुआ हो) विशेषण का प्रयोग किया

---

१. 'सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥' ऋग्वेद १।१६४।४७

२. 'हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥' ऋग्वेद १।१६४।२७

३. 'सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं करोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥' अथर्ववेद ३।३०।१

४. 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।' अथर्ववेद ११।५।१८

गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में कन्याओं का उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार होता था, और वे भी ब्रह्मचर्याश्रम में रहती हुई विद्या का अध्ययन किया करती थीं। स्त्रियों के शिक्षित होने का ही यह परिणाम था कि यज्ञ सदृश धार्मिक कृत्यों में पत्नी अपने पति का हाथ बँटाती थी, और उसके बिना यज्ञ पूर्ण नहीं हो सकता था।[1]

कितनी ही स्त्रियाँ वेद मन्त्रों की ऋषि (रचयिता या द्रष्टा) भी हैं, जिनमें लोमशा, लोपामुद्रा, विश्ववारा, सिकता, विवस्वान्-पुत्री यमी, पुलोमपुत्री शची, कामगोत्रीया श्रद्धा, ब्रह्मवादिनी जुहू, अम्भृणपुत्री वाक्, सूर्या, इन्द्राणी, कक्षीवान्-पुत्री घोषा, अर्चनाना, गौरवीति, अपाला, असंगभार्या तथा अंगिराकन्या शाश्वती आदि उल्लेखनीय हैं। वैदिक ऋषियों में स्त्रियों का भी होना महत्त्व की बात है। उनकी कृतियों को वैदिक संहिताओं में स्थान दिया गया था, या उन्हें भी उन ऋषियों में परिगणित किया गया था जिन्होंने कि वेदमन्त्रों के अभिप्राय को स्पष्ट किया था। स्त्री-ऋषियों के कतिपय मनोभावों का यहाँ निदर्शन करना वैदिक युग की स्त्रियों की स्थिति को स्पष्ट करने में सहायक होगा। ऋग्वेद के एक सूक्त में पौलोमी शची द्वारा अपने मनोभाव इस प्रकार प्रगट किए गये हैं—मैं ज्ञानवती हूँ। मैं मूर्धन्य हूँ। मैं तेजस्वी वक्तृत्व करने वाली हूँ, मैं शत्रु का विनाश करने वाली हूँ, पति मेरे अनुकूल रहकर व्यवहार करे। मेरे पुत्र शत्रुओं का विनाश करने वाले हैं, मेरी पुत्री तेजस्विनी है, मैं सर्वत्र विजयी हूँ, मेरी प्रशंसा पति के विषय में है या मैं सदा अपने पति की प्रशंसा करती हूँ।[2] वैदिक युग की स्त्रियाँ सुशिक्षित, ज्ञानसम्पन्न, तेजस्विनी तथा पति से अनुकूल व्यवहार प्राप्त करने की आशा करने वाली होती थीं, यह इस मन्त्रों से स्पष्ट है।

ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में अनेक विदुषी स्त्रियों का उल्लेख विद्यमान है। शतपथ ब्राह्मण में राजा वैदेह जनक की सभा का वर्णन है, जिसमें कि कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मण एकत्र हुए थे। वहाँ वाचक्नवी (वाक् कुशल) गार्गी भी गई थी, और उसने महर्षि याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ भी किया था। अनेक प्रश्न पूछने के पश्चात् गार्गी ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया था—ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है। सम्भवतः, याज्ञवल्क्य इसका उत्तर नहीं दे सके थे और वे यह कहकर चुप हो गए थे, कि गार्गी! अब अधिक न पूछो।[3] ऐतरेय ब्राह्मण में कुमारी गन्धर्वगृहीता का उल्लेख है, जिसे वहाँ परम विदुषी तथा वक्तृता में प्रवीण कहा गया है।[4] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मैत्रेयी

---

१. 'अयज्ञो वा ह्येष योऽपत्नीकः।' तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।२।६

२. 'अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी।
मभेदनु क्रतुं पतिः सेहनाया उपाचरेत् ॥
ममपुत्राःशत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि सञ्जया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥' ऋग्वेद १०।१५९।२-३

३. 'कस्मिन्नु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गी मातिप्राक्षीर्मा ते व्यपप्तदनतिप्रश्न्या वै देवता अतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीः।' शतपथ १४।६।६।१

४. ऐतरेय ब्राह्मण ५।४

याज्ञवल्क्य की पत्नी थी, जिसकी रुचि सांसारिक सुख-भोग के प्रति न होकर अध्यात्म-चिन्तन तथा ब्रह्मविद्या में थी। जब याज्ञवल्क्य ने परिव्राजक होने का निश्चय किया, तो उसने चाहा कि अपनी सब सम्पत्ति को अपनी दोनों पत्नियों—मैत्रेयी और कात्यायनी में बाँट दें। यह जानकर मैत्रेयी ने कहा—यदि धनधान्य से परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी भी मुझे प्राप्त हो जाए, तो उससे मैं अमृतत्व कैसे प्राप्त कर सकूँगी। जिससे मैं 'अमृत' (अमर) नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी। जो ज्ञान आपको प्राप्त है, वही मुझे प्रदान कीजिए।[1] यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने जो ज्ञान मैत्रेयी को दिया, वह विशदरूप से शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित है। काशकृत्स्नी नामक एक महिला ने मीमांसा दर्शन पर एक ग्रन्थ की रचना की थी, और इस दर्शन पद्धति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। महाभारत में ब्राह्मणी काशकृत्स्नी द्वारा प्रोक्त मीमांसा का उल्लेख आया है। रामायण के अनुसार सीता प्रतिदिन वैदिक सूक्तों द्वारा प्रार्थना किया करती थी, और राम की माता कौशल्या रेशमी कपड़े पहन कर अग्निहोत्र के अनुष्ठान में तत्पर रहती थी, जिसमें कि वह स्वयं मन्त्रों का पाठ किया करती थी। महाभारत में लिखा है कि पाण्डवों की माता कुन्ती अथर्ववेद में निष्णात थीं। स्त्रियाँ अध्यापन का कार्य भी किया करती थीं। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उपाध्याय की पत्नी को 'उपाध्यायानी' कहा जायगा, और जो स्त्री स्वयं अध्यापन का कार्य करे उसके लिए 'उपाध्याया' शब्द प्रयुक्त होगा। इससे स्पष्ट है, कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ भी अध्यापन का कार्य किया करती थीं।

स्त्री का सम्पत्ति पर अधिकार—वैदिक युग में स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त था या नहीं, यह वैदिक संहिताओं से स्पष्ट नहीं होता। पर ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह संकेत अवश्य विद्यमान है, कि सन्तान न होने पर पति के पश्चात् पत्नी को ही सम्पत्ति की स्वामिनी माना जाता था। इस मन्त्र में 'अन्योदर्य' (अन्य स्त्री के गर्भ से उत्पन्न) सन्तान को दत्तक पुत्र बना कर उसे सम्पत्ति प्रदान करना बहुत वाञ्छनीय नहीं माना गया है।[2] इससे यह संकेत मिलता है कि दत्तक पुत्र की तुलना में स्त्री का सम्पत्ति पर अधिकार होना वैदिक युग में अभीष्ट था। पर भाई होने की दशा में पुत्री का पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं माना जाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार 'तान्व' (औरस) पुत्र के होने पर उसकी बहिन 'रिक्थ' (पैतृक सम्पत्ति) में कोई भाग प्राप्त नहीं करती।[3] पर यदि माता-पिता की सन्तान केवल कन्याएँ ही हों, तो

---

१. 'सा होवाच मैत्रेयी। यन्मऽ इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति···येनाहं नाहममृता स्यां किमहं तेन कुर्याम यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति।' शतपथ ब्राह्मण १४।५।४।२-३

२. 'न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः॥' ऋग्वेद ७।४।८

३. 'न जामये तान्वो रिक्थमारैक्चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥ ऋग्वेद ३।३१।२

वे ही पैतृक सम्पत्ति की अधिकारिणी मानी जाती थीं। विवाह हो जाने पर भी कन्या धन प्राप्त करने के लिए पितृकुल में आया करती थी।[1] यदि कोई कन्या विवाह न करे और पितृकुल में ही रहे, तो भाई होने की दशा में भी पैतृक सम्पत्ति में उसका हिस्सा माना जाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में प्रार्थना की गई है, कि हे इन्द्र ! मैं आपसे उसी प्रकार धन की याचना करता हूँ जैसे कि माता-पिता के साथ रहने वाली और (पितृगृह में ही) बूढ़ी हो जाने वाली कन्या घर से अपना हिस्सा माँगती है।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे इस दशा में परिवर्तन आने लगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय तक स्त्रियों को पैतृक सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रखने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी। इसीलिए तैत्तिरीय संहिता में यह कहा गया है कि स्त्रियाँ 'अदायादी' (जिन्हें दायाद का अधिकार न हो) होती हैं, और उन्हें दाय की इच्छा नहीं करनी चाहिए।[3] शतपथ ब्राह्मण में भी पत्नी को दाय से वंचित कहा गया है।[4] स्मृतियों और धर्मसूत्रों में सम्पत्ति पर स्त्रियों के अधिकार के सम्बन्ध में अनेक व्यवस्थाएँ की गई हैं, जिनमें कहीं-कहीं विरोध भी विद्यमान है। इसका कारण सम्भवतः यह था, कि भारत के सब प्रदेशों में उत्तराधिकार विषयक नियम एक समान नहीं थे, और विभिन्न समयों में उनमें परिवर्तन भी होते रहे थे। यही कारण है कि मनु, याज्ञवल्क्य, गौतम और बृहस्पति आदि के विचार इस प्रश्न पर एकसदृश नहीं हैं, कि स्त्रियों को सम्पत्ति पर अधिकार किस अंश तक प्राप्त हो। मनु ने यह व्यवस्था की है, कि कन्या के भाई अपने-अपने भाग से एक अंश (चौथाई अंश) अपनी बहन को दिया करें, जो ऐसा नही करते वे पतित होते हैं।[5] याज्ञवल्क्य स्मृति में भी भाइयों द्वारा बहिन के लिए चतुर्थ अंश दिए जाने की पुष्टि की गई है।[6] महाभारत के अनुसार पुत्र न होने की दशा में पुत्रियों को ही सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति प्राप्त होनी चाहिए,[7] और दत्तक पुत्र की तुलना में औरस कन्या की स्थिति अधिक ऊँची है।[8] इसी प्रकार की कितनी ही अन्य भी व्यवस्थाएँ प्राचीन साहित्य में विद्यमान हैं, जिनसे स्त्री के सम्पत्ति-विषयक अधिकार सूचित होते हैं।

---

१. 'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।' ऋग्वेद १।१२४।७
२. 'अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।
कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो येन मामहः ॥' ऋग्वेद २।१७।७
३. तैत्तिरीय संहिता ६।५।८।२
४. शतपथ ब्राह्मण ४।४।२।१३
५. 'स्वेभ्यो अंशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात् स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥' मनुस्मृति ९।११८
६. 'असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः।
भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांशं तु तुरीयकम् ॥' याज्ञवल्क्य स्मृति २।१२४
७. 'अभ्रातृका समग्राह्या चार्था हूँत्यपरे विदुः।' महाभारत १३।८८।२२
८. 'दुहिताप्यथ जाताद्धि पुत्रादपि विशिष्यते।' महाभारत १३।८०।११

ग्यारहवाँ अध्याय

वैदिक युग का आर्थिक जीवन

(१) खेती और पशुपालन

खेती—वैदिक युग के आर्थिक जीवन के मुख्य आधार कृषि और पशुपालन थे। इस समय तक आर्य लोग स्थायी रूप से ग्रामों और नगरों में बस गए थे, और उन्होंने कृषि, पशुपालन तथा विविध प्रकार के शिल्पों द्वारा अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करना प्रारम्भ कर दिया था। खेती का उनकी दृष्टि में बहुत महत्त्व था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि कवष ऐलूष ने द्यूत कर्म की निन्दा करते हुए कहा है—पासों का खेल मत खेलो, खेती करो, जो वित्त उससे प्राप्त हो उसे ही बहुत मानकर मोद करो।[1] खेती को अपने आर्थिक जीवन का आधार मानने के कारण वैदिक आर्य पृथिवी को माता की दृष्टि से देखते थे। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में कहा गया है—पृथिवी मेरी माता है, मैं पृथिवी का पुत्र हूँ।[2]

वेद मन्त्रों में उन अन्नों का भी उल्लेख मिलता है, जिनकी खेती इस युग में की जाती थी। ऋग्वेद में केवल धान[3] और यव[4] का उल्लेख है। यव से जौ अभिप्रेत है, और धान या धान्य से चावल। पर अन्य अन्नों का उल्लेख न होने से यह परिणाम भी पूर्ण विश्वास के साथ नहीं निकाला जा सकता, कि ऋग्वेद के समय में आर्यों को कोई अन्य अन्न ज्ञात ही नहीं था। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद में तैयार हुई फसल को काटने, उसके पूले बनाने, खलिहान में पूलों को ले जाकर उनसे अनाज को पृथक् करने और फिर उसे नाप कर 'स्थिवियों' में संचित करने का उल्लेख है। जब खेती इतनी विकसित दशा में हो, तो यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा कि ऋग्वेद के युग में आर्यों को अन्य भी अनेक अन्नों का ज्ञान होगा, और वे उनकी भी खेती किया करते होंगे।

यजुर्वेद के एक मन्त्र में निम्नलिखित अन्नों के नाम दिये गये हैं—व्रीहि (धान), यव (जौ), माष (उड़द), तिल, मुद्ग (मूंग), खल्व (?), प्रियङ्गु, अणु, श्यामाक

---

१. 'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥' ऋग्वेद १०।३४।१३

२. 'तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।' अथर्ववेद १२।१।१२

३. 'येन तोकाय तनयाय धान्यं बीजं वहध्वे अक्षितम् ।' ऋग्वेद ५।५३।१३

४. ऋग्वेद २।१४।११

(सवाँई), नीवार, गोधूम (गेहूँ) और मसूर ।[१] अथर्ववेद में व्रीहि, माष, यव और तिल का उल्लेख है।[२] अन्नों व दालों के अतिरिक्त कतिपय अन्य कृषिजन्य पदार्थों का भी वैदिक युग के आर्यों को ज्ञान था । इनमें इक्षु (ईख) उल्लेखनीय है । अथर्ववेद में इक्षु का उल्लेख मिलता है ।[३] ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा आरण्यकों में भी अनेक अन्नों तथा अन्य कृषिजन्य पदार्थों के नाम आये हैं । कृषि द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले इतने पदार्थों का वर्णन इस बात में कोई सन्देह नहीं रहने देता, कि वैदिक युग में खेती अच्छी उन्नत दशा को प्राप्त कर चुकी थी । यही कारण हैं, जो वेदों में फसल बोने और काटने आदि के सम्बन्ध में अनेक निर्देश विद्यमान हैं । उस समय जमीन को जोतने के लिये हलों का प्रयोग किया जाता था, और उन्हें चलाने के लिए बैल जोते जाते थे । वेदों में हल के लिये 'लाङ्गल'[४] और 'वृक'[५] शब्दों का प्रयोग हुआ है । यजुर्वेद में हल के लिए 'सीर' शब्द का प्रयोग मिलता है ।[६] हल का जुआ बैलों की जोड़ी पर रखा जाता था ।[७] यद्यपि साधारणतया हल चलाने के लिए दो बैल प्रयोग में लाये जाते थे, पर ऐसे भारी हल भी होते थे, जिन्हें खींचने के लिए छह, आठ या और भी अधिक बैल जोते जाया करते थे । जमीन की पैदावार को बढ़ाने के लिये खेतों में खाद भी डाला जाता था, जो गोबर (करीष) का होता था । खेतों की सिंचाई भी की जाती थी। ऋग्वेद के एक मन्त्र में जल के दो प्रकार कहे गये हैं, खनित्रिमा और स्वयंजा ।[८] खनित्रिमा वह जल होता था, जिसे खोद कर प्राप्त किया जाए, जैसे कुएँ का जल । नदी, नालों, सोतों, वर्षा आदि के जल को स्वयंजा कहते थे । ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में कूपों का उल्लेख मिलता है,[९] ऐसे कूपों का भी जिनका जल 'अक्षित' (कभी समाप्त न होने वाला)

---

१. 'व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।' यजुर्वेद १८।१२

२. अथर्ववेद ६।१४०।२

३. 'परित्वा परितत्नुनेक्षुणागाम विद्विषे ।' अथर्ववेद १।३४।५

४. 'शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।' ऋग्वेद ४।५७।४

५. 'यवं वृकेण कर्षथः ।' ऋग्वेद ८।२२।६

६. यजुर्वेद १८।७

७. ऋग्वेद १०।१०१।३ .

८. 'या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयञ्जाः ।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥'
ऋग्वेद ७।४९।२

९. ऋग्वेद १।५५।८, ४।१७।१६
वेद में कुएँ के लिए 'अवत' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

होता था।[1] ऋग्वेद में ऐसे संकेत भी विद्यमान हैं, जिनमें रस्सी और डोल से और रहट द्वारा कुओं से पानी निकाला जाना सूचित होता है।[2] खेतों की सिंचाई के लिए कुओं का जल भी प्रयुक्त किया जाता था, जिसके लिए नालियाँ (सुषिरा) बनायी जाती थीं।[3]

ऋग्वेद के अनुसार खेती के लिए हल द्वारा भूमि को जोतने की शिक्षा सर्वप्रथम अश्विनौ द्वारा दी गई थी।[4] अथर्ववेद में लिखा है कि पृथी वैन्य ने सबसे पहले खेती करना और खेती द्वारा 'सस्य' उत्पन्न करना प्रारम्भ किया था।[5] अश्विनौ से शिक्षा प्राप्त कर आर्यों ने जब एक बार खेती करना शुरू कर दिया, तो उसमें निरन्तर उन्नति होती गई। हल से खेत को जोतकर उसमें बीज बोये जाने लगे, पौदों की सिंचाई की जाने लगी और फसल के तैयार हो जाने पर उसे दात्र[6] (दरांती) से काटकर पर्षों (पुलियों) में बांध कर खल (खलिहान) में ले जाया जाने लगा।[7] आज भी भारत में खेती का प्रायः यही ढंग है। शतपथ ब्राह्मण में खेती की विविध प्रक्रियाओं के लिये कर्षण (जुताई), वपन (बुआई), लुनन (कटाई) और मृणन (मंडाई) शब्दों का प्रयोग किया गया है।[8] जब अन्न भूसे से अलग हो जाता था, तो 'तितउ' (छननी या सूप) से उसे छान लिया जाता था।[9] फिर 'ऊर्दर'[10] (वह पात्र जिससे अनाज नापा जाए) से उसे नाप कर सुरक्षा के लिए 'स्थिवि' (अनाज जमा करने का कोठा) में रख दिया जाता था।[11] वैदिक युग के आर्यों का आर्थिक जीवन कृषि पर निर्भर था, अतः उन्होंने 'क्षेत्रपति' नाम से एक ऐसे देवता की भी कल्पना कर ली थी, जिसकी कृपा से उनके खेत फलते-फूलते थे, और जिससे वे यह प्रार्थना किया करते थे कि उनके

---

१. 'इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्। उद्रिणं सिंचे अक्षितम्।' ऋग्वेद १०।१०१।६
२. 'द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम्॥' ऋग्वेद १।१०१।७
३. 'सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव।' ऋग्वेद ८।६९।१२
४. 'यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा।
अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय॥' ऋग्वेद १।११७।२१
५. 'तां पृथी वैन्योधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्।' अथर्ववेद ८।१०(४)।११
६. ऋग्वेद ८।७८।१०
७. 'अभीदमेकमेको अस्मि निष्षालभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।
खले न पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥'
ऋग्वेद १०।४८।७
८. 'यामेवामतोमनुष्याश्विन्ति कृषन्तो ह स्मैव पूर्वे वपन्तो यन्ति लुनन्तोऽपरे मृणन्तः शश्वद्धैभ्योऽकृष्टपच्या एवौषधयः पेचिरे।' शतपथ ब्राह्मण १।५।६।३
९. ऋग्वेद १०।७१।२
१०. 'तमूर्दरं न पृणता यवेन।' ऋग्वेद २।१४।११
११. ऋग्वेद १०।६८।३

खेत 'सुफल' बनें और उनसे उसी प्रकार धन-धान्य का प्रवाह बहता रहे जैसे कि गौ से दूध की धाराएँ बहती हैं। क्षेत्रपति देवता की स्तुति में ऋग्वेद में अनेक मन्त्र विद्यमान हैं, जिनका ऋषि वामदेव है। वामदेव द्वारा विरचित इस सूक्त में प्रार्थना की गई है,[1] कि हमारे 'फाल' (हल का नुकीला भाग) सुखपूर्वक खेत का कर्षण किया करें, 'कीनाश' (हलवाहे) सुखपूर्वक हल चलाया करें और पर्जन्य (बादल) मधु के समान जल द्वारा हमें सुख पहुँचाएँ।

पशुपालन—खेती के साथ पशुपालन का घनिष्ट सम्बन्ध है। वैदिक युग के आर्य जहाँ खेती के लिए पशु पालते थे, वहाँ साथ ही दूध घी की प्राप्ति और सवारी आदि के लिये भी विविध पालतू पशुओं को पालन किया करते थे। पालतू पशुओं में बैल और गाय प्रधान थे। हल चलाने के अतिरिक्त रथों को खींचने के लिए भी बैलों का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में सारथि केशी द्वारा चलाये जाने वाले ऐसे वाहन का वर्णन है, जिसमें 'ऋषभ' जुता हुआ था।[2] गाय का उपयोग दूध और घी के लिये था। गौ के घी दूध को आर्य लोग बहुत उपयोगी व स्वास्थ्यप्रद मानते थे। इसीलिये वे उसे माता तथा 'अघ्न्या' (जिसकी हत्या न की जा सके) समझते थे। ऋग्वेद में एक सूक्त है, जिसकी देवता 'गावः' है। इसमे ऋषि बार्हस्पत्य भरद्वाज द्वारा गौ के महत्त्व का अत्यन्त सुन्दर रूप में वर्णन किया गया है। ऋषि का कथन है, कि गौवें सब 'भग' ऐश्वर्य) का मूल हैं। मेरे लिए गौवें ही इन्द्र हैं। गौओं का दूध ही सोम रस का पहला भक्ष (घूंट) है। ये जो गौवें हैं, हे मनुष्यों! वे इन्द्र की साक्षात् रूप हैं। मैं हृदय से और मन से इन्हीं इन्द्ररूपी गौओं को चाहता हूँ। हे गौओ, तुम कृश (निर्बल) व्यक्ति को बलवान् बना देती हो, और श्रीविहीन व्यक्ति को सुप्रतीक, (सुन्दर व श्रीसहित) कर देती हो। तुम्हारी वाणी भद्र (कल्याणकारी) हैं, तुम द्वारा मेरा घर भद्र हो जाता है, और सभाओं में तुम्हारे महत्त्व का बहुधा बखान किया जाता है।[3] ऋग्वेद के एक अन्य सूक्त में ऋषि काक्षीवत शबर ने प्रार्थना की है कि सन्तान वाली गौवें दूध से हमें तृप्त करती हुई हमारे गोष्ठ (गौशाला) में सदा प्रसन्नतापूर्वक रहें।[4] जो आर्य लोग गौवों को इतना महत्त्व देते थे, वे उन्हें बहुत बड़ी संख्या में पाला भी करते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में चैद्य कशु के दान की प्रशंसा करते हुए यह कहा गया है, कि उसने एक सौ ऊँट और दस सहस्र गौवें दान में दी थीं।[5] कशु के लिए ऐसा कर सकना तभी सम्भव था, जब कि गौवों को बहुत बड़ी संख्या में पाला जाता हो।

---

१. ऋग्वेद मण्डल ४, सूक्त ५७

२. 'ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत्सारथिरस्यकेशी।' ऋग्वेद १०।१०२।६

३. ऋग्वेद ६।२८।५-६

४. शिवाः सती रूपा नो गोष्ठमस्माकत्तासां वयं प्रजया सं सदेम।'

ऋग्वेद १०।१६९।४

५. ता मे अश्विना सनीनां विद्यातं नवानाम्।
यथा चिच्चैद्यः कशुः शतमुष्ट्रानां ददत्सहस्रा दश गोनाम्॥' ऋग्वेद ।५८।३७

वेदों में अन्यत्र भी बड़ी संख्या में गौवों के दान दिये जाने का उल्लेख है। यद्यपि गौवें अनेक रंगों की होती थीं, और रोहित (लाल), शुक्र (श्वेत), कृष्ण (काला) और पृश्नि (चितकबरी) होने के कारण उनकी पहचान कर सकना भी कठिन नहीं था, पर क्योंकि उनकी संख्या बहुत अधिक होती थी, अतः पहचान के लिए उनके कानों पर अनेक प्रकार के चिह्न भी बना दिये जाते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में सहस्र 'अष्टकर्ण्य' गौवों को दान में देने का उल्लेख है।[1] जिन गौओं के कान पर ८ अंक का चिह्न बना दिया गया हो, उन्हें 'अष्टकर्ण्य' कहते थे। कानों पर दात्र (दराँती), स्थूण (खम्बा) आदि के चिह्न भी पहचान के लिये बना दिये जाते थे।[2] वैदिक युग के आर्यों के आर्थिक जीवन में गौवों का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था, कि विनिमय के लिए भी गौ को मूल्य का निर्देशन करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि वामदेव पूछते हैं कि वह कौन है जो मेरे इन्द्र (इन्द्र की प्रतिमा) को दस गौवों के बदले में खरीद रहा है।[3]

गाय और बैल के अतिरिक्त अन्य भी अनेक पशुओं को वैदिक युग के आर्य पाला करते थे। इनमें घोड़े, ऊंट, भेड़, बकरी, हाथी, गधे, मृग और कुत्ते मुख्य थे। क्योंकि घोड़े सवारी तथा युद्ध में काम आते थे, अतः उन्हें भी बहुत महत्त्व दिया जाता था। इसीलिये उन्हें सुवर्ण के आभूषणों से सजाया भी जाता था[4], और गौवों के समान दान में भी दिया जाता था। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर घोड़ों के दान का उल्लेख है।[5] एक सूक्त में यह कहा गया है कि जो कोई दक्षिणा में घोड़े देता है, द्युलोक को प्राप्त होता है, और दक्षिणा में दी जाने वाली वस्तुओं में गौवों, हिरण्य और अन्न के साथ घोड़ों को भी गिनाया गया है।[6] एक मन्त्र में तो शत सहस्र (एक लाख) घोड़ों के दान का उल्लेख किया है।[7] घोड़ों के साथ गधों को पालने की प्रथा भी वैदिक युग में थी। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि पृषध्र काण्व द्वारा प्रस्कण्व के दान की प्रशंसा में यह कहा गया है कि उसने सौ गर्दभ (गधे), सौ भेड़ें और सौ दास दान में दिये।[8] कुत्ते जहाँ घर की रखवाली करते थे, वहाँ चोरों तथा वन्य जन्तुओं को भगाने का कार्य भी किया करते थे। एक मन्त्र में ऋषि वसिष्ठ

---

१. 'सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत ।' ऋग्वेद १०।६२।७

२. मैत्रायणी संहिता ४।२।९

३. 'क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः ।' ऋग्वेद ४।२४।१०

४. ऋग्वेद ४।२।८

५. 'उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह सूर्येण ।' १०।१०७।२

६. ऋग्वेद १०।१०७।७

७. 'यः सहस्रं शताश्वं सद्यो दानाय मंहते ।' ऋग्वेद १०।६२।८

८. 'शतं मे गर्दभानां शतमूर्णावतीनाम् । शतं दासाँ अति स्रजः ॥' ऋग्वेद ८।५६।३

ने सारमेय (कुत्ते) से कहा है कि वह स्तेन (चोर) और तस्कर को भगा दे।[1] बैलों और घोड़ों के समान ऊँटों को भी वैदिक युग में पालतू पशुओं के रूप में प्रयुक्त करना प्रारम्भ हो गया था। एक मन्त्र में चार जोड़ी उष्ट्र (ऊंट) दान में दिये जाने का उल्लेख है।[2] एक मन्त्र से यह संकेत मिलता है, कि ऊँटों का प्रयोग युद्ध के लिए भी किया जाता था।[3] वैदिक युग में हाथी को भी पालतू बना लिया गया था, और उसे राजकीय सवारी समझा जाता था।[4] हाथी को वश में रखने के लिये प्रयुक्त होने वाले अंकुश का भी ऋग्वेद में उल्लेख है।[5] गाय के समान भैंस (महिष) को भी वैदिक युग में पाला जाता था। एक मन्त्र में सहस्र महिषों का उल्लेख विद्यमान है।[6] अजा (बकरी) और अवि (भेड़) के पाले जाने के संकेत भी वैदिक साहित्य में पाये जाते हैं। यजुर्वेद में हस्तिप (हाथी पालने वाले), अश्वप (घोड़े पालने वाले) और गोपाल के साथ अजपाल और अविपाल का भी उल्लेख है।[7] भेड़ों को पालने का एक प्रयोजन यह था, कि उनकी ऊन से कपड़े बनाये जा सकें। ऋग्वेद में भेड़ों की ऊन के वस्त्रों का वर्णन है[8], और परुष्णी (रावी) नदी के समीपवर्ती प्रदेश की ऊन का विशेषतया उल्लेख है।[9]

वैदिक साहित्य में बहुत-से अन्य भी पशुपक्षियों के नाम आये हैं, जिनसे वैदिक युग के आर्य भली-भाँति परिचित थे। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०।९०) में जहाँ अश्व, गौ, अजा और अवि की उत्पत्ति का उल्लेख है, वहाँ साथ ही अन्य पशुओं का भी, जिन्हें कि तीन प्रकार का कहा गया है—वायव्य, आरण्य और ग्राम्य।[10] पालतू पशु ग्राम्य कहाते थे। पक्षियों की संज्ञा 'वायव्य' थी, और जंगली पशुओं को आरण्य कहा जाता था। अथर्ववेद में मृग, सिंह, व्याघ्र, वृक (भेड़िया), ऋक्षीक (रीछ), वराह (सुअर) आदि आरण्य पशुओं और हंस, सुपर्ण आदि द्विपाद 'वायव्य' पक्षियों का उल्लेख मिलता है।[11] सांप, बिच्छू आदि जन्तुओं का भी इसी प्रसंग में ऋग्वेद में वर्णन किया गया है।

---

१. 'स्तेनं राय सारमेय तस्करं वा पुनः सर।' ऋग्वेद ७।५५।३
२. ऋग्वेद ८।६।४८
३. ऋग्वेद १।१३८।२
४. ऋग्वेद ४।४।१
५. ऋग्वेद १०।४४।८
६. ऋग्वेद ८।१२।८
७. यजुर्वेद ३०।११
८. ऋग्वेद १०।२६।६
९. ऋग्वेद ४।२२।२
१०. ऋग्वेद १०।९०।८
११. अथर्ववेद १।४८-५१

(२) उद्योग और व्यवसाय

यद्यपि वैदिक युग में आर्यों के जीवन निर्वाह के मुख्य आधार खेती और पशुपालन थे, पर अनेकविध उद्योगों और व्यवसायों का भी उस समय प्रारम्भ हो चुका था। उस समय वस्त्र बुनने वाले, कपड़े धोने वाले, लकड़ी और धातुओं का काम करने वाले और बरतन बनाने वाले आदि शिल्पों का अनुसरण करने वाले लोगों ने जुलाहा, धोबी, बढ़ई, लुहार आदि जातियों का रूप प्राप्त नहीं किया था। एक ही परिवार के विविध सदस्य विभिन्न शिल्पों का अनुसरण किया करते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है, कि मैं कारु (शिल्पी) हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता उपले पाथती है, हम सब की बुद्धि विभिन्न प्रकार की है।[1] पर इसमें सन्देह नहीं, कि वैदिक युग में अनेक शिल्प उन्नत दशा को प्राप्त हो चुके थे। इसी सूक्त में यह भी कहा गया है, कि मनुष्यों की बुद्धि व क्षमता नाना प्रकार की होती है जिसके कारण वे नाना प्रकार के व्रतों (धन्धों) को अपनाते हैं। बढ़ई लकड़ी के टुकड़े की इच्छा करता है, वैद्य रोगी की, और ब्राह्मण (ऋत्विग्) ऐसे यजमान की जो सोम रस को निकाल सके।[2] रुचि, बुद्धि और क्षमता के भेद के कारण ही विविध लोग विभिन्न प्रकार के शिल्पों व व्यवसायों का अनुसरण करने में तत्पर होते हैं, यह तथ्य वैदिक ऋषियों को भली-भाँति ज्ञात था। वैदिक युग के कतिपय प्रमुख उद्योग निम्नलिखित थे—

वस्त्र उद्योग—वैदिक युग में वस्त्र उद्योग अच्छी उन्नत दशा में था। कपड़ा बुनने वाले (जुलाहे) को 'वाय' कहा जाता था, जो विविध प्रकार के वस्त्र बुना करता था। अधोवस्त्र की संज्ञा 'वास' थी, और उसे बुनने वाले को 'वासोवाय' कहते थे।[3] वस्त्र निर्माण में ताने-बाने का उपयोग होता है। ताने को 'तन्तु' कहा जाता था, और बाने को 'ओतु'।[4] अथर्ववेद में रात और दिन को दो युवतियों के समान बता कर यह कहा गया है कि ये युवतियाँ (दिन और रात) वर्ष का ऐसा ताना-बना बुनती हैं जिसका कभी अन्त नहीं होता।[5] खड्डी सदृश जिन उपकरणों पर कपड़े बुने जाते थे, उनके नाम भी वैदिक मन्त्रों में आये हैं। ऐसे नाम 'मयूख' (खड्डी की खूंटी) और 'तसर' (ढरकी) आदि हैं।[6] वस्त्र बनाने के लिये ऊन, रेशम तथा कपास का प्रयोग किया जाता था। वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर ऊन और उससे बने कपड़ों का उल्लेख आया है। यजुर्वेद में लिखा है कि 'कवि' (कुशल) व्यक्ति ऊर्णा सूत्र (कती हुई ऊन) से बुनाई करते हैं।[7] परुष्णी (व्यास) नदी के तटवर्ती प्रदेश तथा गान्धार देश

१. ऋग्वेद १०।११२।३
२. ऋग्वेद ९।११२।१
३. 'वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्।' ऋग्वेद १०।२६।६
४. ऋग्वेद ६।९।२
५. अथर्ववेद १०।७।४२
६. ऋग्वेद १०।१३०।२
७. 'ऊर्णा सूत्रेण कवयो वयन्ति।' यजुर्वेद १९।८०

की ऊन इस युग में बहुत प्रसिद्ध थी। एक मन्त्र में परुष्णी प्रदेश की ऊन के लिये 'शुन्ध्यव' विशेषण का प्रयोग किया है[1], जिससे उसकी उत्कृष्टता सूचित होती है। एक अन्य मन्त्र में गन्धार की भेड़ों की 'रोमश' ऊन का वर्णन है।[2] परुष्णी तथा गन्धार के ऊनी वस्त्रों के उत्कृष्ट तथा प्रसिद्ध होने के कारण वे दूर-दूर तक बिकने के लिये जाया करते थे, और यह व्यापार सम्भवतः सिन्ध नदी द्वारा होता था। इसीलिये एक मन्त्र में सिन्ध नदी को 'सुवासा' और 'ऊर्णावती' कहा गया है।[3] इन शब्दों से यही संकेत मिलता है, कि सुन्दर वस्त्र तथा सुन्दर ऊन सिन्धु नदी द्वारा ले जायी जाया करती थी। ऊन का प्रयोग केवल कपड़े बनाने के लिये ही नहीं होता था, अपितु उससे बनी जाली छानने के लिये भी प्रयुक्त की जाती थी। एक स्थान पर 'मेष्य' (मेष-मेढा) और 'अवि-भेड़) से बने 'पुनान' (छननी या जाली) द्वारा छानकर सोमरस को कलशों में रखने का उल्लेख है।[4] ऊन कातने का कार्य प्रायः स्त्रियां करती थीं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है, कि ऊर्णासूत्र बनाने का काम स्त्रियों का ही है।[5] शतपथ में कौश (कौशेय या रेशमी) 'वासः' (वस्त्रों) का भी उल्लेख है (शतपथ ५।२।१।८)। 'सूची' (सुई) से कपड़े सीने की कला भी इस युग में विकसित हो चुकी थी। ऋग्वेद के एक मन्त्र में छिद्र करती हुई सुई से सीने का उल्लेख विद्यमान है।[6]

धातु उद्योग—वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर 'अयस्' शब्द आया है।[7] संस्कृत में इसका अर्थ लोहा है। पर वेदों में भी 'अयस्' से लोहा ही अभिप्रेत है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। क्योंकि 'अयस्' का रंग लाल होने के संकेत वेद मन्त्रों में विद्यमान है, अतः अनेक विद्वान् उसे ताम्बे का पर्यायवाची मानते हैं। अयस् से चाहे लोहा अभिप्रेत हो और चाहे ताम्बा, यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के समय में धातु शिल्प का भली भांति प्रयोग होने लगा था, और धातु का उपयोग कृषि के उपकरणों, युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों तथा अन्य औजारों के निर्माण के लिये किया जाने लग गया था। लुहार के लिये ऋग्वेद में 'कर्मार' शब्द आया है। एक मन्त्र में ब्रह्मणस्पति की उपमा कर्मार से दी गई है, जो धौंकनी से आग को प्रदीप्त करता है।[8] कर्मार द्वारा तैयार वस्तुओं की बहुत अच्छी कीमत प्राप्त होती थी, इसीलिये एक मन्त्र में यह कहा गया है कि कर्मार सुवर्ण की इच्छा करता है।[9] अथर्ववेद में

---

१. ऋग्वेद ४।२२।२
२. 'सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका।' ऋग्वेद १।१२६।७
३. ऋग्वेद १०।७५।८
४. ऋग्वेद ९।८६।४७-४८
५. शतपथ ब्राह्मण १२।७।२।११
६. ऋग्वेद २।३२।४
७. ऋग्वेद ४।२।१७; ६।३।५
८. 'बृहस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।' ऋग्वेद १०।७२।२
९. ऋग्वेद ९।११२।२

कर्मारों की गणना रथकारों के साथ की गई है, और राजा के मुख से यह प्रार्थना करायी गई है कि ये धीवान, रथकार और मनीषी कर्मार तथा मेरे चारों ओर उपस्थित सब जन मेरी सहायता करें।[1] कर्मार 'अयस्' नाम की जिस धातु से विविध प्रकार के उपकरण बनाता था, वह लोहा था या ताम्बा, इस विषय पर भी वैदिक साहित्य से कुछ प्रकाश पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण में लोह और अयस् दोनों का उल्लेख किया गया है,[2] जिससे इनका पृथक्त्व सूचित होता है। यजुर्वेद में जहाँ अनेक धातुओं का परिगणन किया गया है, वहाँ हिरण्य, त्रपु और सीसे के साथ 'अयस्' और 'लोह' पृथक् रूप से परिगणित हैं।[3] अयस् सदृश धातुओं से विविध उपकरण बनाने के लिये इन्हें आग में तपाया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है, कि यदि अयस् को बहुत तपाया जाए, तो वह सोने के रंग का हो जाता है।[4] धातु द्वारा कौन-सी वस्तुएं बनायी जाती थीं, इस विषय मे वैदिक साहित्य से अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती। ऋग्वेद के एक मन्त्र मे 'आयसीः पुरः' (अयस् द्वारा निर्मित नगर) का उल्लेख है, और इसी मन्त्र में वर्म (कवच) और वज्र भी आये हैं।[5] सम्भवतः, इन तीनों के निर्माण में अयस् का प्रयोग होता था। ऋग्वेद के एक सूक्त में ऐसे वज्र का उल्लेख है, जिससे वृत्र का घात किया जाता है। उसके साथ ही 'वाशी' नामक एक अन्य उपकरण या अस्त्र का नाम दिया गया है, जिसे स्पष्ट रूप में 'आयसीः' कहा गया है।[6] अयस्, लोह, त्रपु और सीसे जैसी धातुओं का उपयोग विविध प्रकार के पात्रों को बनाने के लिये भी किया जाता था। यजुर्वेद में कुम्भी, सुराधानी (जिस पात्र में सुरा रखी जाए) और स्थाली (थाली) सदृश पात्रों का उल्लेख है,[7] जिन्हें धातुओं द्वारा ही बनाया जाता होगा। रथ सदृश वाहनों के निर्माण में भी धातुएँ प्रयुक्त होती होंगी, यह कल्पना करना असंगत नहीं है। वेदों में अनेक स्थानों पर रथों का उल्लेख मिलता है।[8]

अयस्, लोह, त्रपु और सीसा आदि धातुओं के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में सुवर्ण या हिरण्य का अनेक स्थानों पर वर्णन है। सिन्धु नदी को 'हिरण्ययी' कहा गया है, क्योंकि उसके द्वारा धन की प्राप्ति होती थी।[9] कर्मार (धातु शिल्पी) अपने शिल्प से

---

१. 'ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।' अथर्ववेद ३।५।६

२. 'एतदयो न हिरण्यं यल्लोहायसम्।' शतपथ ब्राह्मण ५।४।१।२

३. 'हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामञ्च मे लोहञ्च मे सीसञ्च मे त्रपुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।' यजुर्वेद १८।१३

४. 'तस्मादयो बहुध्मातं हिरण्यसंकाशमिवैव भवति।' शतपथ ब्राह्मण ६।१।३।५

५. ऋग्वेद १०।१०१।८

६. 'वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु निध्रुविः।' ऋग्वेद ८।२९।३

७. 'कुम्भीभ्यामम्भृणी सुते स्थालीभि स्थालीराप्नोति।' यजुर्वेद १९।२७

८. ऋग्वेद २।५३।४-५; ७।७५।६; १०।७५।६

९. ऋग्वेद १०।७५।८

तैयार वस्तुओं के बदले में हिरण्य की प्राप्ति की इच्छा किया करता था ।[1] सुवर्ण का प्रयोग जहाँ आभूषण आदि बनाने के लिये होता था, वहाँ उससे 'निष्क' भी बनाये जाते थे ।[2] यह निष्क सुवर्ण का सिक्का होता था या आभूषण, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है । पर निष्क सदृश वस्तुओं के निर्माण से यह भली-भाँति समझा जा सकता है, कि वैदिक युग में सुवर्णकार का शिल्प भी अच्छा उन्नत था ।

बढ़ई का शिल्प—कर्मार और सुवर्णकार के समान 'तक्षा' (बढ़ई) भी वैदिक युग में एक महत्त्वपूर्ण शिल्पी होता था । उसका कार्य लकड़ी से विविध प्रकार की वस्तुएँ बनाना था । तक्षा को 'त्वष्ट्र' भी कहते थे । अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है, कि त्वष्ट्र 'स्वधिति' (बसूला) द्वारा 'सुकृत रूप' प्रदान किया करता है ।[3] बढ़ई के लिये तक्षा शब्द वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है ।[4] यजुर्वेद में कुलालों, कर्म्मारों और निषादों आदि के साथ तक्षों और रथकारों को भी नमस्कार किया गया है ।[5] तक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य रथ और अन्य वाहन बनाना था । ऋग्वेद के एक मन्त्र में रथ तथा 'अनस' का उल्लेख है ।[6] अनस साधारण गाड़ी को कहते थे । सम्भवतः, अनस एक ऐसी गाड़ी होती थी, जो कच्चे-पक्के रास्तों पर जा सकती थी । एक मन्त्र से इस बात का संकेत मिलता है ।[7] शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हुए 'अनस' के प्रयोग का भी विधान किया गया है ।[8] अनस की तुलना में रथ अधिक परिष्कृत वाहन होता था । उसके निर्माण के लिये अधिक उन्नत शिल्प अपेक्षित था । इसीलिये तक्षाओं का एक पृथक् वर्ग बन गया था, जिसे रथकार कहते थे । रथकार लोग रथों को अत्यन्त सुन्दर रूप में बनाया करते थे । ऋग्वेद के एक मन्त्र में रथ के लिये हिरण्यवर्णा (सुनहरी) विशेषण का प्रयोग किया गया है ।[9] रथ और अनस के अतिरिक्त अनेक प्रकार की आसन्दियाँ (कुर्सियाँ या चौकियाँ) तथा उठने-बैठने के अन्य उपकरण भी बढ़इयों द्वारा बनाये जाते थे । अथर्ववेद और यजुर्वेद में आसन्दियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख है ।[10]

अन्य उद्योग—वैदिक साहित्य के अनुशीलन से कतिपय अन्य उद्योगों का भी पता चलता है । ऐसा एक उद्योग चटाई बुनने का था, जिसके लिये नड (नरकट) को

---

१. ऋग्वेद ६।२१२।२; ऋग्वेद ६।११२।१
२. 'निष्कं वा घा कृण्वते स्रजं वा दुहितर्दिवः ।' ऋग्वेद ८।४७।१५
३. अथर्ववेद १२।३।३३
४. अथर्ववेद १०।६।२
५. यजुर्वेद १६।२७
६. 'के रथस्य केऽनसः के युगस्य शतक्रतो ।' ऋग्वेद ८।६१।७
७. कौषीतकी उपनिषद् ३।८
८. शतपथ १।१।२।५
९. ऋग्वेद ३।६१।२
१०. यजुर्वेद १६।१६; अथर्ववेद १५।३।२

पत्थर से कूट कर प्रयुक्त किया जाता था । यह कार्य प्रायः स्त्रियाँ किया करती थीं ।[1] चमड़े का उद्योग भी इस युग में प्रारम्भ हो गया था । अथर्ववेद में हिरण के 'अजिन' (चर्म) का उल्लेख है;[2] जिसका उपयोग आरण्यक आश्रमों में निवास करने वाले मुनि-जन किया करते थे । शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से 'अजिनवास' (मृग-चर्म के वस्त्र) का उल्लेख है ।[3] जूते बनाने के लिये वराह (सुअर) के चमड़े को प्रयुक्त किया जाता था । शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थलों पर वाराह्य 'उपानहों' (जूतों) का वर्णन है ।[4] वैदिक साहित्य में शालाओं तथा पुरों का अनेक स्थानों पर उल्लेख है । इनके सम्बन्ध में इसी अध्याय में पृथक् रूप से लिखा जायगा । शालाओं (भवनों) को बनाने वाले शिल्पी भी उस समय अच्छी बड़ी संख्या में होंगे, यह कल्पना असंगत नहीं है । इसी प्रकार नौकाओं का वेदों में स्थान-स्थान पर उल्लेख है । सम्भवतः, तक्षा ही नौकाएँ भी बनाया करते थे ।

यन्त्र निर्माण—सम्भवतः, वैदिक युग में कतिपय ऐसे भी यान थे, जो यन्त्र द्वारा संचालित होते थे, और जिनके लिये घोड़ों या बैलों की आवश्यकता नहीं होती थी । ऋग्वेद के एक सूक्त में ऋषि वामदेव द्वारा ऋभु देवताओं की स्तुति में कहा गया है, कि 'हे ऋभुओ ! तुम्हारे दिये हुए रथ में तीन चक्र हैं । वह घोड़ों के बिना चलता है, और चलते हुए उससे धूल (रजः) उड़ती है । इस रथ द्वारा तुम्हारे महत्व एवं देवत्व का पता लगता है ।[5] घोड़े के बिना चलने वाला यह रथ किस प्रकार के यन्त्र से युक्त होगा, इस विषय में कोई संकेत वैदिक साहित्य में उपलब्ध नहीं है । एक मन्त्र में ऐसे प्लव (नौका) का उल्लेख है, जिसके साथ 'पक्षी' विशेषण दिया गया है ।[6] पाल वाली नाव पर लगे हुए पाल पक्षी के पंखों जैसे प्रतीत होते हैं । सम्भवतः, इस मन्त्र में पाल वाली नाव ही अभिप्रेत है ।

(३) व्यापार

जब कृषि तथा उद्योग अच्छी उन्नत दशा में आ जाते हैं, तो श्रमविभाग का भी विकास हो जाता है, और उस के परिणामस्वरूप वस्तुओं का क्रय-विक्रय होने लगता है । कर्मार और वाय जैसे शिल्पी अपने शिल्प द्वारा तैयार किये गये माल का विक्रय

---

१. 'यथा मर्त्यं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना ।' ऋग्वेद ६।१३८।१
२. अथर्ववेद ५।२१।७
३. 'तस्माडु तत्सर्वं वस्त्राजिनवासी चरति ।' शतपथ ब्राह्मण ३।६।१।१२
४. 'अथ वाराह्याऽ उपानहाऽ उपमुञ्चते ।' शतपथ ब्राह्मण ५।४।३।१९
५. 'अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः ।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ।' ऋग्वेद ४।३६।१
६. 'युवमेतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवमात्मन्वन्तं पक्षिणं तौग्र्याय कम् ।
येन देवत्रा मनसा निरूहथुः सुपप्तनी पेतथुः क्षोदसो महः ॥'
ऋग्वेद १।१८२।५

करके ही कृषिजन्य अन्न आदि को प्राप्त करते हैं। वैदिक युग में भी वस्तुओं का क्रय-विक्रय प्रारम्भ हो गया था, यद्यपि यह बहुधा वस्तु-विनिमय (Barter) द्वारा ही सम्पन्न किया जाता था। जैसा कि इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है, इस युग में विनिमय के लिये गौ को माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जाता था, और उसे मूल्य की इकाई माना जाता था। पर विनिमय के लिये सिक्कों का उपयोग भी इस काल में किया जाने लगा था, इस बात के भी कुछ संकेत वैदिक साहित्य में मिलते हैं। वेदों के अनेक मन्त्रों में 'निष्क' शब्द आया है। इससे सुवर्ण का कोई आभूषण-विशेष अभिप्रेत है या सोने का सिक्का—यह विषय विवादग्रस्त है। एक मन्त्र में यह कहा गया है कि ऋषि कक्षीवान् ने 'सवान' के राजा तूर्त से सौ निष्क और सौ घोड़े दान में प्राप्त किये।[1] यहाँ निष्क से कोई सिक्का ही अभिप्रेत है, यह प्रतीत होता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'निष्कग्रीव' का उल्लेख मिलता है।[2] यह तो स्पष्ट ही है, कि निष्कग्रीव एक ऐसा आभूषण था, जिसे गले में पहना जाता था। पर हार या माला बनाने के लिये सुवर्ण के निष्कों (सिक्कों) को भी प्रयुक्त किया जा सकता था, जैसा कि वर्तमान समय में भी भारत के देहाती क्षेत्रों में प्रथा है। ऐसे हार अब भी बनाये जाते हैं, जिनमें चाँदी के रुपये या अठन्नियां प्रयुक्त की गई होती हैं। निष्क का अभिप्राय चाहे सिक्के से हो या न हो, पर यह निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक युग में वस्तुओं का विनिमय सुचारु रूप से प्रारम्भ हो गया था। इसीलिये ऋग्वेद के एक मन्त्र से यह सूचित होता है, कि जो वस्तु किसी कीमत पर बेच दी जाए, तो उसे फिर वापस नहीं लिया जा सकता था। एक मन्त्र के अनुसार किसी व्यक्ति ने कोई बहुमूल्य वस्तु कम कीमत पर बेच दी, पर जब उसे अपनी भूल का बोध हुआ, तो वह खरीदार के पास गया और यह अनुरोध किया कि उस सौदे को रद्द कर दिया जाए और बिकी हुई वस्तु को बिना बिकी (अविक्रीत) मान लिया जाए। पर खरीदार इससे सहमत नहीं हुआ। वेद मन्त्र का यह कथन है, कि कोई चाहे दीन हो और चाहे दक्ष—सब को सौदे पर दृढ़ ही रहना होगा।[3]

व्यापार स्थल और जल—दोनों प्रकार के मार्गों से होता था। स्थल मार्गों से माल को लाने-ले जाने के लिये गाड़ियों का प्रयोग किया जाता था, जिनमें बैल, घोड़े और गधे जोते जाते थे। गाड़ी को अनस कहते थे। अनस के अतिरिक्त अनेक प्रकार के रथ भी बनाये जाते थे, जो सवारी के काम आते थे। रथों तथा अनसों के साथ घोड़े जाते जाने का वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर उल्लेख है।[4] ऋषभ (बैल) के

---

१. 'यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः।
शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्काञ्छतमश्वान् प्रयतान् सद्य आदम्।
शतं कक्षीवान् असुरस्य गोनां दिवि श्रवोऽजरमा ततान॥' ऋग्वेद १।१२६।१-२

२. 'निष्कग्रीवो बृहदुक्थ एना मध्वा न वाजयुः।' ऋग्वेद ५।१९।३

३. ऋग्वेद ४।२४।९

४. ऋग्वेद ३।६१।२; ८।४६।२८

से खींचे जाने वाले वाहनों का वर्णन भी वेदों में विद्यमान है। हम ऊपर लिख चुके हैं कि वैदिक काल में गधों और ऊंटों को भी पालने की प्रथा थी। इन पशुओं का उपयोग माल ढोने के लिये ही किया जाता होगा।

सामुद्रिक व्यापार—वेदों में नदियों का भी उल्लेख है, और, समुद्र का भी। एक मन्त्र में पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का वर्णन है,[1] और कतिपय अन्य मन्त्रों में चार समुद्रों (चतुरः समुद्रः) का,[2] जो आर्यों के देश 'सप्तसिन्धव' के चारों ओर विद्यमान थे। इन नदियों और समुद्रों में जाने-आने के लिए नौकाएँ प्रयुक्त की जाती थीं, इसके अनेक निर्देश वैदिक साहित्य में विद्यमान हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में वरुण द्वारा 'समुद्र के मध्य' में ले जायी गई नाव का उल्लेख है।[3] एक अन्य मन्त्र में 'समुद्र के संचरण' का वर्णन है।[4] नासत्यौ द्वारा भुज्यु को 'आर्द्र' (जल से पूर्ण) समुद्र से पार ले जाने का वर्णन ऋग्वेद के एक मन्त्र में दिया गया है।[5] समुद्र में आना-जाना जिन नौकाओं द्वारा होता था, उनके सम्बन्ध में भी कुछ परिचय वैदिक साहित्य से प्राप्त होता है। एक स्थान पर नौका के साथ शतारित्रा (सौ अरित्र या डांड वाली) विशेषण का प्रयोग किया गया है।[6] इससे सूचित होता है कि वैदिक युग में ऐसी बड़ी नौकाएँ भी बनने लग गई थीं जिन्हें खेने के लिए सौ चप्पू हुआ करते थे। अश्विनौ या नासत्यौ द्वारा ऐसी ही शतारित्रा नाव से भुज्यु को 'अनारम्भण, अग्रभण' समुद्र के पार ले जाया गया था। भुज्यु की कथा ऋग्वेद में कई स्थानों पर दी गई है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में समुद्र में जाने-आने वाली नौकाओं की सत्ता थी। इन नौकाओं को अरित्रों (डांड या चप्पू) से भी चलाया जाता था, और पाल से भी। एक मन्त्र में ऋषि सौम्य बुध ने अपने सखाओं (साथियों) को सम्बोधन कर के कहा है—नाव को अरित्रों के साथ तैयार कर दो।[7] सिन्धु में चलने वाली नौका का विशेषण एक मन्त्र में 'पक्षी' दिया गया है।[8] इससे उनमें भी पालों का लगा हुआ होना सूचित होता है। जिस नाव द्वारा भुज्यु को समुद्र के पार किया गया था, एक मन्त्र में उसे 'पतत्री' (पक्षी) भी कहा गया है,[9] जिससे उसमें भी पाल लगे होने का संकेत मिलता है। नदियों और समुद्र में जाने-आने वाली नौकाएँ सवारी के लिए तो प्रयुक्त होती ही थीं, पर उन द्वारा व्यापारी माल को भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता

---

१. 'उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः। ऋग्वेद १०।१३६।२
२. रायः समुद्रां श्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः।' ऋग्वेद ६।३३।६
३. 'आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम्।' ऋग्वेद ७।८८।३
४. ऋग्वेद १।५६।२
५. ऋग्वेद १।११६।४-५
६. 'यदश्विना ऊहथुः भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्। ऋग्वेद १।११६।५
७. ऋग्वेद १०।१०१।२
८. युवमेतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवमात्मन्वन्तं पक्षिणं तौग्र्याय कम्। ऋग्वेद १।१८२।५
९. ऋग्वेद १०।१४३।५

होगा, यह कल्पना असंगत नहीं होगी। अथर्ववेद के एक सूक्त में समुद्र में उत्पन्न होने वाले कृशन तथा शंख का उल्लेख है। कृशन से मोती तथा सीपी अभिप्रेत है। इनसे एक कवच (तावीज) बनाया जाता था, जिसे सौ वर्ष की दीर्घायु देने वाला, वर्चस् और बल प्रदान करने वाला तथा रक्षा करने वाला समझा जाता था।[1] ऋग्वेद में भी 'कृशन' का उल्लेख है, जिससे रथों तथा घोड़ों को अलंकृत किया जाता था।[2] ये शंख तथा कृशन नौकाओं द्वारा समुद्र से ही लाए जाते थे। इनका क्रय और विक्रय भी होता था। लोग इन्हें या तो अलंकरण के लिए क्रय करते थे, और या इनसे कवच (तावीज) बनाने के लिए।

वैदिक युग में समुद्र पार के देशों के साथ भारतीय आर्यों का सम्बन्ध था, कतिपय अन्य तथ्यों द्वारा भी यह सूचित होता है। वर्तमान समय में जहाँ ईराक और तुर्की के राज्य हैं, प्राचीन समय में वहाँ अनेक ऐसी सभ्यताओं की सत्ता थी, जिनके भग्नावशेषों से ज्ञात होता है, कि उनका भारत के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध भी था। ईराक की युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी में विद्यमान प्राचीन सभ्यताओं के तीन हजार साल ईस्वी पूर्व के अवशेषों में सागौन की लकड़ी मिली है, जो पश्चिमी एशिया के प्रदेशों में नहीं होती। यह माना जाता है, कि उसे जल मार्ग द्वारा भारत से ही ले जाया गया होगा। प्राचीन समय में पश्चिमी एशिया के विविध देशों के साथ भारत का जो सम्बन्ध था, उस पर इस ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाश डाला गया है। यह सम्बन्ध समुद्र मार्ग द्वारा ही अधिक क्रियात्मक एवं सम्भव था। वेद के एक मन्त्र से यह संकेत भी मिलता है, कि वैदिक आर्य समुद्र के मार्गों से भली-भाँति परिचित थे। इसमें ऋषि आजीगर्ति शुनःशेप ने कहा है कि मैं आकाश में आने-जाने वाले पक्षियों के मार्गों को ही नहीं जानता, अपितु समुद्र की नावों के मार्गों को भी जानता हूँ।[3] इन्हीं सामुद्रिक मार्गों द्वारा वैदिक युग के आर्य सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी व्यापार आदि आदि के लिए जाया-आया करते थे।

पणि—वेदों के अनेक सूक्तों में पणियों का उल्लेख है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १०८वें सूक्त में पणियों और सरमा का संवाद है। सरमा को इन्द्र ने अपनी दूती बना कर पणियों के पास भेजा था। ये पणि 'रसा' के पार रहते थे। उन्होंने इन्द्र की गौवों को चुरा कर एक सुरक्षित तथा गुप्त स्थान पर छिपा दिया था। इन्द्र ने सरमा को अपनी दूती बनाकर पणियों के पास भेजा, और वह रसा नदी के सुविस्तीर्ण जल को पार कर उस दुर्जय पुर में जा पहुँची,[4] जहाँ पणियों का निवास था। सरमा को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। इस पर इन्द्र ने पणियों पर आक्रमण कर दिया, और उन्हें परास्त कर अपनी गौवें वापस लौटा लीं। ऋग्वेद के पणि-सम्बन्धी सूक्त का

---

१. अथर्ववेद ४।१०।४-७
२. ऋग्वेद १।३५।४; १।१२६।४
३. 'वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः।' ऋग्वेद १।२५।७
४. ऋग्वेद १०।१०८।१

यही सार है। पणियों और सरमा के संवाद में जिन मन्त्रों को पणियों की तरफ से बोला गया है, उनके देवता 'पणयोऽसुराः' कहे गए हैं, जिससे पणियों के असुर होने का संकेत मिलता है। बृहद्देवता में उन्हें स्पष्ट रूप से असुर कहा गया है, और ऋग्वेद की कथा को बड़ी सरल भाषा में प्रस्तुत कर दिया गया है।[1] ऋग्वेद के अनुसार पणियों की निधि (कोषागार) पहाड़ से सुरक्षित थी, और गौवों, घोड़ों तथा वसुओं (धन सम्पत्ति) से परिपूर्ण थी।[2] ऋग्वेद के इस सूक्त से यह संकेत भी मिलता है कि पणि लोग इन्द्र से सर्वथा अपरिचित थे। इसीलिये उन्होंने सरमा से प्रश्न किया था, कि यह इन्द्र कैसा है, क्या वह हमारा मित्र बन सकता है।[3] इन्द्र आर्यों का प्रधान देवता था। उससे अपरिचित होना भी यही सूचित करता है, कि पणि लोग आर्य-भिन्न असुर जाति के थे। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में पणियों को 'अराधसः' (याज्ञिक अनुष्ठान न करने वाले) कहा गया है।[4] उनका एक विशेषण 'बेकनाट' भी पाया जाता है,[5] जिसका अभिप्राय यास्क ने निरुक्त में इस प्रकार स्पष्ट किया है—बेकनाट कुसीदी (सूदखोर) होते हैं, धन को दुगना किया करते हैं, दुगना करने की उनकी इच्छा रहती है।[6] 'पणि' का अर्थ करते हुए यास्क ने कहा है—पणि वणिक् होता है।[7] ऐसा प्रतीत होता है कि पणि एक आर्यभिन्न जाति थी, जो वैश्यवृत्ति से अपना निर्वाह किया करती थी। वह गौ, अश्व आदि पशु पालती थी, सूद का व्यवहार करती थी, और व्यापार के लिये दूर-दूर के प्रदेशों में जाया करती थी। अनेक विद्वानों ने पणियों और फिनीशियन लोगों का एकत्व प्रतिपादित किया है। भूमध्य सागर के तटवर्ती प्रदेशों में जिस फिनीशियन जाति का प्राचीन काल में निवास था, वह 'प्यूनिक' कहाती थी। प्यूनिक लोग भी प्रधानतया व्यापारी ही थे। पणि और प्यूनिक में साम्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। किसी प्राचीन समय में इन पणियों का क्षेत्र अत्यन्त विशाल था। उत्तर में वे रसा नदी के परे निवास करते थे, और समुद्र के मार्ग से सप्तसिन्धव देश तथा पश्चिम के देशों में जाकर व्यापार किया करते थे।

पणि लोग न आर्यों के प्रधान देवता इन्द्र को जानते थे, और न आर्यों के समान याज्ञिक कर्म-काण्ड को मानते थे। वे आर्यों की गौवें भी चुराकर ले जाया करते थे। इस दशा में आर्यों का उनके प्रति विरोधभाव होना सर्वथा स्वाभाविक था। पर वैदिक साहित्य में ऐसे प्रसंग भी विद्यमान हैं, जिनमें कतिपय पणियों की प्रशंसा की गई है।

१. बृहद्देवता ८।२४
२. ऋग्वेद १०।१०८।७
३. ऋग्वेद १०।१०८।३
४. ऋग्वेद ८।६४।२
५. ऋग्वेद ८।६६।१०
६. 'बेकनाटा खलु कुसीदिनो भवन्ति, द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्ते इति।' निरुक्त ६।२६
७. 'पणिर्वणिक् भवति।' निरुक्त २।१७

ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों का ऋषि बार्हस्पत्य शंयु है, और देवता तक्षा बृबु। यह बृबु पणियों में मूर्धन्य एवं वरिष्ठ था। पेशे से वह तक्षा (बढ़ई) था, और उसकी उपमा गंगा के तट पर उगे हुए विशाल वृक्ष से दी गई है। सब कारु (शिल्पी) उसका आदर करते थे, और दान के लिए उसके पास धन ऐसे बहता था, जैसे वायु बहती है। वह बड़ा दानी था, और उसने ऋषि भरद्वाज को बहुत-सी सम्पत्ति (जो संभवतः गौवों के रूप में थी) दान में दी थी।[1] पणि-मूर्धन्य बृबु की जो यह कथा सूत्र रूप से ऋग्वेद में दी गई है, उसे अधिक स्पष्ट तथा विशद रूप में बाद के साहित्य से जाना जा सकता है। उसके अनुसार एक दिन ऋषि भारद्वाज भूख और प्यास से पीड़ित हुए जंगल में फिर रहे थे। उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति जंगल से लकड़ी काट रहा है। इसका नाम बृबु था। ऋषि की दुर्दशा देखकर बृबु ने उन्हें दान दक्षिणा देने का विचार किया। पर यह सोचकर उसे संकोच हुआ कि वह हीन कुल का है, कहीं ऋषि उसका दान स्वीकार न करें। पर भारद्वाज से आश्वासन प्राप्त कर बृबु ने उन्हें बहुत-सी गौवें प्रदान कर दी। इस कथा की स्मृति मनुस्मृति में भी विद्यमान है,[2] और नीतिमञ्जरी में भी, जहाँ लिखा है कि द्विज को संकट के समय असाधु से भी दान ले लेना चाहिए, जैसे कि भूख से पीड़ित भारद्वाज ने तक्षा बृबु के दान को स्वीकार कर लिया था।[3] बृबु की कथा से यह संकेत मिलता है, कि बृबु जैसे पणि बढ़ई का भी काम किया करते थे। सम्भवतः, अपने इस शिल्प का उपयोग वे उन नौकाओं के निर्माण के लिए करते थे, जिन द्वारा वे सुदूरवर्ती प्रदेशों में व्यापार के प्रयोजन से जाते-आते थे। भारत के आर्यों से उनका विरोध ही नहीं रहता था, अपितु उनके साथ निरन्तर सम्पर्क के कारण वे उन्हें दान-दक्षिणा आदि भी देने लग गए थे।

(४) गृह, ग्राम और पुर

गृह—वैदिक युग के आर्य स्थायी रूप से बस्तियों में बस कर खेती तथा शिल्प-व्यवसायों को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रारम्भ कर चुके थे। इसलिए उन्होंने पुरों (नगरों) और ग्रामों में रहना शुरू कर दिया था, जहाँ वे अपने निवास के लिए अनेक प्रकार के गृह बनाया करते थे। अथर्ववेद में एक शाला सूक्त है, जिससे वैदिक युग के गृहों या शालाओं का एक सुन्दर व स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो जाता है। इस सूक्त में कहा गया है, कि हे शाले, तू हमारे लिए ध्रुव (स्थिर) होकर रह। तू घोड़ों और गौवों से भरी-पूरी हो। तुझमें मधुवाणी सुनायी दिया करे। दूध, घी और जल की धाराएँ तुझमें बहती रहा करें। तुझ द्वारा हमें महान् सौभाग्य प्राप्त हो।[4] क्योंकि वैदिक आर्य अपनी आजीविका के लिए प्रधानतया

१. ऋग्वेद ६।४६।३१-३३
२. मनुस्मृति १०।१०७
३. नीतिमञ्जरी, श्लोक ६४
४. इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
'ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥' अथर्ववेद ३।१२।२

खेती और पशुपालन पर निर्भर थे, अतः उनके घरों में पशु भी बड़ी संख्या में रहा करते थे। उनकी शालाएँ घोड़ों और गौवों से परिपूर्ण रहती थीं, और उनमें दूध और घी की धाराएँ बहती रहती थीं। इस शाला सूक्त में शाला को 'बृहच्छदा'[1] और 'तृणवसाना'[2] भी कहा गया है, जिससे उसके विशाल होने और तृणों (घास फूस) को सञ्चित रखने के स्थान से युक्त होने का संकेत मिलता है।

वैदिक युग के घर किस सामग्री द्वारा बनाये जाते थे, इस सम्बन्ध में भी कुछ सूचनाएँ वैदिक साहित्य में विद्यमान हैं। मकान की छत को थामने के लिए उस समय 'स्थूणों' (खम्भों) का प्रयोग किया जाता था, जो जमीन में गाड़े जाते थे। स्थूणों के ऊपर सीधे और आड़े (प्रतिमित और परिमित) शहतीर (या बल्लियाँ) रखे जाते थे। इन शहतीरों या बल्लियों के ऊपर बांस की खपचियाँ बांध दी जाती थीं, जिन्हें फिर छप्पर (अक्षु) से पाट दिया जाता था। अथर्ववेद के नौवें काण्ड के तीसरे अध्याय से शाला के निर्माण तथा स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वहाँ जिस शाला का वर्णन है, उसके बनाने में लकड़ी के खम्बों, शहतीरों, कड़ियों, बाँसों और तृण का प्रयोग किया गया है। बल्लियों और बाँसों को यथास्थान कायम रखने के लिए सुदृढ़ ग्रंथियाँ (गाँठें) लगाने, फिर बाँस की खपचियों से 'नहन' (जाल) बनाने और उस पर तृण (फूंस) की 'छदि' (छप्पर या छाजन) डालने का उल्लेख इस सूक्त में है। इससे यह सूचित होता है, कि वैदिक युग की बहुसंख्यक शालाएँ प्रायः उसी ढंग की बनी होती थीं, जैसी कि वर्तमान समय में भी भारत के गाँवों में होती हैं। पर अथर्ववेद के इस सूक्त से यह भी सूचित होता है कि शालाएँ द्विपक्षा, चतुष्पक्षा, षट्पक्षा, अष्टपक्षा, और दशपक्षा भी हुआ करती थीं।[3] द्विपक्षा, चतुष्पक्षा आदि के दो अर्थ हो सकते हैं, जिनमें दो या चार तल्ले (मंजिलें) हों या जिनमें दो या चार सहन (आँगन) हों। लकड़ी, बांस और फूंस से बनी हुई शालाओं में आठ-आठ, दस-दस मजिलें होने की अपेक्षा यही अधिक संगत प्रतीत होता है कि इस सूक्त में अष्टपक्षा और दशपक्षा से आठ सहनों व दस सहनों वाली शालाएँ ही अभिप्रेत हैं। क्योंकि शालाओं में घोड़ों और गौवों आदि के लिए भी व्यवस्था की जाती थी, अतः सम्पन्न व्यक्तियों के घरों में कई-कई सहनों का होना स्वाभाविक ही था। काष्ठ, बांस और फूंस से निर्मित शालाओं की अग्नि से रक्षा करना वैदिक आर्यों के लिए भी एक समस्या थी। इसीलिए इन्द्र और अग्नि देवताओं से उनकी रक्षा की प्रार्थना की गई है।[4]

ऋग्वेद के भी अनेक मन्त्रों में गृहों व शालाओं का उल्लेख है। एक मन्त्र में

---

१. 'धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या।' अथर्ववेद ३।१२।३

२. अथर्ववेद ३।१२।५

३. या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवाशये ॥२१
अथर्ववेद ९।३।२१, ४,२,१

४. 'इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः।' अथर्ववेद ९।३।१९

ऐसे 'सुमंगल' 'भद्रवादी' (कल्याणकर वाणी वाला) शकुन्त (पक्षी) का वर्णन है, जो गृहों के दक्षिण की ओर से बोल रहा है।[1] यहाँ घर के लिए 'गृह' शब्द का प्रयोग किया गया है। एक अन्य मन्त्र में 'हर्म्य' शब्द आया है,[2] जिससे महल या विशाल इमारत अभिप्रेत है। ऋग्वेद में एक ऐसे 'बृहन्त मान' (जिसका माप या परिमाण बहुत बड़ा हो) का वर्णन है, जिसके सहस्र द्वार थे।[3] इसमें अतिशयोक्ति हो सकती है, पर इससे यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में बहुत बड़ी-बड़ी इमारतें भी बनने लगी थीं। इसी प्रकार ऋग्वेद में सहस्र स्थूणों (खम्बों) वाले मकान का भी उल्लेख है।[4] द्विपक्षा, चतुष्पक्षा आदि शालाओं का वर्णन अथर्ववेद में मिलता है। ऋग्वेद में 'त्रिधातु' को शरण रूप से कहा गया है,[5] जिसका अर्थ सायणाचार्य ने 'त्रिभूमिकम्' किया है। त्रिधातु या त्रिभूमिका से ऐसा मकान अभिप्रेत था, जिसमें तीन सहन या तीन मंजिलें हों। विशाल घरों के निर्माण के लिए वैदिक युग में मिट्टी, पत्थर आदि का भी उपयोग किया जाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में सौ अश्मन्मयी (पत्थरों से बनी) पुरियों का उल्लेख है।[6] इन पुरियों के मकान सम्भवतः पत्थरों से बनाये गये होंगे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'आयसी' (लोहे से निर्मित) पुरी का भी वर्णन है।[7] सम्भवतः, इस नगरी के मकानों तथा प्राचीर आदि में अयस् या लोहे के प्रचुर मात्रा में उपयोग के कारण इसे 'आयसी' कहा गया होगा।

वैदिक युग के गृहों में अनेक कमरे हुआ करते थे, जिन्हें विभिन्न प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया जाता था। अथर्ववेद के एक मन्त्र में चार प्रकार के कमरों का उल्लेख है।[8] (१) हविर्धान या भण्डार गृह, जिसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिए आवश्यक वस्तुएँ और गार्हस्थ्य जीवन के लिए उपयोगी विविध सामग्री आदि सञ्चित कर के रखी जाती थी। (२) अग्निशाला, वह कक्ष जिसमें अग्नि का आधान किया जाता था। वैदिक युग के गृहस्थ गार्हपत्य अग्नि को कभी बुझने नहीं देते थे। इसी प्रयोजन से वे अपने घर में एक ऐसा पृथक् कमरा रखते थे, जिसमें अग्नि सदा जलती रहती थी। (३) पत्नीनां सदनम् या स्त्रियों का पृथक् कक्ष जिसे अन्तःपुर या जनानखाना कहा जा सकता है। (४) सद या बाहरी बैठक। इनके अतिरिक्त गौ, बैल, घोड़े आदि पशुओं के लिए भी गृहों में पृथक् स्थान रहता था, जहाँ उनकी भली-भाँति देख-भाल की जा सकती थी।

---

१. 'अवक्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमंगलो भद्रवादी शकुन्ते।' ऋग्वेद २।४२।३
२. 'तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा।' ऋग्वेद ७।५५।६
३. ऋग्वेद ७।८८।५
४. 'राजाना क्षत्रमहृणीयमाना सहस्रस्थूणं बिभृथः सः द्वौ।' ऋग्वेद ५।६२।६
५. ऋग्वेद ६।४६।९
६. 'शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्।
दिवोदासाय दाशुषे॥ ऋग्वेद ४।३०।२०
७. तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि। ऋग्वेद ७।३।७
८. अथर्ववेद ९।३।७

वैदिक युग के गृहों को अनेक प्रकार के पर्यङ्कों (पलंगों) तथा आसन्दी आदि से सुसज्जित भी किया जाता था। अथर्ववेद में पलंग के लिये 'तल्प' शब्द का प्रयोग किया गया है, और वहाँ वधू को तल्प पर आरोहण करने के लिए कहा गया है।[1] ऋग्वेद के एक मन्त्र में तीन प्रकार की शय्याओं का उल्लेख है, प्रोष्ठ, वह्य और तल्प। इनका उल्लेख प्रोष्ठेशया (प्रोष्ठ पर सोने वाली), वह्यशया (वह्य पर सोने वाली) और तल्पशीवरी स्त्रियों के स्वापन के प्रसंग में किया गया है।[2] ये तीन प्रकार की शय्याएँ या पलङ्ग होते थे, जिन्हें शयन तथा बैठने-उठने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। आसन्दी के सम्बन्ध में इसी अध्याय के दूसरे प्रकरण में प्रकाश डाला जा चुका है।

पुर और ग्राम—क्योंकि वैदिक युग में आर्य लोग 'अनवस्थित' दशा से उन्नति कर विविध स्थानों व प्रदेशों पर स्थायी रूप से बस गए थे, अतः बहुत से ग्रामों तथा पुरों का निर्माण हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से इस प्राचीन काल के पुरों या नगरों के विषय में भी कतिपय महत्त्वपूर्ण बातें जानी जा सकती हैं। पुर या नगर प्रायः दुर्गों के रूप में हुआ करते थे। ऋग्वेद में 'अश्मन्मयी' और 'आयसी' पुरों का उल्लेख है, यह ऊपर लिखा जा चुका है। एक मन्त्र में 'शतभुजी' पुर या दुर्ग की सत्ता का संकेत विद्यमान है।[3] 'शतभुजी' से सौ दीवारों वाले या सौ पार्श्वों वाले किले का अभिप्राय हो सकता है। ऐसे पुर या दुर्ग बहुत बड़े-बड़े होते थे। इसीलिए एक मन्त्र में दुर्ग के साथ 'पृथु' (सुविस्तीर्ण) और 'उर्वी' (विशाल) विशेषणों का प्रयोग किया गया है।[4] इन्द्र द्वारा दस्युओं के सौ 'अश्मन्मयी' पुर नष्ट किये गए थे।[5]

आर्यों के विविध 'जन' (कबीले) जब किसी प्रदेश पर स्थायी रूप से बस गए, तो वे 'जनपद' स्थापित हुए जो 'जन' के नाम से ही जाने-जाते थे। इन जनपदों का स्वरूप नगर-राज्यों (city states) के समान था। जनपद की राजधानी को 'पुर' कहते थे, जिसे दुर्ग के रूप में बनाया जाता था। जनपद के सम्भ्रान्त वर्ग के लोग, शिल्पी तथा व्यापारी पुर में निवास करते थे, और किसान देहाती क्षेत्र में। उनकी बस्तियाँ ग्राम कहाती थीं। जनपदों में ग्रामों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसीलिये उनके मुखिया (ग्रामणी) जनपद की सभा-समितियों में उपस्थित हुआ करते थे। वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर ग्रामों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में अग्नि देवता को ग्रामों का 'अविता' (रक्षक) पुरोहित कहा गया है।[6] यजुर्वेद में ग्राम में किये गए पाप से

---

१. अथर्ववेद १४।२।३१
२. ऋग्वेद ७।५५।७
३. ऋग्वेद १।१६६।८
४. ऋग्वेद १।१८९।२
५. ऋग्वेद ४।३०।२०
६. ऋग्वेद १।४४।१०

मुक्ति प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है।[1] अथर्ववेद में ग्राम में प्रवेश पाये हुए पिशाच, स्तेन आदि के विनाश की बात लिखी गई है।[2] इनसे वैदिक युग के ग्रामों का एक अस्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है। इन ग्रामों में स्तेन (चोर), पिशाच (रोगों को उत्पन्न करने वाले कृमि) आदि का भय बना रहता था, और उनसे रक्षा करने के लिए अग्नि देवता तथा पुरोहितों की शरण ली जाती थी। शतपथ ब्राह्मण में ग्रामों तथा ग्रामान्तों (ग्राम की सीमाओं) का उल्लेख है, और उसमें वह भी कहा गया है कि ग्राम की सीमाओं पर विद्यमान अरण्यों में रीछ आदि पशु और तस्कर (चोर डाकू) आदि का निवास होता है।[3]

वेदों में जिन 'आयसीः' 'अश्मन्मयी' पुरियों का उल्लेख हैं, वे प्रायः दस्युओं व दासों की हैं। पर अथर्ववेद में अयोध्या नाम की एक नगरी का वर्णन है, जिसमें नौ द्वार और आठ चक्र थे। यह पुरी देवों की थी,[4] दस्युओं की नहीं। इसमें सन्देह नहीं। कि वैदिक युग के आर्यों ने नौ द्वारों वाली बड़ी-बड़ी नगरियों का निर्णय भी प्रारम्भ कर दिया था।

(५) उत्तर-वैदिक काल का आर्थिक जीवन

वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन का जो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, उसे हमने ऊपर के चार प्रकरणों में स्पष्ट किया है। रामायण और महाभारत के अनुशीलन से वह चित्र और अधिक स्पष्ट हो जाता है। ये ग्रन्थ जिस रूप में वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, उन्हें वैदिक या उत्तर-वैदिक युग का नहीं माना जाता। पर उनमें जो कथानक व अनुश्रुति विद्यमान हैं, उन्हें उत्तर-वैदिक युग के जीवन को समझने के लिए अवश्य प्रयुक्त किया जा सकता है। इसीलिए हम इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व इन ग्रन्थों के आधार पर भी उत्तर-वैदिक युग के आर्थिक जीवन पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

व्यवसाय और व्यापार—रामायण और महाभारत के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि इस युग में भारत का आर्थिक जीवन अच्छी उन्नत दशा में था। इस युग के व्यवसायों में वस्त्र व्यवसाय का स्थान बहुत ऊँचा था। महाभारत के सभापर्व में उन भेंट-उपहारों का बड़े विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है, जिन्हें अन्य राज्यों के राजा युधिष्ठर की सेवा में अर्पण करने के लिए अपने साथ लाये थे। इन उपहारों में चोल और पाण्ड्य देशों के महीन कपड़ों (सूक्ष्म वस्त्रक), सिंहलद्वीप के गद्दों, दक्षिण की पगड़ियों (उष्णीष), उत्तर के रेशम और दुशालों, हिमालय के ऊनी वस्त्रों और

---

१. यजुर्वेद ३।४५
२. अथर्ववेद ४।३३।७
३. शतपथ ब्राह्मण १३।२।२-४।४
४. अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यांहिरण्ययः स्वर्गो ज्योतिषावृतः। अथर्ववेद १०।२।३१

रेशम, कम्भोज देश की खालों और प्राच्यदेश के विविध प्रकार के आसनों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। (सभापर्व अध्याय ५१, ५२) । महाभारत में अन्यत्र अनेक स्थलों पर महीन कम्बलों और पीले रंग के रेशम का भी उल्लेख किया गया है।

वस्त्र व्यवसाय के समान धातु का शिल्प और व्यवसाय भी इस युग में अच्छी उन्नत दशा में था। धातुओं में सोना, चांदी, त्रपु (टिन), सीसा और लोहे का उल्लेख महाभारत में अनेक स्थलों पर आया है। धातुओं का उपयोग जहाँ अस्त्र-शस्त्र व अन्य उपकरणों के निर्माण के लिए किया जाता था, वहाँ सोना-चाँदी सदृश बहुमूल्य धातुएं आभूषणों के लिए भी प्रयुक्त होती थीं। आभूषणों के लिए मणि, मुक्ता, वैदूर्य, रत्न आदि का भी प्रयोग होता था।

राजा के लिए यह आवश्यक माना जाता था, कि वह व्यवसायियों और शिल्पियों की सहायता करे। महाभारत के सभापर्व में मुनि नारद ने राजा युधिष्ठिर से जो अनेक प्रश्न किए हैं, उनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं—"क्या तुम अपने राज्य के उन वणिकों और शिल्पियों की धन-धान्य द्वारा सहायता करते रहते हो, जो दुर्गति को प्राप्त हो गए हों? क्या तुम राज्य के सब शिल्पियों को चार-चार मास बाद उनके लिए नियत किया हुआ धन व उपकरण आदि देते रहते हो? क्या तुम्हारे राज्य के व्यवसाय और व्यापार सज्जन (साधुजन) लोगों के हाथों में है?"

महाभारत के समय में व्यवसाय और शिल्प उन्नति की किस दशा को प्राप्त हो चुके थे, इसका अनुमान उस राजसभा के वर्णन से किया जा सकता है, जिसे मय नामक असुर ने पाण्डवों के लिये बनाया था। महाभारत के अनुसार इस राजसभा का विस्तार दस हजार हाथ था। उसके भवन अग्नि, चन्द्र और सूर्य के समान चमकते थे, और उसकी ऊंची अट्टालिकाओं ने बादलों के समान आकाश को आच्छादित कर लिया था। उसके निर्माण में जो भी द्रव्य लगाया गया था, वह बहुत उत्तम था। उसके आँगन में एक तालाब बनाया गया था, जिसकी नकली बेलों में वैदूर्य मणि के पत्ते लगाये गए थे। उन बेलों के फूल सुवर्ण द्वारा निर्मित थे। इस तालाब में सुगन्धित जल भरा हुआ था। इसकी सीढ़ियाँ चित्रित स्फटिक की बनी हुई थीं। यद्यपि यह तालाब जल से भरा हुआ था, पर ऊपर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता था, कि मानो वह एक वाटिका हो।

पाण्डवों की यह राजसभा उस युग के शिल्प का उत्कृष्ट उदाहरण है।

खेती और पशुपालन—महाभारत के युग में भारतीय लोग पशुपालन को बहुत महत्त्व देते थे। उस समय पशुओं का उपयोग न केवल खेती के लिये था, अपितु युद्ध के लिये भी वे बहुत काम आते थे। विशेषतया, घोड़े और हाथी उस युग की सेना में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। उस समय के राजा कितनी बड़ी संख्या में पशुओं का पालन करते थे, यह बात महाभारत के विराट् पर्व में वर्णित है। वहाँ लिखा है, कि राजा युधिष्ठिर के पास सौ-सौ गौवों के अठारह हजार वर्ग थे। इस संख्या में अत्युक्ति हो सकती है, पर इससे यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है, कि इस काल में पशुधन

का कितना अधिक महत्त्व था। न केवल पशुओं को उस समय पाला ही जाता था, अपितु उनकी चिकित्सा और शिक्षण पर भी बहुत ध्यान दिया जाता था।

महाभारत में कृषि, खेतों की सिंचाई और उद्यानों का भी वर्णन आता है। निस्सन्देह, कृषि उस युग में अच्छी उन्नत दशा में थी, और कृषक लोग अनेक प्रकार के अन्न, फल व शाक आदि का उत्पादन करने में रत रहते थे।

विज्ञान—आर्थिक उन्नति और शिल्प आदि के कारण इस युग में अनेक विज्ञानों का भी विकास हो गया था। महाभारत में अनेक विद्याओं व विज्ञानों का उल्लेख आता है। इनमें ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, गर्भविज्ञान, अश्वविद्या, हस्तिविद्या, शरीर-विज्ञान, धनुर्वेद आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(६) शिल्पियों और व्यापारियों के संगठन

वैदिक तथा उत्तर-वैदिक युगों में शिल्प और व्यापार के भली-भाँति विकसित हो जाने का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि शिल्पी और व्यापारी लोग अपने संगठन बनाने और उन संगठनों के अनुशासन में रहने की आवश्यकता अनुभव करने लगे। इन विविध प्रकार के आर्थिक संगठनों के लिए प्राचीन समय में 'समूह' (Association) शब्द प्रयुक्त होता था। शिल्पियों के 'समूह' को 'श्रेणि' कहते थे, और व्यापारियों के 'समूह' को 'निगम' या 'पूग'। श्रेणियों और निगमों के अपने संगठन विद्यमान थे, जिनके मुख्यों (श्रेणिमुख्यों और नैगमों) को राज्य या जनपद की शासन-संस्थाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

उत्तर-वैदिक युग में ही विविध शिल्पों का अनुसरण करने वाले सर्वसाधारण जनता के व्यक्ति अपने संगठन बनाकर आर्थिक उत्पादन में तत्पर हो गये थे। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि शिल्पियों के लिये पूर्णतया स्वच्छन्द रूप से कार्य कर सकना सम्भव नहीं था। संगठित होकर ही वे अपने कार्य को सुचारु रूप से सम्पादित कर सकते थे। समाज के संगठन का विकास प्रदर्शित करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद में पहले ब्रह्म और क्षत्र के निर्माण का प्रतिपादन कर 'विश:' के सम्बन्ध में यह लिखा है, कि क्योंकि अकेले ब्रह्म और क्षत्र से ही काम नहीं चल सकता था, अतः 'विश:' की उत्पत्ति की गई। ये 'विश:' गणों में संगठित होकर ही अपने-अपने कार्य करते हैं।[1] शङ्कराचार्य ने उपनिषद् के इस वाक्य पर टीका करते हुए लिखा है कि 'कार्य के साधन और धन उपार्जन के लिए 'विश:' को उत्पन्न किया गया। ये विश: कौन हैं ? विश: 'गणप्राय:' ही हैं, क्योंकि वे संहत (समूहों में संगठित) होकर ही वित्त के उपार्जन में समर्थ होते हैं, अकेले-अकेले नहीं। इसीलिए उनमें गणों की सत्ता होती है।'[2] इससे

१. 'स नैव व्यभवत्, स विशमसृजत, यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते।' बृह० १।४।१२

२. 'क्षत्रसृष्टोऽपि स नैव व्यभवत्, कर्मणे ब्रह्म तथा न व्यभवत् वित्तोपार्जयितुरभावात्। स विशमसृजत् कर्मसाधनवित्तोपार्जनाय। कः पुनरसौ विट् ? यान्येतानि

स्पष्ट है, कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी सर्वसाधारण विशः या जनता के शिल्पियों और व्यापारियों आदि ने गणों या समूहों में संगठित होकर आर्थिक उत्पादन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था।

यही कारण है, जो रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में शिल्पियों की श्रेणियों और व्यापारियों के निगमों का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है। जब राम वनवास समाप्त कर अयोध्या वापस आये, तो उनके स्वागत के लिए 'श्रेणि-मुख्य' भी उपस्थित हुए। इस प्रसंग में श्रेणिमुख्यों के साथ नैगमों का भी उल्लेख किया गया है, जो स्पष्ट रूप से शिल्पियों और व्यापारियों के संगठनों के सूचक हैं। शान्तिपर्व में 'श्रेणि-मुख्यों' का इस प्रसंग में उल्लेख किया गया है, कि राजा उनमें शत्रुओं द्वारा भेदनीति का प्रयोग न करने दे।[1] अन्यत्र एक स्थान पर श्रेणिमुख्यों के उपजाप (भेदनीतिमूलक षड्यन्त्र) से अमात्यों की रक्षा करने का उपदेश दिया गया है।[2] इन निर्देशों से सूचित होता है कि महाभारत के काल में शिल्पियों के गण भली-भाँति संगठित थे, और उनके 'मुख्यों' के उपजाप राजकीय कर्मचारियों को पथभ्रष्ट कर सकते थे। वन पर्व की एक कथा के अनुसार जब राजा दुर्योधन गन्धर्वों द्वारा परास्त हो गया, तो उसे अपनी राजधानी को वापस लौटने में इस कारण संकोच हुआ, क्योंकि 'ब्राह्मण और श्रेणिमुख्य' मुझे क्या कहेंगे, और मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा।[3]

देशजातानि...पक्षः गर्भ-गर्भ आख्यायन्ते कथयन्ती गणशाखा हि विधाः। प्रायेण संहता हि वित्तोपार्जनसमर्थाः नैकैकशः।'

१. अग्निदैर्गरदैश्चैव प्रतिरूपककारकैः।
श्रेणिमुख्योपजापेन वीरुधच्छेदनेन च ॥' महा० शान्ति० १५८।१२

२. श्रेणिमुख्योपजापेषु वल्लभानुनयेषु च।
अमात्यान् परिरक्षेत भेदसंघातयोरपि ॥ महा० शान्ति० ८०।२४

३. 'ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः।
किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम् ॥' महा० वन० २४८।१६

बारहवां अध्याय

वैदिक युग की राजनीतिक दशा

(१) राज्य में राजा की स्थिति

जब आर्य लोग इतिहास के रंग मञ्च पर प्रगट हुए, तो वे राजनीतिक दृष्टि से संगठित हो चुके थे। उनके संगठन को 'जन' कहते थे, जो एक परिवार के समान होता था। 'जन' के सब व्यक्ति 'सजात'[1] 'सनाभ'[2] व एक वंश के समझे जाते थे। अपने 'जन' को वे 'स्व' कहते, और अन्य जनों के व्यक्तियों को 'अन्यनाभि' या 'अरण'। आर्यों के अत्यन्त प्राचीन जन प्रायः 'अनवस्थित' दशा में होते थे, क्योंकि तब वे किसी प्रदेश पर स्थायी रूप में बसे हुए नहीं होते थे। पर जब वे कहीं स्थायी रूप से बस गये, तो वह प्रदेश 'जनपद' कहाने लगा। वेदों में इसके लिये प्रायः 'राष्ट्र' शब्द का उपयोग किया गया है। वैदिक संहिताओं से आर्यों के अनेक प्राचीन जनपदों, राष्ट्रों या राज्यों की सत्ता का पता चलता है, जिनमें भरत, त्रित्सु, पुरु, शृंजय, साल्व, शिव, आर्जिकीय, कम्बोज, गान्धार आदि प्रमुख थे। इनके शासन का क्या स्वरूप था, इस विषय पर भी वैदिक साहित्य द्वारा अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस अध्याय में वैदिक युग की शासन-संस्थाओं का ही संक्षेप के साथ निरूपण किया जायेगा।

वैदिक युग के राष्ट्र या जनपद का मुखिया 'राजा' होता था। सामान्यतया, राजा का पुत्र ही पिता की मृत्यु के बाद राजा के पद को प्राप्त करता था। पर यह आवश्यक था, कि विशः या प्रजा राजा का वरण करे। यदि राजा का पुत्र प्रजा की सम्मति में राजा के पद के योग्य हो, तो प्रजा उसे ही राजा के रूप में वरण कर लेती थी। अन्यथा, उसे अधिकार था कि वह राजवंश के किसी अन्य व्यक्ति को या कुलीन परिवारों (राजन्यों) के किसी व्यक्ति को राजा के पद के लिए वरण कर सके। राजा के वरण या निर्वाचन को सूचित करने वाले कतिपय वैदिक मन्त्रों को यहाँ उल्लिखित करना उपयोगी होगा। एक मन्त्र में कहा गया है—'प्रजा (विशः) राज्य के लिए तुम्हें वरण करती है, सब दिशाओं के लोग तुम्हारा वरण करते हैं। तुम राष्ट्र-रूपी शरीर के सर्वोच्च स्थान पर आसीन रहो, और वहाँ रहते हुए उग्र शासक के समान सब में सम्पत्ति का विभाजन करो।[3] इस मन्त्र से स्पष्ट है, कि प्रजा, जनता

१. अथर्व ३।३।५; अथर्व १।९।४

२. 'येमं सनाभिरुत चान्यनाभिर्मेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः।' अथर्व० ३।३०।६

३. "त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पंच देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि" अथर्व० ३।४।२

या विशः राजा का वरण करती थी, और सब लोगों द्वारा स्वीकृत होने पर ही कोई व्यक्ति राजा के पद को प्राप्त कर सकता था। वरण का अर्थ चुनना भी है, पर इस शब्द के स्वीकारार्थक होने में तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता।

राजा के वरण या निर्वाचन के सम्बन्ध में अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र बड़े महत्त्व के हैं—"सहर्ष हम तुम्हारा अपने अन्दर आवाहन करते हैं। तुम हमारे बीच में अविचल रूप से व ध्रुव होकर स्थित रहो। सब प्रजा तुम्हें चाहें, तुमसे राष्ट्र का अधिकार कभी छीनना न पड़े। यहीं रहकर तुम उत्कर्ष करो, कभी तुम्हारा पतन न हो, कभी तुम विचलित न हो, इन्द्र के समान तुम ध्रुव होकर रहो और इस राष्ट्र का धारण करो। ये पर्वत सुदृढ़ रूप से स्थिर हैं, यह पृथिवी भी स्थिर है, यह सारा जगत् ध्रुवरूप से स्थिर है, यह द्युलोक भी भली-भाँति स्थिर है, इसी प्रकार प्रजाओं का यह राजा भी ध्रुव रूप से स्थिर रहे। राजा वरुण, देव बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि इस राजा को ध्रुव रूप से राष्ट्र का धारण करने की शक्ति दें।"[1]

अथर्ववेद के इन मन्त्रों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—जब प्रजा किसी राजा का वरण करती थी, तो स्वाभाविक रूप से उसकी यह इच्छा होती थी कि जिस व्यक्ति को उसके गुणों के कारण राजा स्वीकार किया गया है, वह ध्रुव रूप से राष्ट्र का शासन करे; वह पृथिवी, पर्वत और द्युलोक आदि के समान अपने पद पर स्थिर रहे। वरुण, बृहस्पति, इन्द्र आदि देवता उसे राजकीय पद पर स्थायी रूप से कार्य कर सकने की शक्ति दें। पर राजा से राष्ट्र का अधिकार छीना भी जा सकता था। "मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्" शब्द इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। राजा के पद के लिए केवल ऐसे व्यक्ति का ही वरण किया जाता था, जो उसी 'जन' का हो, जिससे राष्ट्र का निर्माण हुआ है। इसीलिए अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है—"मैं राजा राष्ट्र का अपना व्यक्ति हूं, मैं अपने को अवश्य उत्तम बनाऊँगा।"[2] एक अन्य मन्त्र में राजा को 'अन्तरभूः' कहा गया है,[3] जिसका अभिप्राय है कि वह अपने अन्दर का है।

यजुर्वेद में भी कतिपय ऐसे मन्त्र विद्यमान हैं, जो प्रजा द्वारा राजा के वरण किये जाने का निर्देश करते हैं। यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है, कि "सब देव लोग महान् फल के लिए, सबसे ज्येष्ठ होने के लिये, महान् जानराज्य के लिए, और

---

१. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्।"
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।
इन्द्रेहैव ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय" ॥ अथर्व ६।८७।१-२
ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवंविश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥
अथर्व ६।८८।१-२
२. "अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः।" अथर्ववेद ३।५।२
३. अथर्ववेद ३।८७।१

इन्द्रों के भी इन्द्र होने के लिए इस व्यक्ति को प्रतिस्पर्धा से विरहित करते हैं।"[1] प्रजा राजा का वरण इसी प्रयोजन से करती है, कि वह सब प्रकार की विपत्तियों से त्राण करे,[2] वह सबसे ज्येष्ट होकर रहे, उसके नेतृत्व में जनता का प्रभुत्व कायम रहे, और वह इन्द्रों का भी इन्द्र बनकर रहे। यजुर्वेद के इस मन्त्र में ऐसे राजा की देवजनों (उत्तम पुरुषों) द्वारा स्वीकृति व नियुक्ति का निर्देश विद्यमान है।

वैदिक युग में प्रजा जिस व्यक्ति को राजा के पद पर वरण करती थी, उससे वह यही आशा रखती थी, कि वह ध्रुवरूप से राष्ट्र का शासन करेगा। उसे किसी निश्चित अवधि के लिये राजा नहीं बनाया जाता था। इसीलिये अथर्ववेद में कहा गया है—हे राजन्, तू सुप्रसन्न रूप से राष्ट्र में दसवीं अवस्था तक शासन करता रहे।[3] ९० साल से ऊपर की आयु को 'दशमी' अवस्था कहते हैं। राजा से वैदिक काल में यही आशा की जाती थी, कि वह दशमी अवस्था तक (वृद्धावस्था तक) राष्ट्र के शासन का संचालन करता रहेगा।

पर ऐसे अवसर भी उपस्थित हो सकते थे, जबकि राजा दशमी अवस्था तक राष्ट्र का शासन न कर सके। कतिपय कारणों से राजा को निर्वासित भी कर दिया जा सकता था, और यदि जनता उसे पुनः राजा के पद पर अधिष्ठित करना चाहे, तो उसे निर्वासन से वापस भी बुलाया जा सकता था। अथर्ववेद का एक मन्त्र है—"वह जो अन्य क्षेत्र में विचरण कर रहा है या वहाँ पर अवरुद्ध है, वह श्येन द्वारा पराये स्थान से पुनः यहाँ ले आया जायगा। अश्विन् उसके लिए मार्ग को सुगम कर देंगे। सब सजात उसके चारों ओर एकत्र होंगे।"[4] यह मन्त्र बड़े महत्व का है, इसमें पराये क्षेत्र व प्रदेश में विचरण करते हुए या कारणवश वहाँ अवरुद्ध हुए राजा को श्येन द्वारा अपने राष्ट्र में वापस लाये जाने का उल्लेख है। यहाँ श्येन का अभिप्राय सम्भवतः गरुड़ पक्षी से है, जो प्राचीन भारत के अनेक राजवंशों द्वारा राजचिन्ह के रूप में प्रयुक्त होता था। इस मन्त्र में सम्भवतः एक ऐसे राजा का निर्देश किया गया है, जिसे या तो किसी जनपद द्वारा अवरुद्ध कर लिया गया था, और या जिसे अपने राष्ट्र से निर्वासित कर दिया गया था। श्येन-रूपी राजचिन्ह के साथ उसे पुनः अपने राष्ट्र में वापस लाया जाता है, और उसके सजात लोग पुनः उसे घेर लेते हैं। अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में यह कहा गया है—"तुझे हम फिर से बुलाते हैं, तू अपने पद पर विराजमान हो, प्रजा तुझे राजा बनाती हैं, तू श्रेष्ठ पुरुषों का पालन कर।"[5]

---

१. "इमन्देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय
महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय।" यजुर्वेद ९।४०

२. क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दः भुवनेषु रूढ़ः।"

३. "दशमीमुग्रः सुमना वशेह।" अथर्व ३।४।७

४. अथर्व ३।३।५

५. अथर्व ३।४।६।

विश: या प्रजा जिस राजा का वरण करती थी, उससे वह कतिपय कर्तव्यों के पालन की आशा भी रखती थी। इन कर्तव्यों में सर्वप्रधान जनता को धन और वैभव का प्राप्त कराना था। प्राचीन जनपदों में भूमि आदि सम्पत्ति पर व्यक्तियों का स्वत्व न होकर सम्पूर्ण जन का सामूहिक स्वामित्व माना जाता था। भूमि, पशु आदि से जो आर्थिक उत्पादन होता था, उसका सब विश: में न्यायपूर्वक वितरण करना एक महत्त्व का कार्य था। यह राजा के नेतृत्व में ही सम्पन्न होता था। इसीलिए अथर्ववेद में राजा को 'धन सम्पत्ति का प्रदान करने वाला' और सुदृढ़ रूप से धन (वसु) का विभाजन करने वाला कहा गया है।[1] राजा के इस कर्तव्यपालन के बदले में प्रजा उसे बलि प्रदान करती थी। इसीलिये ऋग्वेद में राजा को बलि (कर) लेने का एकमात्र अधिकारी कहा गया है। "हम ध्रुव रूप राजा को ध्रुव हवियों द्वारा सन्तुष्ट करते हैं। राजा ही अकेला विश: से बलि प्राप्त करने का अधिकारी है।"[2] राजा प्रजा की रक्षा करता है, उसमें धन व आर्थिक पैदावार का विभाजन करता है, और उसके बदले में प्रजा उसे बलि (कर) प्रदान करती है। कर के रूप में पारिश्रमिक प्राप्त कर राजा प्रजा का दास्य स्वीकार करता है, बाद के नीति-ग्रन्थों का यह विचार वैदिक युग में भी विद्यमान था। इसी कारण अथर्ववेद में राजा को 'राष्ट्रभृत्य' की संज्ञा भी दी गई है।[3] राष्ट्र में राजा भृत्य है और प्रजा स्वामी, यह विचार अथर्ववेद के इस मन्त्र में भी प्रगट किया गया है, कि राजा प्रजा या विश: का अनुचर (अनुचलन करने वाला) होकर रहता है।[4]

राजा का वरण विश: द्वारा किस ढंग से किया जाता था, इस सम्बन्ध में कोई निर्देश वेदों में नहीं मिलते। पर अथर्ववेद में 'राजान: राजकृत:' (राजा बनाने वाले राजाओं) का उल्लेख मिलता है और धीवान्, रथकार, कर्मार, सूत तथा ग्रामणी को 'राजकृत:' कहा गया है। ग्रामणी जनपद या राष्ट्र के अन्तर्गत ग्रामों के मुखिया (मुख्य) को कहते थे, और धीवान्, रथकार, कर्मार तथा सूत विविध प्रकार के शिल्पियों की संज्ञा थी। वैदिक युग के समाज में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का पृथक् वर्ग के रूप में विकास नहीं हुआ था। उस समय धार्मिक विधि-विधान व कर्मकाण्ड अत्यन्त सरल थे, और उनका अनुसरण कराने के लिये किसी पृथक् पुरोहित वर्ग की आवश्यकता नहीं थी। प्रत्येक आर्य योद्धा होता था, और युद्ध के समय शस्त्र धारण कर रणक्षेत्र में उतर जाता था। पर फिर भी समाज में रथी या रथकार विशेष महत्त्व रखते थे। रथी, विविध प्रकार के शिल्पी और ग्रामणी लोग ही सम्भवत: 'राजकृत:' हुआ करते थे, और वे ही राजा के वरण का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया करते थे।

---

१. अथर्व ३।४।४

२. ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि।
अथो त इन्द्र: केवलीर्विशो बलिहृतस्करत् ॥ ऋग्वेद १०।१७३।६

३. अथर्ववेद १३।१७।२।

४. स विशोऽनुव्यचलत् ॥" अथर्ववेद १५।९।१

'राजकर्तारः राजानः' जब किसी व्यक्ति को राजा के पद के लिये वरण कर लेते थे, तो राजा के चिह्न के रूप में उसे वे एक 'मणि' प्रदान किया करते थे।[1] यह मणि सम्भवतः एक 'पर्ण' (पत्ते) के रूप में होती थी। राजशक्ति को सूचित करने के लिये राजा इस पर्ण-शाखा को धारण करता था। इसीलिये अथर्ववेद में राजा के मुख से यह प्रार्थना कहायी गई है—'हे पर्ण, ये धीवान्, रथकार और मनीषी कर्मार व मेरे चारों ओर उपस्थित सब जन मेरी सहायता करें। हे पर्ण, सूत, ग्रामणी व राजकृतः राजा और मेरे चारों ओर उपस्थित सब जन मेरी सहायता करें।'[2] इस मन्त्र में पर्ण स्पष्ट रूप से एक ऐसा राजचिह्न है, जिसे सम्बोधन कर राजा राष्ट्र के प्रमुख पुरुषों व सर्व-साधारण जनों के सहयोग की प्रार्थना करता है। ब्राह्मणग्रन्थों में राजा के राज्या-भिषेक का जो वर्णन किया गया है, उससे वैदिक साहित्य के इस निर्देश पर अधिक विस्तार से प्रकाश पड़ता है। वहाँ भी राजा की पीठ पर दण्ड द्वारा आघात कर उसे अपने कर्तव्यों का स्मरण कराया जाता है, और 'रत्नी' लोग उसे रत्नहवि प्रदान करते हैं। ये रत्नी लोग ही राजा को राजचिह्न का सूचक रत्न प्रदान किया करते थे, जिसे अथर्ववेद में पर्णमणि नाम से कहा गया है। वैदिक युग में राज्याभिषेक के समय राजा को व्याघ्र-चर्म पर बिठाया जाता था। अथर्ववेद में लिखा है—"तू स्वयं व्याघ्र है। इस व्याघ्रचर्म पर बैठकर सब दिशाओं में विक्रम कर। सब विशः तुझे चाहें।"[3] जब राजा राजसिंहासन पर आसीन हो जाता था, तो सब जलों से उसका अभिषेक किया जाता था। एक वैदिक मन्त्र के अनुसार "तुझे हम सब जलों के वर्चस् से अभिषिञ्चित करते हैं।"[4] ये जल सम्भवतः जनपद या राष्ट्र की सब नदियों व जलाशयों से लिये जाते थे, जैसी प्रथा कि भारत में बाद में भी जारी रही। राज्याभिषेक के समय राजा से यह कहा जाता था, कि यह राज्य तुम्हें कृषि के लिये, क्षेम के लिए, समृद्धि के लिये और पुष्टि के लिये सौंपा गया है। तुम इसके यन्ता (संचालक), नियामक और ध्रुव-रूप से धारणकर्ता हो।[5] राजा भी इस अवसर पर विशः के साथ एक ढंग का इकरार करता था, जिसके अनुसार वह स्वीकार करता था, कि यदि मैं विशः के प्रति द्रोह करूँ, तो मैं अपने जीवन, अपने सुकृत (पुण्य कर्म फल) और अपनी सन्तान—सबसे वंचित किया जाऊँ।[6]

---

१. अथर्ववेद १।२९।१-६

२. "ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥ अथर्व ३।५।६-७

३. अथर्ववेद ४।८।४

४. "तासां त्वा सर्वासामपामभिषिञ्चामि वर्चसा।" अथर्ववेद ४।८।५

५. "इयं ते राट्। यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा पोषाय त्वा।" शतपथ ५।२।१।२५ यजुर्वेद के मन्त्र को उद्धृत करके।

६. ऐतरेय ब्राह्मण ८।१५

इस प्रकार विशः द्वारा वरण किये जाने पर और उसके साथ एक निश्चित इकरार कर के जो राजा राष्ट्र का शासन करता था, वह निरंकुश व स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था। उसकी स्थिति 'समानों में ज्येष्ठ' के सदृश होती थी, और इसी कारण वैदिक युग के इन राष्ट्रों के शासन को 'जानराज्य' (जन या जनता का राज्य) कहा जाता था।

(२) सभा और समिति

वैदिक युग के राष्ट्रों का शासन राजा अकेला नहीं करता था, अपितु उसकी सहायता के लिये सभा और समिति नाम की दो संस्थाओं की सत्ता भी थी। समिति सम्पूर्ण 'विश:' की संस्था थी। ग्रीस के प्राचीन नगर-राज्यों में से अनेक ऐसे थे, जिनके सब वयस्क नागरिक नगर-राज्य की 'समिति' में एकत्र होकर अपने राज्य के लिये कानून बनाते थे, और राजकीय नीति का निर्धारण करते थे। एथन्स की 'एक्लीजिया' इसी प्रकार की संस्था थी। वैदिक युग की समिति भी एक इस प्रकार की संस्था थी, जिसमें सम्पूर्ण विश: (या उसके वयस्क नागरिक) एकत्र होते थे। यह भी सम्भव है, कि अनेक राष्ट्रों की समितियों में सब वयस्क नागरिक न सम्मिलित होते हों, और उनका एक विशिष्ट वर्ग (जिसे वैदिक साहित्य में 'राजानः राजकृतः कहा गया है) ही उसमें शामिल होता हो। यजुर्वेद का एक मन्त्र है—"जिसके पास औषधियाँ उसी तरह से एकत्र होती हैं जैसे कि समिति में 'राजानः', उसी विप्र को भिषक् कहते हैं।"[1] इस मन्त्र से यह निर्देश मिलता है कि समिति में राजानः एकत्र हुआ करते थे। ये राजानः वही हैं, जिन्हें वेद में अन्यत्र 'राजानः राजकृतः' कहा गया है, अर्थात् वे राजा या राजन्य जो कि राजा को बनाते हैं।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में राजा यह प्रार्थना करता है—"सभा और समिति प्रजापति की दुहिताएँ हैं, वे मेरी रक्षा करें। वे मुझे उत्तम शिक्षा (समुचित परामर्श) दें, संगत में एकत्र हुए 'पितर' लोग समुचित भाषण करें।"[2] इस मन्त्र से ये बातें निर्दिष्ट होती हैं—सभा और समिति नामक संस्थाएँ प्रजापति की दुहिताएँ हैं। उन्हें राजा ने नहीं बनाया, अपितु वे ईश्वरीय विधान की परिणाम हैं। वे राजा की रक्षा करती हैं, और उसे समुचित परामर्श देने का कार्य करती हैं। उनमें 'पितर' एकत्र होते हैं, जो वहाँ समुचित रूप से भाषण देने का कार्य करते हैं। 'पितर' का अभिप्राय सम्भवत: उन व्यक्तियों से है, जिन्हें बाद के भारतीय साहित्य में 'वृद्ध' कहा गया है। प्राचीन जनपदों में विविध कुलों के जो नेता शासन-कार्य में हाथ बँटाया करते थे, उन्हीं को 'कुलवृद्ध' कहा जाता था। इसी प्रकार ग्राम के नेताओं की भी 'ग्रामवृद्ध' संज्ञा थी। सम्भवत:, इन्हीं वृद्धों को वैदिक साहित्य में 'पितर' नाम से कहा गया है।

---

१. यजुर्वेद १२।८०

२. "सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥" अथर्व ७।१२।१

पाणिनि की अष्टाध्यायी में इसी अर्थ में वृद्ध शब्द का प्रयोग किया गया है।

सभा और समिति नामक संस्थाओं का उल्लेख वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर आया है। एक मन्त्र में कहा गया है—"सभा मेरी रक्षा करे, उसके जो सभ्य सभासद हैं, वे मेरी रक्षा करें।"[1] अन्यत्र सभा, समिति और सेना का एक ही मन्त्र में उल्लेख किया गया है।[2] एक मन्त्र में प्रार्थना की गई है, कि सभा के सभासद् 'सवाचस' हों।[3] उनकी वाणी एक हो, वे परस्पर विरोधी बातें न करके सवाचस होकर कार्य करें।

सभा और समिति नामक संस्थाओं के स्वरूप पर अथर्ववेद के एक सूक्त से (८।१०।१) बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है। सूक्त इस प्रकार है—"निश्चय ही पहले 'विराट्' (अराजक या राज्यसंस्था-विहीन) दशा थी। इस दशा के उत्पन्न होने के कारण सब डरे कि क्या सदा यही दशा रहेगी। इस विराट् दशा में उत्क्रान्ति (परिवर्तन, विकास) हुई, यह विराट् दशा गार्हपत्य दशा में उतरी। इस गार्हपत्य संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई, और यह गार्हपत्य दशा 'आहवनीय' दशा के रूप में परिणत हुई। इस आहवनीय संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई, जिससे 'दक्षिणाग्नि' की दशा आई। जो कोई यह जानता है, यह 'बसती' में निवास के योग्य होता है। इस दक्षिणाग्नि दशा में भी उत्क्रान्ति हुई, और सभा की दशा आई। जो कोई यह जानता है, वह सभा का सभ्य बनता है। सभा की इस दशा में उत्क्रान्ति हुई, और समिति की दशा आई। जो कोई यह जानता है, वह समिति का सामितेय बनता है। इस समिति दशा में भी उत्क्रान्ति हुई और आमन्त्रण की दशा आई। जो यह जानता है, वह आमन्त्रण का आमन्त्रणीय बनता है।

अथर्ववेद के इस सूक्त में मानव-समाज और उसकी संस्थाओं के क्रमिक विकास का बड़े सुन्दर व स्पष्ट रूप से वर्णन है। पहले विराट् या अराजक दशा थी, जिससे सब लोग भयभीत व आशंकित हो गये। महाभारत में भी इसी विचार को प्रगट किया गया है। इस दशा में उत्क्रान्ति होकर सबसे पहले गार्हपत्य दशा आई। लोग परिवार के रूप में संगठित हुए। मानव-समाज का सबसे पहला संगठन 'परिवार' ही था, जिसमें पति, पत्नी और सन्तान एक संगठित व मर्यादित जीवन व्यतीत करते थे। गार्हपत्य व पारिवारिक संगठन में उत्क्रान्ति होकर 'आहवनीय' दशा आई। आहवनीय शब्द का अभिप्राय एक ऐसे संगठन से है, जिसमें बुलाया जाए, आह्वान किया जाए। सम्भवतः, यह ग्राम के संगठन को सूचित करता है, जिसमें विविध कुलों के कुलमुख्यों को आह्वान द्वारा एकत्र किया जाता था। आहवनीय संस्था के बाद 'दक्षिणाग्नि' संस्था का विकास हुआ। दक्षिण का अर्थ चतुर है, और अग्नि का अग्रणी। निरुक्त में अग्नि की निरुक्ति अग्रणी के रूप से की गई है। इस संस्था में

१. "सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः।" अथर्व १६।५५।६
२. "तं सभा च समितिश्च सेना च।" अथर्व १५।६।२
३. ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः।" अथर्व ७।१।२

सम्भवतः ग्राम के चतुर ग्रामणी एकत्र होते थे। यह ग्राम की अपेक्षा अधिक बड़े संगठन को सूचित करता है, जो सम्भवतः जनपद या राष्ट्र का ऐसा संगठन था, जिसमें ग्रामों के योग्य नेता (ग्रामणी) एकत्र हुआ करते थे। इसके बाद सभा और समिति नामक संस्थाओं का विकास हुआ, जो राष्ट्र या जनपद की संस्थाएँ थीं। राष्ट्र का ही एक और अधिक बड़ा संगठन था, जिसे 'आमन्त्रण' कहते थे। आमन्त्रण शब्द ही इस बात को सूचित करता है, कि इसमें सम्मिलित होने के लिये बड़ी संख्या में लोगों को निमन्त्रित किया जाता था।

वेद के इस सूक्त का बहुत अधिक महत्व है। सम्भवतः, यह प्राचीनतम संदर्भ है, जिसमें कि राज्यसंस्था की उत्पत्ति और विकास पर विचार करने का प्रयत्न किया गया है। वर्तमान समय के विचारक भी मानव-समाज व राज्य के प्रादुर्भाव एवं विकास का प्रायः यही क्रम मानते हैं। सबसे पहले परिवार संगठित हुए, फिर ग्राम, जन और जनपदों का संगठन हुआ। दक्षिणाग्नि और आमन्त्रण जैसे शब्दों का क्या अभिप्राय है, यह भली-भाँति स्पष्ट नहीं है। पर सभा और समिति स्पष्ट ही ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर आया है। अथर्ववेद में इन संस्थाओं को निर्दिष्ट करने वाले मन्त्र इसी प्रकरण में हमने ऊपर दिये हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह कहा गया है कि "तुम अपने घर को भद्र बनाओ, तुम्हारी वाणी भद्र हो और तुम चिरकाल तक सभा में रहो।"[1] एक अन्य मन्त्र में ये शब्द आये हैं—"वह सदा सभा में जाता है।"[2] एक मन्त्र में 'सभेय विप्र' का उल्लेख है,[3] जिससे सूचित होता है कि सभा के सदस्यों को 'सभेय' कहा जाता था। जहाँ मनुष्य एकत्र हुए हों, ऐसे समूह को सभा नहीं कहते थे। वह एक सुसंगठित संस्था थी, जिसके सदस्य 'सभेय' कहाते थे। पर कभी-कभी सभा में आमोद-प्रमोद भी होता था, और लोग वहाँ जाकर जुआ आदि भी खेला करते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में आया है—"जुआ खेलने वाले सभा में जाते हैं, यह समझते हुए कि हम विजयी होंगे। वहाँ उनके पासे बिखरे रहते हैं।"[4] ऋग्वेद के समय के भारतीय राष्ट्रों व जनपदों में भी सभा नाम की संस्था भली-भाँति विकसित हो चुकी थी, यह बात भरोसे के साथ कही जा सकती है।

सभा के समान समिति का भी ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर उल्लेख है। एक मन्त्र में राजा के समिति में शामिल होने के लिये जाने का निर्देश किया गया है।[5] सभा और समिति में क्या भेद था, यह वैदिक साहित्य से स्पष्ट नहीं होता। पर वैदिक मन्त्रों का अनुशीलन कर विद्वान् इस परिणाम पर पहुँचे हैं, कि समिति सभा की तुलना में एक बड़ी संस्था थी, और यह माना जाता था कि वह सम्पूर्ण विशः या प्रजा

---

१. "भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु।" ऋग्वेद ६।२८।६
२. "सदा गच्छो याति सभामुप।" ऋग्वेद ८।४।९
३. ऋग्वेद १।२४।१३
४. "सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा शूशुजानः।" ऋग्वेद १०।३४।६
५. "परि सद्मेव पशुमान्ति होता राजा न सत्यः समिती-रियानः।" ऋग्वेद ९।९२।६

का प्रतिनिधित्व करती है। सम्भवतः, राष्ट्र के अन्तर्गत सब ग्रामों के ग्रामणी उसमें सम्मिलित होते थे, और साथ ही विशः के कतिपय प्रमुख व्यक्ति—सूत, रथकार व अन्य शिल्पी आदि—भी उसमें उपस्थित होते थे। राजा भी समिति में उपस्थित होता था। समिति के पति (अध्यक्ष) को ईशान कहते थे। सभा समिति की अपेक्षा छोटी संस्था थी, और उसमें कतिपय विशिष्ट व्यक्ति ही सम्मिलित हुआ करते थे। राष्ट्र के प्रधान न्यायालय का कार्य भी सभा द्वारा ही किया जाता था।

यह आवश्यक समझा जाता था, कि सभा और समिति के सदस्य परस्पर सहयोग से काम करें। उनके मन एक हों, उनकी वाणी एक हो, उनका विचार-विमर्श एक समान हो, और वे एक ही मन्त्र (नीति) का निर्धारण करें। ऋग्वेद के अन्तिम सूत्र के ये मन्त्र सम्भवतः सभा और समिति के सदस्यों के लिये ही लिखे गये थे—तुम एक साथ मिलकर एकत्र हो, तुम एक साथ मिलकर एक-सी बात कहो तुम्हारे मन एकसदृश हों। पूर्वकाल के देवता लोग समान रूप से चिन्तन करते हुए जैसे बरतते रहे हैं, वैसे ही तुम्हारा मन्त्र एक समान हो, तुम्हारी समिति एक समान हो, तुम्हारा मन और चित्त समान हो। तुम्हारे निर्णय समान रूप से हों, तुम्हारे हृदय एकमत हों, तुम्हारे मन एक समान हों, जिससे कि तुम प्रसन्नतापूर्वक एकमत होकर रह सको।"[1]

ये मन्त्र इस बात में कोई सन्देह नहीं रहने देते, कि वैदिक काल के राष्ट्रों में सब का एकमत होना बड़े महत्त्व की बात समझी जाती थी। सभा और समिति जैसी संस्थाओं में जो लोग सम्मिलित हों, यदि उनके मन, चित्त और हृदय एक न हों, वे परस्पर विरोधी बातें कहते हों, तो वे कभी किसी समुचित निर्णय पर नहीं पहुँच सकते। इस कारण उनके लिये समान मन और समान विचार वाले होने की बात को इतना महत्व दिया गया है।

सभा और समिति नामक संस्थाओं में विविध विषयों पर विचार-विमर्श व वाद-विवाद हुआ करता था, और उनके सदस्य अच्छे वक्ता होकर दूसरों को अपने अनुकूल बनाने के लिये भी प्रयत्नशील रहा करते थे। इसीलिये अथर्ववेद में यह प्रार्थना की गई है—"यहाँ जो लोग उपस्थित हैं, मैं उनके तेज व ज्ञान को ग्रहण करता हूँ। हे इन्द्र! मुझे इस सम्पूर्ण संसद् का नेता बनाओ। जो तुम्हारा मन किसी अन्य ओर गया हुआ है, या तुम्हारा मन जो किसी बात को पकड़ कर बैठ गया है, मैं तुम्हारे उस मन को वहाँ से हटाता हूँ, तुम्हारा मन मेरे अनुकूल हो जाए।"[2] इन मन्त्रों के

१. "संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मन्त्रो समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
ऋग्वेद १०।१९१।२-४

२. एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमाददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु॥

अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि वैदिक युग की सभासमितियों में विविध वक्ता अन्य सदस्यों को अपने अनुकूल करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे, और उनमें विविध विषयों पर विचार-विमर्श द्वारा एकमत होने का यत्न किया जाता था। इसी कारण राजा की ध्रुव रूप से सत्ता के लिए समिति का उसके अनुकूल होना आवश्यक माना जाता था, और यह स्वीकार किया जाता था कि जो राजा स्वेच्छाचारी होने का यत्न करे, समिति भी उसके अनुकूल होकर नहीं रह सकती।

सभा नामक संस्था में न्याय-सम्बन्धी कार्य विशेष रूप से होते थे, इस सम्बन्ध में भी कतिपय वैदिक मन्त्र उल्लेखनीय हैं। अथर्ववेद में सभा को 'नरिष्ट' कहा गया है, जिसकी व्याख्या सायणाचार्य ने इस प्रकार की है—'जहाँ बहुत-से एकत्र होकर एक बात कहें, उसका उल्लंघन दूसरों को नहीं करना चाहिये। क्योंकि वह 'अनतिलंघ्य' होती है, इसी कारण इसे 'नरिष्ट' कहते हैं। सभा के नरिष्ट विशेषण से यह स्पष्ट है, कि इसके निर्णय का अतिक्रमण कर सकना कदापि सम्भव नहीं था। ऋग्वेद में सभा का एक विशेषण "किल्बिष-स्पृत्" दिया गया है, जिसका अर्थ है पाप या अपराध का परिमार्जन करने वाली। सभा में न्याय करते हुए उसके सभासदों द्वारा कदाचित् अन्याय या पाप हो जाने की सम्भावना भी बनी रहती थी। इसीलिए यजुर्वेद में मन्त्र द्वारा 'सभा में किये गये पाप' से मुक्ति की प्रार्थना भी की गई है।

(३) उत्तर-वैदिक युग की शासन-संस्थाएँ

वैदिक युग के राष्ट्रों में प्रायः ऐसे शासनों की सत्ता थी, जिनमें राजा का 'वरण' किया जाता था, और राजा राष्ट्र की सभा और समिति नामक संस्थाओं का अनुगामी बन कर रहता था।

पर उत्तर वैदिक काल में विविध राष्ट्रों, जानराज्यों या जनपदों के पारस्परिक संघर्ष के कारण महाजनपदों का विकास शुरू हुआ। इन सब में एक ही प्रकार का शासन विद्यमान नहीं था। धीरे-धीरे अनेक प्रकार की शासन-पद्धतियाँ भारत के जनपदों में प्रचलित हुईं। ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंजिका में एक संदर्भ है, जिसमें इस युग की विविध शासन-पद्धतियों का परिगणन किया गया है। इस संदर्भ के अनुसार प्राची दिशा के राज्यों (मगध, कलिङ्ग, वङ्ग आदि) के जो राजा हैं, उनका 'साम्राज्य' के लिए अभिषेक होता है, और वे 'सम्राट्' कहाते हैं। दक्षिण दिशा में जो सत्वत (यादव) राज्य है, वहाँ का शासन 'भोज्य' है, और उनके शासक 'भोज' कहे जाते हैं। प्रतीची दिशा (सुराष्ट्र, कच्छ, सौवीर आदि) का शासन-प्रकार 'स्वाराज्य' है, और वहाँ के शासक 'स्वराट्' कहाते हैं। उत्तर दिशा में हिमालय के क्षेत्र में (उत्तरकुरु, उत्तर-मद्र आदि) जो राज्य हैं, वहाँ 'वैराज्य' प्रणाली है, और वहाँ के शासक 'विराट्' कहाते हैं। मध्यदेश (कुरु, पाञ्चाल आदि) के राज्यों के शासक 'राजा' कहे जाते हैं। इस

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तदेव आवर्तयामसि मयि वो रमतां मनः॥ अथर्व ७।१२।३-४.

प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में साम्राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य और राज्य—इन पाँच प्रकार की शासन पद्धतियों का उल्लेख है। ये विविध प्रणालियाँ किस-किस क्षेत्र में प्रचलित थीं, इसका निर्देश भी ऐतरेय ब्राह्मण में कर दिया गया है। सम्राट् वे थे, जो वंशक्रमानुगत राजा होते हुए अपनी शक्ति के विस्तार के लिए अन्य राज्यों का मूलोच्छेद करने में तत्पर थे। महाभारत के समय का मागध राजा जरासंध इसी प्रकार का सम्राट् था। सम्भवतः, भोज उन राजाओं का संज्ञा थी, जो वंशक्रमानुगत न होकर कुछ निश्चित समय के लिए राजा के पद पर नियुक्त किये जाते थे। सात्वत यादवों में यही प्रथा प्रचलित थी, और महाभारत से सूचित होता है कि वासुदेव कृष्ण इसी प्रकार के भोज या संघ-मुख्य थे। 'स्वराट्' शासक वे थे, जिनकी स्थिति 'समानों में ज्येष्ठ' की होती थी। इन 'स्वाराज्यों' में कतिपय कुलीन श्रेणियों का शासन होता था, और सब शासक-कुलों की स्थिति एक समान मानी जाती थी। समानों में ज्येष्ठ व्यक्ति को ही 'स्वराट्' के पद पर नियत किया जाता था। सम्भवतः, वैराज्य जनपद वे थे, जहाँ जनता अपना शासन स्वयं करती थी, और जिनमें कोई राजा नहीं होता था। यह शब्द सम्भवतः गणतन्त्र जनपदों का परिचायक है। मध्य देश के कुरु, पञ्चाल आदि जनपद 'राज्य' कहाते थे, और वहाँ प्राचीन वैदिक युग की परम्परागत शासनप्रणाली विद्यमान थी।

ऐतरेय ब्राह्मण के इस संदर्भ से यह सूचित होता है, कि भारत के प्राचीन जनपदों में विविध प्रकार की शासनपद्धतियों की सत्ता थी, और उत्तर-वैदिक युग में अनेक प्रकार के शासनों का विकास हो गया था।

राज्याभिषेक—ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा के राज्याभिषेक की विधि का विशद रूप से वर्णन किया गया हैं, और इस वर्णन द्वारा उत्तर-वैदिक युग के राजा तथा शासनपद्धति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जब किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अधिष्ठित किया जाता था, तो 'राजसूय यज्ञ' का अनुष्ठान किया जाता था। राजसूय यज्ञ के बिना कोई व्यक्ति राजा के पद को प्राप्त नहीं कर सकता था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—"राजा के लिए ही राजसूय है। राजसूय यज्ञ करने से ही वह राजा बनता है।"[1] जो व्यक्ति सम्राट् का पद प्राप्त करना चाहे, उसके लिए वाजपेय यज्ञ का विधान था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—"वाजपेय से सम्राट् बनता है। राज्य हीन है, साम्राज्य श्रेष्ठ है। राजा सम्राट बनने की कामना करे।"[2]

राजा के लिए जिस राजसूय यज्ञ का विधान किया गया है, वह उसके राज्याभिषेक को ही सूचित करता है। इस यज्ञ में सबसे पूर्व विधि के साथ अग्नि का आधान कर अग्निहोत्र यज्ञ किया जाता था। उसके अनन्तर राजा के पद पर अधिष्ठित होने वाला व्यक्ति 'रत्नियों' को हवि प्रदान करता था। वैदिक युग में कतिपय व्यक्ति 'राजानः राजकृतः' होते थे, जो राजा को राज-चिह्न के रूप में पर्णमणि प्रदान किया

---

१. "राज्ञ एव राजसूयं। राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति।" शतपथ ५।१।१।१२

२. "सम्राट् वाजपेयेन अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम्।" शतपथ ५।१।१।१३

करते थे। उत्तर-वैदिक युग में इनका स्थान 'रत्नियों' ने ले लिया था। ये रत्नी निम्न-लिखित होते थे—(१) सेनानी—सेना का प्रधान अधिकारी या सेनापति। (२) पुरोहित—इसे तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'ब्राह्मण' नाम से कहा गया है। (३) अभिषिक्त होने वाला राजा स्वयं। (४) महिषी या राजमहिषी। (५) सूत। (६) ग्रामणी। (७) क्षत्रिय या क्षत्ता। (८) संगृहीता। (९) भागदुघ्। (१०) अक्षवाप। (११) गोविकर्त्ता। (१२) पालागल।[1]

इन बारह रत्नियों में से कतिपय के अभिप्राय को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। सूत राजा और राज्य-विषयक इतिवृत्त का संकलन करते थे। पुराणों में जो प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति संगृहीत है, वह पुराने काल के सूतों के कर्तृत्व का ही परिणाम है। कौटलीय अर्थशास्त्र में भी 'सूत' नामक राजकर्मचारियों का उल्लेख है, जिन्हें एक हजार कार्षापण वेतन देने की व्यवस्था की गई है।[2] ग्रामणी ग्राम के 'मुख्य' को कहते थे। जनपद या राष्ट्र के अन्तर्गत जो विविध ग्राम होते थे, उनके मुख्यों की ही 'ग्रामणी' संज्ञा थी। ते ग्रामणी प्रायः सर्वसाधारण जनता (विशः) के ही व्यक्ति होते थे, इसी कारण शतपथ ब्राह्मण में इन्हें 'वैश्य' भी कहा गया है।[3] उत्तर-वैदिक काल में जाति या वर्ण का भेद विकसित होना शुरू हो चुका था। सर्वसाधारण 'विशः से ब्राह्मण (याज्ञिक व धार्मिक अनुष्ठान के कार्यों के विशेषज्ञ) और क्षत्रिय वर्ण पृथक् होने लग गये थे। राज्याभिषेक के समय राजा जहाँ ब्राह्मण (पुरोहित) और क्षत्रिय को हवि प्रदान करता था, वहाँ सर्वसाधारण 'विशः' के प्रतिनिधिरूप वैश्य ग्रामणियों को भी उस द्वारा हवि दी जाती थी। क्षत्रिय या क्षत्ता उस वर्ग को सूचित करता है, जो सैनिक कार्य में निपुणता के कारण सर्वसाधारण 'विशः' से पृथक् हो गया था। राज्य-कोश के नियन्ता को 'संगृहीता' कहते थे। इसके लिए कौटलीय अर्थशास्त्र में 'सन्निधाता' शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] राज्यकर को वसूल करने वाले प्रधान राज-पदाधिकारी को 'भागदुघ्' कहते थे। आय-व्यय का हिसाब रखने वाले प्रधान अधिकारी की संज्ञा 'अक्षवाप' थी। कौटल्य ने इसी को 'अक्षपटलाध्यक्ष' कहा है।[5] जंगल विभाग के प्रधान अधिकारी को 'गोविकर्त्ता' कहते थे, जिसका एक मुख्य कार्य खेती को नुकसान पहुँचाने वाले जंगली पशुओं का विनाश करना भी माना जाता था। पालागल का कार्य राजकीय संदेशों को पहुँचाना होता था। मैत्रायणी संहिता में इसी के स्थान पर तक्षा या रथकार को रत्नियों में गिना गया है।[6] पालागल, तक्षा तथा रथकार ऐसे वर्ग को सूचित करते हैं, जो श्रम या शिल्प के साथ सम्बन्ध रखता था। शतपथ ब्राह्मण के

---

१. शतपथ ५।२।५।१-१३
२. कौटलीय अर्थशास्त्र २।५
३. शतपथ ५।२।५।६
४. कौटलीय अर्थशास्त्र ९।५
५. कौटलीय अर्थशास्त्र २।७
६. मैत्रायणी संहिता २।६।५

अनुसार पालागल लाल रंग की पगड़ी पहनता था, और वह धनुष, बाण और चर्म (ढाल) को धारण करता था।[1] इसमें सन्देह नहीं, कि ये बारह रत्नी जहाँ प्राचीन राज्यों के उच्च वर्ग (पुरोहित, राजमहिषी, क्षत्रिय, संगृहीता आदि) का प्रतिनिधित्व करते थे, वहाँ साथ ही सर्वसाधारण जनता (वैश्य, पालागल आदि) को भी इनमें प्रतिनिधित्व प्राप्त था। रत्नियों में राजमहिषी का उल्लेख भी महत्व का है। प्राचीन धार्मिक मर्यादा के अनुसार पत्नी के अभाव में किसी धार्मिक कृत्य का सम्पादन नहीं हो सकता था। शतपथ ब्राह्मण में पत्नी को पुरुष की अर्धाङ्गिनी कहा गया है। उसके बिना मनुष्य आधा रहता है। पत्नी के कारण ही कोई व्यक्ति 'सर्व' (पूरा) बनता है।[2] क्योंकि राजा स्वयं भी राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग होता था, अतः उसे भी रत्नियों के अन्तर्गत किया गया है। रत्नियों को हवि प्रदान करते समय राजा उनके घर पर जाता था, उनके प्रति अपने कर्तव्यों तथा वशवर्तिता को प्रदर्शित करने के लिए विविध प्रकार की हवि उन्हें प्रदान करता था। सेनानी को दी जाने वाली हवि हिरण्य (सुवर्ण) के रूप में होती थी, पुरोहित की गौ के रूप में, राजमहिषी को भी धेनु (गौ) के रूप में, सूत को यव (जौ) से बने हुए भोजन के रूप में, ग्रामणी को भी गौ के रूप में, क्षत्ता को बैल (अनड्वान्) के रूप में, भागदुघ् को काली गाय के रूप में, संगृहीता को दो गौओं के रूप में, अक्षावाप को भी गाय के रूप में, गोविकृत को भी गौ के रूप में, और पालागल को लाल पगड़ी व धनुष बाण के रूप में हवि दी जाया करती थी।[3] ये हवियाँ भी रत्नियों के अनुरूप ही थीं। हवि में प्रधानतया गौवों को प्रदान किया जाता था, जो उस युग में सम्पत्ति का प्रधान रूप था।

हवि प्रदान द्वारा रत्नियों की पूजा करते समय उनसे कहा जाता था—'हम तुम्हारे लिए ही अभिषिक्त होते हैं, और तुम्हें अपना अनुगामी (अनुपक्रमी) बनाते हैं।[4]' रत्नियों को हवि प्रदान करने का अभिप्राय यही था, कि राष्ट्र के विविध अंगों की अनुमति राजा द्वारा प्राप्त कर ली जाए, और वह उन्हें अपना अनुगामी और सहायक बना ले।

रत्नियों को हवि प्रदान करने के अनन्तर राजसूय के जो विविध अनुष्ठान किये जाते थे, शतपथ ब्राह्मण में उनका भी बड़े विस्तार के साथ वर्णन है। रत्नियों के बाद देवताओं को बलि देने का विधान किया गया है। जिस व्यक्ति को राजा के पद पर अभिषिक्त किया जाता है, उसमें अनेकविध दैवी गुणों का होना आवश्यक है। सत्य की प्रसूति के लिए सविता को, गार्हपत्य के गुणों के लिए अग्नि को, वनस्पतियों की वृद्धि के लिए सोम को, वाक्शक्ति के लिए बृहस्पति को, सबसे श्रेष्ठ (बड़े) होकर रह सकने की योग्यता के लिए इन्द्र को, गोधन व अन्य पशुओं की रक्षा के सामर्थ्य के

१. शतपथ ५।२।५।११
२. शतपथ ५।२।१।१०
३. शतपथ ब्राह्मण ५।३।१।१-१३
४. "तस्माऽएवैतेन सूयते तं स्वमनुपक्रमिणं कुरुते।" शतपथ ५।३।१।१२

लिए पशुपति रुद्र को, सत्य के लिए मित्र को, और धर्मपति बनने के लिए वरुण को बलि दी जाती थी।[1] यह बलि भी यव और व्रीहि आदि अन्नों द्वारा ही तैयार की जाती थी। ऐसा माना जाता था कि सविता आदि देवताओं को सन्तुष्ट करके राजा सत्य आदि गुणों को प्राप्त करता है, और इन दैवी गुणों के अनुरूप शासन कर सकने में समर्थ होता है।

रत्नियों और देवताओं का बलि द्वारा सत्कार करने के अनन्तर जलों द्वारा राजा का अभिषेक किया जाता था। ये जल सरस्वती आदि नदियों, ह्रदों (जलाशयों), कुओं और समुद्र व वर्षा के जल आदि से ग्रहण किये जाते थे। दूध, घी आदि जो अन्य द्रव पदार्थ हैं, उन्हें भी राजा के अभिषेक के लिए प्रयुक्त किया जाता था। कुल सोलह प्रकार के जल एवं द्रव अभिषेक के लिए प्रयुक्त होते थे। अभिषिक्त होता हुआ राजा कहता था, मैं जन का भरण करने वाला हो सकूँ, इसलिए राष्ट्र को देने वाले जलो, मुझे राष्ट्र प्रदान करो।' इस पर यह कह कर कि "यह जन का धारण करने वाला हो सके, अतः राष्ट्र को देने वाले जल इसे राष्ट्र प्रदान करें," राजा का अभिषेक किया जाता था। यह बात महत्व की है, कि राजा के अभिषेक के लिए जो जल एकत्र किये जाते थे, वे सरस्वती आदि विविध नदियों और समुद्र के साथ-साथ राष्ट्र के कुओं और जलाशयों से भी लिये जाते थे। सरस्वती सदृश नदियों को भारत के सभी राष्ट्र पवित्र मानते थे। धार्मिक व सांस्कृतिक दृष्टि से यह देश एक है, यह विचार इस प्राचीन काल में भी विकसित हो चुका था। पर अपने राष्ट्र की भूमि के प्रति विशेष भक्ति के कारण वहाँ के कुओं और जलाशयों तथा वर्षा का जल लेना भी आवश्यक था। इससे अपनी भूमि के प्रति विशिष्ट भक्ति की सूचना मिलती है।

सबसे पूर्व राजा का अभिषेक प्रजाजनों द्वारा किया जाता था।[2] जब प्रजाजन जल छिड़ककर राजा का अभिषेक कर चुकते थे, तब वह मित्रावरुण देवताओं की वेदी के सम्मुख रखी हुई शार्दूल की खाल पर बैठ जाता था।[3] वैदिक युग में राजा का अभिषेक व्याघ्र की खाल पर होता था, यह पिछले प्रकरण में लिखा जा चुका है। व्याघ्र को ही शतपथ में शार्दूल कहा गया है। राजा के शार्दूल-चर्म पर आसीन हो जाने के अनन्तर ब्राह्मण[4], 'स्व' (राजा के अपने कुल का कोई व्यक्ति,[5]) राजन्य[6] और

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५।३।३२-९

२. "तं वै माध्यन्दिने सवनेऽभिषिञ्चति। एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते तदेनं मध्यत एवैतस्य प्रजापतेर्दधाति मध्यतः सुवति।" शतपथ ५।३।५।१

३. "अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यम्। शार्दूलचर्मोपस्तृणाति···शार्दूलत्विषिमेवास्मिन् एतद्दधाति।" शतपथ ५।३।५।३

४. "तेन ब्राह्मणोऽभिषिञ्चति।" शतपथ ५।३।५।११

५. "तेन स्वोऽभिषिञ्चति।" शतपथ ५।३।५।१२

६. "तेन मित्र्यो राजन्योऽभिषिञ्चति।" शतपथ ५।३।५।१३

वैश्य[1] द्वारा क्रमशः उसका अभिषेक किया जाता था। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है, कि राजा का अभिषेक करने वाले व्यक्तियों में शूद्रों का परिगणन नहीं किया गया है। या तो इस युग के आर्य राष्ट्रों में शूद्रों का पृथक् वर्ग विकसित ही नहीं हुआ था, और या उनकी संख्या अभी अगण्य थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'स्व' के स्थान पर 'जन्य' का उल्लेख किया गया है,[2] जो सम्भवतः राजा के स्वकीय कुल का ही परिचायक है।

अभिषेक के अनन्तर राजा को वस्त्र दिये जाते थे, और वह उष्णीय (पगड़ी) आदि विविध वस्त्रों को धारण करता था।[3] वस्त्रों को धारण कर चुकने पर राजा को धनुष और तीन बाण प्रदान किये जाते थे, जो उसकी क्षात्रशक्ति के परिचायक थे।[4] धनुष के साथ उसे जो तीन बाण भी दिये जाते थे, उनका प्रयोजन पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः—तीनों लोकों के क्षेत्र में रक्षा कर सकने के कर्तव्य का उसे स्मरण कराना था।

राजा के राज्याभिषेक की यही विधि थी। जब यह विधि पूर्ण हो चुकती थी, तो घोषणा द्वारा सबको राजा के अभिषेक की सूचना दी जाती थी। यह घोषणा गृहपति अग्नि, वृद्धश्रवा इन्द्र, मित्रावरुणी देवता, विश्ववेदा पूषा, द्यावापृथिवी और अदिति आदि विविध देवताओं को सम्बोधित करके की जाती थी।[5] यह माना जाता था, कि इन सब की अनुमति राज्याभिषेक के लिए प्राप्त है। शतपथ ब्राह्मण ने इस बात को स्पष्ट किया है, कि इन देवताओं में अग्नि ब्राह्मणों का, इन्द्र क्षत्रियों का और पूषा पशुओं को सूचक है। द्यावापृथिवी में राष्ट्र के अन्य सब वर्गों का समावेश हो जाता है।

अभिषेक की घोषणा के अनन्तर अभिषिक्त राजा को कुछ शपथें लेनी होती थीं। एक शपथ में वह कहता था—"जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिसमें मेरी मृत्यु होगी, उसके बीच में (सम्पूर्ण जीवन-काल में) जो भी इष्टापूर्त (शुभ कर्म) मैंने किये हों, वे सब नष्ट हो जाएँ और मैं अपने सब सुकृतों, आयु और प्रजा से वंचित हो जाऊँ, यदि मैं किसी भी प्रकार से आपके विरुद्ध द्रोह करूँ।[6] यह शपथ राजा को अत्यन्त श्रद्धा के साथ लेनी होती थी। राज्य में चाहे किसी भी प्रकार की शासन-प्रणाली हो, राज्य-शासन का प्रकार साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, परमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, सामन्तपर्यायी और सार्वभौम आदि में से चाहे किसी भी

---

१. "तेन वैश्योऽभिषिञ्चति।" शतपथ ५।३।५।१४
२. तैत्तिरीय १।७।८
३. शतपथ ५।३।५।२०-२३
४. शतपथ ५।३।५।२७-२९
५. शतपथ ५।३।५।३१-३७
६. "एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वा अभिषिञ्चेत् स ब्रूयात् सह श्रद्धया याञ्च रात्रीमजायेऽहं याञ्च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथाः यदि ते द्रुह्येयमिति।" ऐतरेय ब्राह्मण ८।१५

ढंग का हो, पर शासन की शक्ति जिस भी व्यक्ति के हाथों में दी जाती थी, उसे यही शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी।[1] क्योंकि सब प्रकार के शासकों के कर्तव्य एक-से ही समझे जाते थे, अतः सब के लिए इसी शपथ को ग्रहण करना आवश्यक था। यह शपथ राजा या शासक को सदा अपनी स्थिति का स्मरण कराती रहती थी।

शपथ को ग्रहण करने के अनन्तर राजा को चारों दिशाओं में आरोहण करने के लिए कहा जाता था। क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं की ओर मुख करके वह इन दिशाओं द्वारा रक्षित होने का आशीर्वाद प्राप्त करता था। पूर्व दिशा में उसे ब्रह्म-द्रविण, दक्षिण दिशा से क्षत्र-द्रविण, पश्चिम दिशा से विड्-द्रविण (सर्वसाधारण विशः के धन), और उत्तर दिशा से फल-द्रविण (सम्भवतः, शूद्र-द्रविण) के रक्षित होने का आश्वासन प्राप्त होता था।[2] इस क्रिया का अभिप्राय सम्भवतः यह था, कि चारों दिशाओं में स्थित राज्य-क्षेत्र के सम्पूर्ण समाज के चारों वर्गों की धनसम्पत्ति की रक्षा करने की व्यवस्था राजा द्वारा हो।

इसके बाद राजा का एक ऐसे सुवर्ण पात्र (रुक्म) द्वारा अभिषेक किया जाता था, जिसमें सौ छिद्र होते थे। ये सौ छेद सौ साल की आयु के परिचायक थे।[3] इस समय यजुर्वेद के कतिपय मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था, जिनका अर्थ यह है—"मैं तुझे सोम के द्युम्न से, अग्नि के तेज से, सूर्य के वर्चस् से और इन्द्र के बल से अभिषिञ्चित करता हूं। तू क्षत्रपतियों के क्षत्र का पालन करने वाला हो। महान् क्षत्रबल के लिए इसे सब देवता असपत्न (जिसका कोई शत्रु न हो) करें। अमुक पुरुष और अमुक स्त्री के इस पुत्र को अमुक प्रजा के इस स्वामी को तुम क्षात्रधर्म के लिए, महान् ज्यैष्ठ्य (सर्वोपरिता) के लिए, महान् जानराज्य के लिए और इन्द्र के बल के लिए योग्य बनाओ। यह हम सबका सौम्य राजा है, यह ब्राह्मणों का राजा है।[4]" सौ छिद्र वाले सुवर्णपात्र द्वारा अभिषेक करता हुआ ब्राह्मण पुरोहित अभिषिक्त व्यक्ति को सम्पूर्ण 'विशः' के साथ-साथ ब्राह्मण वर्ग के राजा के रूप में भी स्वीकार करता था।

अभिषेक के अनन्तर राजा को लकड़ी की चौकी (आसन्दी) पर बिठाया जाता था। यह चौकी गूलर (उदुम्बर) की लड़की से बनाई जाती थी। राजा के चौकी पर बैठ जाने पर उसे कहा जाता था—"तू यन्ता (संचालक) और यमन (नियामक) है, तू इस पद पर ध्रुव है, तू इस पद का धारण करने वाला है। तुझे यह राज्य कृषि के लिए, क्षेम के लिए, धन समृद्धि के लिए, पोषण के लिए और सब प्रकार की सुख-सम्पन्नता के लिए दिया जाता है।"[5] ये वाक्य यजुर्वेद के एक मन्त्र के अनुसार कहे जाते थे।[6]

---

१. ऐतरेय ८।१५
२. शतपथ ५।३।५३-६
३. शतपथ ५।३।५।१३
४. शतपथ ५।४।२।२
५. शतपथ ५।२।१।२२-२५
६. यजुर्वेद १०।५।१७-१८।

इसके बाद राजा औदुम्बर आसन्दी से नीचे उतरता था, और उसे वराह (सुअर) के चमड़े के जूते पहनाये जाते थे। फिर वह घोड़ों के रथ पर चढ़कर कुछ दूर तक जाता था। रथ द्वारा यात्रा करके वह फिर यज्ञस्थल पर वापस लौटता था, और उसे पुनः काष्ठ की आसन्दी पर बिठा दिया जाता था। आसन्दी पर बैठते हुए उसे कहा जाता था—"अब तू धृतव्रत (व्रत को जिसने ग्रहण कर लिया हो) है। पाँचों दिशाएँ और सम्पूर्ण विशः इसकी सहायक हों।" यह कहकर राजा की पीठ पर एक दण्ड से धीरे-धीरे आघात किये जाते थे। यह आघात इस प्रयोजन से किया जाता था, कि राजा को स्मरण रहे कि वह भी दण्ड के अधीन है। शतपथ ब्राह्मण में इस क्रिया की व्याख्या करते हुए लिखा है, कि दण्ड के आघात द्वारा राजा को मृत्युदण्ड से ऊपर उठा दिया जाता है।[1] अब उसे दण्डवध (मृत्युदण्ड) नहीं दिया जा सकता।

ये सब कृत्य हो जाने के अनन्तर राज्य की जनता के विविध वर्ग राजा को 'स्फ्य' (तलवार) प्रदान करते थे। यहाँ 'स्फ्य' अधीनता व भक्ति (Allegience) का परिचायक है। जब राजा के अभिषेक के सब कृत्य सम्पन्न हो चुकें, तो यह सर्वथा स्वाभाविक व उचित है, कि जनता के विविध वर्ग उसके प्रति निष्ठा प्रदर्शित करें। यह कार्य इस क्रम से किया जाता था—ब्राह्मण (अध्वर्यु व पुरोहित), राजभ्राता, सूत, स्थपति, ग्रामणी और अन्य सजात लोग। इस कृत्य में जो मन्त्र प्रयुक्त होता था, वह बड़े महत्त्व का है। 'विविध वर्गों की भक्ति एक ऐसा वज्र है जो राजा को, जो स्वयं तो (व्यक्तिगत रूप से) बलविहीन होता है, बलवान बना देता है।' इस उक्ति को इस मन्त्र में जनता के विविध वर्गों द्वारा दोहराया गया है। वस्तुतः, अकेला राजा स्वयं बलहीन होता है, राज्य की उत्तरदायिता वह अकेला नहीं निभा सकता। पर जब जनता के विविध वर्गों की भक्ति और सहयोग उसे प्राप्त हो जाते हैं, तो वह शत्रुओं के मुकाबले में बलवान् बन जाता है और राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों को भली-भाँति सम्पन्न करने के योग्य हो जाता है।[2]

इस प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित एक अन्य मन्त्र भी ध्यान देने योग्य है। जब किसी व्यक्ति को राजसूय द्वारा राजा बना दिया जाता है, तो उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि "जिसका अभिषेक हो गया है, वह अब महान् बन गया है। पृथ्वी उससे भय खाती है। पर वह भी भय खाता है, कि कहीं पृथ्वी उसे पद-भ्रष्ट करके उसका अनादर न कर दे। इसलिए वह पृथ्वी के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करके रहता है, क्योंकि न माता पुत्र की हिंसा करती है और न पुत्र माता की।" वस्तुतः पृथ्वी (जिसका अभिप्राय यहाँ पृथ्वी व राष्ट्र में निवास करने वाली जनता से है) राजा की माता है और राजा उसका पुत्र है। जनता ही किसी व्यक्ति को राजा बनाती है, इसी कारण उसे पृथ्वी का पुत्र कहा गया है। राजा यह प्रार्थना भी करता है—"हे

१. "अथैनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति। तं दण्डैर्घ्नन्तो दण्डवधमतिनयन्ति तस्मा-द्राजाऽदण्ड्यो यदेनं दण्डवधमतिनयन्ति।" शतपथ ५।४।४।७

२. शतपथ ब्राह्मण ।५।४।४।१५-१६

पृथ्वी, तू मेरी माता है। न तू मेरी हिंसा कर और न मैं तेरी हिंसा करूँ।"[1]

उत्तर-वैदिक युग में याज्ञिक कर्मकाण्ड का महत्व बहुत बढ़ गया था। शतपथ ब्राह्मण में राजसूय का जो वर्णन किया गया है, वह एक ऐसे यज्ञ के रूप में है, जिसमें राजा न केवल जनता के विविध वर्गों की सहायता ही की अपेक्षा रखता है, अपितु साथ ही विविध देवताओं के साहाय्य की भी प्रार्थना करता है। क्योंकि देवताओं के साथ सम्पर्क के लिए पुरोहितों की सहायता आवश्यक थी, अतः स्वाभाविक रूप से इस युग के राज्यों में पुरोहित की महत्ता बहुत अधिक बढ़ गई थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार यदि राजा पुरोहित के बिना यज्ञ करे, तो देवता उस द्वारा दिये गए अन्न का भक्षण नहीं करते, अतः राजा के लिए आवश्यक है कि वह ब्राह्मण को पुरोहित नियुक्त करे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार जिस राजा के राष्ट्र का गोप्ता ब्राह्मण पुरोहित हो, वही क्षत्रियों के बल से विजय प्राप्त कर सकता है, उसी को शक्ति प्राप्त होती है, और सर्वसाधारण विशः भी उसी को एकमन होकर स्वीकार करती हैं। ब्राह्मण पुरोहित के इस महत्व का कारण सम्भवतः यही था कि याज्ञिक कर्मकाण्ड के अत्यन्त जटिल हो जाने से इस काल में एक ऐसी विशिष्ट श्रेणी का विकास हो गया था, जो धार्मिक अनुष्ठानों के रहस्य को समझती थी और जिसकी सहायता द्वारा ही देवताओं का आशीर्वाद व सहयोग प्राप्त किया जा सकता था। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि राज्य के शासन में ब्राह्मण पुरोहितों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाए और उन्हें न केवल राष्ट्र का गोप्ता ही माना जाने लगे, अपितु विशः की भक्ति प्राप्त कर सकना भी उन्हीं पर निर्भर हो जाए।

---

१. 'पृथिव्यु हैतस्माद्बिभेति महद्वाऽअयमभूद् योऽभ्यषेचि यद्वै मायं नावदृणीयादित्येवे उ हास्यं बिभेति यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयं कुरुते न हि माता पुत्रं हिनस्ति न पुत्रो मातरं तस्मादेवं वपति।' शतपथ ५।४।३।२१

तेरहवाँ अध्याय

वैदिक युग का धार्मिक जीवन

(१) देवता और उनकी पूजा

वैदिक साहित्य प्रायः धर्मपरक है, अतः उससे वैदिक युग के धार्मिक विश्वासों तथा पूजाविधि आदि के सम्बन्ध में विशद रूप से परिचय प्राप्त किया जा सकता है। वैदिक युग के आर्य विविध देवताओं की पूजा किया करते थे। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम आदि उनके बहुत-से देवता थे, जिन्हें तृप्त व सन्तुष्ट करने के लिए वे अनेकविध विधि-विधानों का अनुसरण किया करते थे। संसार का स्रष्टा, पालनकर्त्ता एवं संहर्त्ता एक ईश्वर है, यह विचार वैदिक आर्यों में विद्यमान था। उनका कथन था कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, मातरिश्वा, यम आदि सब एक ही सर्वोच्च सत्ता के विविध नाम हैं, और उस एक सत्ता को ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण आदि विविध नामों से पुकारते हैं।[1] सम्भवतः, एक ईश्वर की यह कल्पना बाद के काल में विकसित हुई, और प्रारम्भ में आर्य लोग प्रकृति की विविध शक्तियों को देवता के रूप में मानकर उनकी उपासना किया करते थे। प्रकृति में हम अनेक शक्तियों को देखते हैं। वर्षा, सर्दी, गरमी, दिन रात, आंधी, तूफान, भूकम्प—सब प्रकृति के विविध रूप हैं। प्रकृति की विभिन्न शक्तियों से ही कभी घनघोर वर्षा होती है, कभी कड़ी धूप चमकती है, कभी तूफान आते हैं, और कभी पृथिवी डोलने लगती है। जिन शक्तियों के कारण प्रकृति ये विभिन्न रूप धारण करती है, उनके कोई अधिष्टातृ देवता भी होने चाहियें, और इन देवताओं की पूजा द्वारा मनुष्य अपनी सुख समृद्धि में वृद्धि कर सकता है—यह विचार प्राचीन आर्यों में विद्यमान था। इसीलिए उन्होंने बहुत-से देवताओं की कल्पना की थी, और उनकी स्तुति-प्रार्थना के लिए जिन मन्त्रों का दर्शन व निर्माण किया था, वैदिक संहिताओं में वे संकलित हैं।

देवताओं की संख्या और उनके विभाग—वैदिक युग के आर्य जिन देवताओं में विश्वास रखते थे, वेदों में उनकी संख्या ३३ कही गई है।[2] पर ऐसे मन्त्र भी वेदों में विद्यमान हैं, जिनके अनुसार देवताओं की संख्या इससे बहुत अधिक है। एक मन्त्र में तो देवताओं की संख्या ३३३९ कही गई हैं।[3] पर न केवल वैदिक संहिताओं में

---

१. 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
   एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋग्वेद १।१६४।४६

२. 'पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व।' ऋग्वेद ३।६।९
   'यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः।' अथर्ववेद १०।७।१३

३. 'त्रीणि शता त्रीसहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।' ऋग्वेद ३।९।९

अपितु ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी प्रायशः ३३ देवता ही गिनाये गये हैं,[1] और इन देवताओं को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से देवों के तीन 'विदथ' कहे गये हैं,[2] और यास्क ने निरुक्त में देवताओं को पृथिवीस्थान, अन्तरिक्षस्थान और द्युस्थान—इन तीन विभागों में वर्गीकृत किया है।[3] द्युस्थानीय देवताओं में द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषन्, विष्णु, आदित्य, विवस्वान्, उषस् और अश्विनौ प्रधान हैं। अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं में इन्द्र, त्रित, आप्त्य, अपांनपात्, रुद्र, मातरिश्वा, अहिर्बुध्न्य, अज, एकपाद्, मरुत्, वायुवात, पर्जन्य और आपः को अन्तर्गत किया जाता है। पृथिवी-स्थानीय देवता अग्नि, बृहस्पति सोम और विविध नदियाँ हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रकार के देवता भी वेदों में आये हैं, जिन्हें 'भावात्मक' देवताओं की संज्ञा दी गई है। ऐसे देवता मन्यु, श्रद्धा, धाता, त्वष्टा आदि हैं। इनकी स्तुति में भी अनेक मन्त्र वेदों में विद्यमान हैं। वेदों में इन विविध देवताओं का जो स्वरूप प्रतिपादित है, उसका संक्षेप से निरूपण करना वैदिक युग के धार्मिक मन्तव्यों को समझने के लिए बहुत उपयोगी है।

द्युस्थानीय देवता—द्युस्थानीय देवताओं में 'द्यौः' सबसे प्राचीन व प्रधान है। आर्य जाति की ग्रीक शाखा के लोग भी ज्योस या जीग्रस (Zeus) के रूप में इस देवता की पूजा किया करते थे। द्यौः देवता आकाश का मूर्त रूप है। उसे 'पिता' तथा 'जनिता' (जनयिता या उत्पन्न करने वाला) कहा गया है। वैदिक ऋषियों ने विश्व के पिता या जनयिता के रूप में उसकी कल्पना की थी। ऋषि राहूगणपुत्र गोतम जहाँ द्यौः को 'नः पिता' (हम सबके पिता) कहते हैं,[4] वहाँ ऋषि वामदेव के अनुसार वे इन्द्र तक के कर्त्ता हैं।[5] उनका उल्लेख प्रायः पृथिवी के साथ 'द्यावापृथिव्यौ' के रूप में आया है। आकाश का मूर्त रूप द्यौः पिता है, और पृथिवी माता है। पृथिवी माता जो वनस्पति, अन्न आदि उत्पन्न करती है, उसके जनक द्यौ ही हैं। 'द्यावापृथिवी' के रूप में द्यौः और पृथिवी के एक साथ उल्लेख किए जाने का कारण यही है, कि वेद के

---

१. 'अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति।' शतपथ ब्राह्मण ११।६।३।५

२. 'येन ता स्त्रीणि विदथान्येषां देवानां जन्म सनुतरा च विप्रः।' ऋग्वेद ६।५१।२
'ये देवासो दिव्येकादश स्थ ते पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥' ऋग्वेद १।१३९।११
इस मन्त्र में 'दिवि' (द्युलोक स्थानीय); पृथिव्यां (पृथिवीस्थानीय) और 'अप्सु' (अन्तरिक्ष स्थानीय) में स्थित ग्यारह-ग्यारह देवताओं के तीन वर्ग प्रतिपादित हैं।

३. ७।१४-१।४३

४. 'मधु द्यौरस्तु नः पिता।' ऋग्वेद १।९०।७
'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र।' ऋग्वेद १।१६४।३३

५. 'सुवीरस्ते जनितामन्यत द्यौरिन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत्।' ऋग्वेद ४।१७।४

शब्दों में द्यौः पिता और पृथिवी माता है।[1] आलंकारिक रूप से वेद में द्यौः को एक ऐसा वृष (वृषभ) कहा गया है, जो नीचे की ओर मुख करके रम्भाता है।[2] आकाश से जब गरज के साथ पानी बरसता है, तब उससे सिञ्चित होकर ही पृथिवी माता अन्न आदि उत्पन्न करती है। इसी को अलंकार द्वारा प्रगट करने के लिए द्यौः को वृषभ कहा गया है। प्रकृति की जो सृजनशक्ति है, द्यौः देवता उसी को अभिव्यक्त करता है। इसीलिए उसे सबका पिता एवं इन्द्र सदृश देव का भी कर्त्ता बताया गया है।

द्यौः का ही एक रूप वरुण है। वरुण का उल्लेख प्रायः 'मित्र' के साथ 'मित्रा-वरुणौ' के रूप में आता है। उन्हें सब संसार का, सब सत्ताओं का और सब मनुष्यों तथा देवताओं को राजा कहा गया है।[3] परमेश्वर जहाँ सबको उत्पन्न करने वाला तथा पिता है, वहाँ साथ ही सबका शासक व नियामक भी है। ईश्वर के पितृरूप को द्यौः प्रकट करता है, और नियामक रूप को वरुण। आलंकारिक रूप से वेदों में यह वर्णन किया गया है, कि 'परम व्योम' में स्थित अपने भवन में बैठे हुए वरुण विश्व के सम्पूर्ण कार्यकलाप का निरीक्षण करते हैं, उनका भवन (सदस्) अत्यन्त महान् है, वह बहुत ऊँचा है, और सहस्र स्थूणों (खम्बों) पर खड़ा है।[4] इस भवन में सहस्र द्वार हैं।[5] सूर्य उदित होकर विश्व की परिक्रमा करते हुए जो कुछ देखते हैं, उसकी सूचना वरुण देव को देते हैं।[6] साथ ही, वरुण के अपने स्पश (चर या गुप्तचर) भी हैं जो संसार में सर्वत्र विचरते रहते हैं, और अपने अनगिनत नेत्रों से सबको देखते रहते हैं। वरुण के ये चर बड़े मनीषी हैं, कभी अन्यथा बात नहीं कहते।[8] दो आदमी एकान्त में बैठकर जो मन्त्रणा करते हैं, वरुण से वह भी छिपी नहीं रहती। वह तीसरा व्यक्ति सर्वत्र उपस्थित रहता है।[9] क्योंकि वरुण सम्पूर्ण विश्व के शासक हैं अतः वे पापियों तथा व्रतों का उल्लंघन करने वालों को कड़े दण्ड देते हैं। वरुण के पास से पापी या अपराधी बच नहीं सकता। अनृत भाषण करने वाला उनके पाश से कभी बच नहीं पाता। जिन व्रतों या नियमों द्वारा वरुण विश्व का शासन करते हैं, वे अत्यन्त सुनिश्चित तथा सुदृढ़ हैं। जो कोई इन व्रतों का उल्लंघन करता है, वरुण उसे क्षमा नहीं करते। पर अपने

---

१. 'द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुक्।' ऋग्वेद ६।५१।५
२. 'अधोमुखो वृषभः क्रन्दतु द्यौः।' ऋग्वेद ५।५८।६
३. 'त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुरा ये च मर्ताः।' ऋग्वेद २।२७।१०
'तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा।' ऋग्वेद ५।८३।२
४. 'राजानावनभिद्रुहाध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आसाते।' ऋग्वेद २।४१।५
५. 'बृहन्तं मानं वरुणं स्वधावः। सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते।' ऋग्वेद ७।८८।५
६. ऋग्वेद ७।६०।१; ७।६०।३
७. 'परिस्पशो वरुणस्य स्मदिष्टा उभे पश्यन्ति रोदसी सुमेके।' ऋग्वेद ७।८७।३
८. 'सन्ति स्पशो अदब्धासो अमूराः।' ऋग्वेद ६।६७।५
९. "यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः॥" अथर्ववेद ४।१६।२

उपासकों के प्रति वे दयाभाव भी रखते हैं, और प्रायश्चित्त करने वालों के अपराध क्षमा भी कर देते हैं। वस्तुतः, वरुण के रूप में वैदिक ऋषियों ने विश्व के नियामक व शासक ईश्वर की ही कल्पना की है। द्यौः के समान वरुण देवता भी अत्यन्त प्राचीन हैं। कतिपय विद्वानों ने इसकी समता ग्रीक उनरस् (Ouranos) से प्रतिपादित की है, जो आकाश का ही वाचक है। यदि इस समता को स्वीकार कर लिया जाए, तो वरुण देवता की कल्पना भी उस समय प्रादुर्भूत हो चुकी होगी, जब आर्य जाति की ग्रीक शाखा अन्य आर्यों से पृथक् नहीं हुई थी।

द्युस्थानीय देवताओं में कतिपय ऐसे हैं, जिनकी कल्पना सूर्य के विभिन्न गुणों व विशेषताओं को दृष्टि में रख कर की गई है। सूर्योदय से कुछ समय पूर्व आकाश में प्रकाश की किरणें प्रकट होने लगती हैं और वे अपने शरीर को शुभ्र वस्त्रों से आवृत करके एक नर्तकी के समान अपने को प्रस्तुत करती हैं।[1] प्रकाश के चमकते हुए वस्त्र पहन कर उषा अपनी अनुपम आकर्षक छवि को प्रकट करती है,[2] जिससे रजनी का अन्धकार दूर हो जाता है। यद्यपि उषा बहुत पुरानी है, पर पुनः-पुनः उत्पन्न होने के कारण वह सदा युवती बनी रहती है। वह अजर और अमर है।[3] सूर्य के साथ उषा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्य के यात्रापथ को वही खोलती है। पहले उषा प्रकट होती है, और फिर सूर्य। सूर्य उसका उसी प्रकार से अनुसरण करते हैं, जैसे कि कोई युवक युवती स्त्री का।[4] उसका रंग सुनहरा है, और वह ऐसे रथ पर चढ़ कर आती है जो ज्योतिष्मान्, बृहत् और चन्द्रवर्ण होता है।[5] इस रथ को लाल रंग के सुनियन्त्रित घोड़े खींचते हैं। उषा के साथ अन्धकार का अन्त होकर सर्वत्र उल्लास छा जाता है, और सब कोई अपने-अपने कार्य में लग जाते हैं। अतः उषा देवता से वैदिक ऋषियों ने यही प्रार्थना की है कि वे उन्हें धन-धान्य से सम्पन्न करें और यशस्वी बनाएँ।[6] अश्विनौ देवता का सम्बन्ध भी सूर्य के साथ है। ये संयुक्त या युगल देवता हैं, और इनका आविर्भाव उषा तथा सूर्य के उदय के मध्यवर्ती काल में होता है। उषा द्वारा उन्हें जगाया जाता है[7] और वे अपने रथ पर बैठकर उषा का अनुसरण करते हैं।[8]

---

१. 'अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्।' ऋग्वेद १।९२।४
२. 'एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्।' ऋग्वेद १।१२४।३
३. 'पुनः पुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभिशुम्भमाना।'
श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः॥ ऋग्वेद १।९२।१०
४. सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्। ऋग्वेद १।११५।२
५. 'उषो अर्वाचा बृहता रथेन ज्योतिष्मता वाममस्मभ्यं वक्षि।' ऋग्वेद ७।७८।१
६. 'अस्मे रयिं नि धारय।' ऋग्वेद १।३०।२
"सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती॥" ऋग्वेद १।४८।१
७. 'प्रबोधयोषा अश्विना।' ऋग्वेद ८।९।१७
८. युवद् रथा मनोयुजा रथेन पृथुपाजसा। सचेथे अश्विनोषसम्॥ ऋग्वेद ८।५।२

वैदिक साहित्य में इस युगल देवता की महिमा का बड़े विशद रूप से बखान किया गया है। ये दिव्य भिषक् हैं,[1] और विपत्ति का निवारण करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। च्यवन ऋषि को बुढ़ापे तथा बीमारी से उद्धार कर इन्होंने ही फिर से जवान बनाया था।[2] जीर्ण-शीर्ण विप्र कलि को युवा बनाकर इन्होंने विवाह के योग्य भी बना दिया था।[3] तुग्र का पुत्र भुज्यु एक बार समुद्र के बीच में फँस गया था। जब उसने अश्विनौ का आह्वान किया, तो ये सौ पतवारों वाली नौका लेकर उसकी सहायता के लिए गये, और उसका उद्धार किया। इसी प्रकार की कितनी ही कथाएँ वैदिक साहित्य में विद्यमान हैं, जिनसे अश्विनौ की शक्ति तथा परोपकार भावना का आभास मिलता है। सम्भवतः, ये देवता प्रकृति की उस शक्ति के प्रतीक हैं, जो सूर्योदय के पूर्व व उषा काल के अन्तिम भाग में प्रकट होती है। मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए यह समय बड़े महत्त्व का है। इस समय के सदुपयोग द्वारा मनुष्य रोगों से छुटकारा प्राप्त कर शक्ति प्राप्त कर सकता है। रात्रि के अन्धकार के कारण मार्ग से भ्रष्ट हुए भुज्यु जैसे व्यक्तियों को भी अश्विनौ द्वारा मार्ग दिखा सकना सर्वथा सम्भव है। द्यौः और वरुण के समान अश्विनौ देवता भी बहुत प्राचीन हैं। आर्य जाति की ग्रीक शाखा में भी ज्यौस या जीग्रस के दो युगल पुत्र कल्पित किये गए हैं, जो अपने घोड़ों पर बैठकर आकाश के छोर तक जाते हैं।

उषा और अश्विनौ के बाद सूर्य आकाश में ऊँचा उठने लगता है। इस उदय होते हुए सूर्य को ही मित्र देवता की संज्ञा दी गई है। यह सूर्य के उस सौहार्द्रपूर्ण रूप का प्रतीक है, जो मनुष्यों को नींद से जगाकर अपने-अपने काम-धन्धों में लगाता है,[4] और जिसके कारण वे उद्यमशील हो जाते हैं। मित्र देवता का नाम प्रायः वरुण के साथ 'मित्रावरुणौ' के रूप में लिया गया है। सम्भवतः, मित्र का सम्बन्ध दिन से है और वरुण का रात्रि से। इसीलिए अथर्ववेद में यह प्रार्थना की गई है कि मित्र उस शाला को अनावृत कर दें, जिसे कि रात के समय वरुण ने आवृत कर दिया था।[5] पारसी धर्म में 'मिथ्' के रूप में जिस देवता की पूजा की जाती है, वह और वैदिक देवता 'मित्र' एक ही हैं, इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं है। जब सूर्य पूरी तरह से उदय होकर सम्पूर्ण पृथिवी और आकाश में अपनी बाहुएँ फैला देते हैं, तब उन्हें सविता कहा जाता है। सविता देवता सबको जीवन देने वाले तथा सबमें स्फूर्ति का संचार करने वाले हैं। वे 'अपने हिरण्यय (सुनहरी) रथ से चलते हैं, और सभी भुवनों (चराचर जगत्) को देखते हुए आगे बढ़ते जाते हैं।[6] अपनी रश्मियों द्वारा वे सम्पूर्ण

---

१. 'उत त्या दैव्या भिषजा शं नः करतो अश्विना। ऋग्वेद ८।१८।८

२. ऋग्वेद १।११६।१०

३. ऋग्वेद १०।३६।८

४. 'जनं च मित्रो यतति ब्रुवाणः। इमो बामन्य: पदवीरदब्धः' ऋग्वेद ७।३६।२

५. 'स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।' अथर्व० १३।३।१३

६. 'हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।' ऋग्वेद १।३५।२

विश्व को परिपूर्ण कर देते हैं। देवताओं को अमरत्व तथा मनुष्यों को दीर्घ आयु प्रदान करना सविता का ही कार्य है। वे ही जीवन एवं प्राण शक्ति हैं, और सबका उद्बोधन उन्हीं द्वारा किया जाता है। गायत्री मन्त्र में सविता देव से ही यह प्रार्थना की गई है, कि वे हमारी बुद्धि को प्रचोदित करें।[1]

सूर्य के साथ सम्बद्ध एक अन्य देवता पूषन् हैं, जो सूर्य की पोषण शक्ति के प्रतीक हैं, और सूर्य की उत्पादक शक्ति को भी सूचित करते हैं। इसीलिए उन्हें पशुओं तथा वनस्पतियों का देवता भी कहा जाता है। सब मार्गों का उन्हें ज्ञान रहता है। अपने उपासकों को मार्ग प्रदर्शित कर वे लक्ष्य पर पहुँचा देते हैं। मार्गों को निरापद करने, शत्रुओं तथा डाकू आदि से रक्षा करने और यात्रा को शुभ बनाने के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है।[2] सूर्य, विवस्वान् और आदित्य संज्ञक द्युस्थानीय देवताओं का भी वर्णन वैदिक साहित्य में विद्यमान है। ये भी सूर्य की ही विभिन्न शक्तियों के सूचक हैं। सूर्य के विषय में वेदों में यह कहा गया है कि वे मनुष्यों तथा देवताओं के लिए भासित होते हैं,[3] अपने प्रकाश से वे अन्धकार का ध्वंस करते हैं,[4] रोगों तथा दुःस्वप्नों का वे विनाश करते हैं,[5] और सब प्राणी अपने जीवन के लिए उन्हीं पर आधारित हैं। पारसियों की अवेस्ता में जिस 'ह्वरे' देवता का उल्लेख है, वह सूर्य का ही रूपान्तर है।

द्युस्थानीय देवताओं में विष्णु के सम्बन्ध में अधिक विशद रूप से लिखना आवश्यक है, क्योंकि बाद के समय में आर्य लोगों के धर्म में विष्णु का स्थान अत्यन्त महत्त्व का हो गया था। पर ऋग्वेद के देवताओं में उनका स्थान गौण है। वहाँ विष्णु शब्द केवल सौ बार आया है, और केवल पाँच सूक्त ही ऐसे हैं जिनके देवता विष्णु हैं। विष्णु देवता की प्रधान विशेषता उनकी क्षिप्र गति है। सम्भवतः, सूर्य की निरन्तर गतिशीलता और क्षिप्र गति को दृष्टि में रखकर ही विष्णु देवता की कल्पना की गई थी। सूर्य एक स्थान पर नहीं टिका रहता। प्रातः के समय वह पूर्व दिशा में उदय होता है, मध्याह्न काल में वह आकाश के ठीक मध्य में पहुँच जाता है, और सायंकाल होने पर पश्चिम दिशा में अस्त हो जाता है। कुछ ही समय में वह सारे आकाश का परिभ्रमण कर लेता है। सूर्य का जो यह गतिशील और सक्रिय रूप है, विष्णु देवता उसी का प्रतीक है। यह विष्णु सम्पूर्ण लोक को अपने तीन पगों द्वारा माप लेता है। इनमें से दो पद या पग तो मनुष्यों को दिखाई देते हैं, पर जो तीसरा पद है वह पक्षियों

---

१. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। ऋग्वेद ३।६२।१०

२. 'वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि।' ऋग्वेद ६।५३।४

'अति नः सश्चतो नय सुगा नः सुपथा कृणु। पूषन्निह क्रतुं विदः॥'

ऋग्वेद १।४२।७

'अभिसूयवसं नय न नवज्वारो अध्वने। पूषन्निह क्रतुं विदः॥' ऋग्वेद १।४२।८

३. 'प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्।' ऋग्वेद १।५०।५

४. येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमः।' ऋग्वेद १०।३७।४

५. 'तेनास्मद्विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुःस्वप्न्यं सुव। ऋग्वेद १०।३७।४

की उड़ान से भी परे है।[१] इन विशाल पदों के कारण ही विष्णु 'उरुक्रम' और 'उरुगाय' कहाता है। विष्णु के ये तीन पद कौन-से हैं, इस सम्बन्ध में सब विद्वान् एकमत नहीं हैं। यास्क के पूर्ववर्ती नैरुक्त आचार्य और्णनाभ के अनुसार विष्णु के तीन पद सूर्य के उदय, मध्याह्न और सूर्यास्त के परिचायक हैं। एक अन्य नैरुक्त आचार्य शाकपूणि का यह मत था, कि विष्णु के तीन पदों से तीन लोक-पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक अभिप्रेत हैं। बहुसंख्यक विद्वान् इसी मत को स्वीकार्य समझते हैं। वेदों के अनुसार विष्णु का प्रधान कर्तृत्व इसी बात में है कि वे अकेले ही सुदीर्घ एवं सुविस्तृत लोक को तीन पद या पग उठाकर माप डालते हैं।[२] विष्णु के इस कार्य का वेदों में बार-बार अनेक रूपों में उल्लेख किया गया है।[३] ऋग्वेद में विष्णु का जो यह रूप (तीन पगों से सम्पूर्ण विश्व को माप डालने वाला रूप) वर्णित है, उसी से वामनावतार का वह आख्यान विकसित हुआ, पुराणों में जिसे बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादित किया गया है। शतपथ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मणों में भी विष्णु के इस वामन रूप का उल्लेख मिलता है।[४] पर ऋग्वेद से विष्णु का जो स्वरूप परिलक्षित होता है, उसके अनुसार वे सब के गोप्ता (रक्षक), पालन करने वाले और पृथिवी लोक, द्युलोक एवं सम्पूर्ण भुवन का धारण करने वाले हैं।[५] उन्होंने पृथिवी तथा आकाश को चारों ओर खूँटियों से कसकर स्थिर किया हुआ है।[६] यह जो सम्पूर्ण विश्व भलीभाँति सुस्थिर है, यह विष्णु के कारण ही है। विष्णु के तीन पदों में जो तीसरा या 'परम' पद है, जो पक्षियों की उड़ान से भी परे है, ऋग्वेद में उसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया गया है। वहाँ मधु का 'उत्स' (झरना) प्रवाहित होता रहता है,[७] बहुत-सी न थकने वाली 'भूरिशृंङ्ग' गौवें विचरती रहती हैं,[८] और देवता वहाँ आनन्दमग्न होकर निवास करते हैं।[९] विष्णु का वही परम पद या परम धाम है। विष्णु पद का जो माहात्म्य बाद के समय में माना जाने लगा और उसकी पूजा भी की जाने लगी, उसका मूल भी वेदों में

१. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
   तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः। ऋग्वेद १।१५५।५
२. 'य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः। ऋग्वेद १।१५४।३
३. यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे।' ऋग्वेद ८।१२।२७
४. 'वामनो ह विष्णुरास।' शतपथ १।२।५।५
   'स एतं विष्णुर्वामनमपश्यत्।' तैत्तिरीय संहिता २।१।३।१
५. विष्णुर्गोपा परमं पाति पाथः। ऋग्वेद ३।५५।१०
   'य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा।' ऋग्वेद १।१५४।४
६. 'व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः।' ऋग्वेद ७।९९।३
७. उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।' ऋग्वेद १।१५४।५
८. तां वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।' ऋग्वेद १।१५४।६
९. नरो यत्र देवयवो मदन्ति।' ऋग्वेद १।१५४।५
   'यत्र देवासो मदन्ति।' ऋग्वेद ८।२९।७

पाया जाता है। इसी प्रकार सनातन पौराणिक धर्म के विकास के साथ विष्णु के वराहावतार और कूर्मावतार आदि की जो अनेक कथाएँ प्रचलित हुई, उनका मूल भी वेदों में विद्यमान है। वैदिक संहिताओं में विष्णु देवता का वह महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है, जो पौराणिक धर्म में है। पर विष्णु के इस माहात्म्य के बीज वेदों में अवश्य विद्यमान हैं।

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता—ऋग्वेद में इन्द्र देवता का स्थान सर्वोच्च है। उसमें २५० ऐसे सूक्त हैं, जिनके देवता इन्द्र हैं। ऋग्वेद के चौथाई के लगभग भाग में इन्द्र की स्तुति व गुणगान पाये जाते हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि इन्द्र वैदिक आर्यों के जातीय देवता थे। उन्हीं के नेतृत्व में या उन्ही की कृपा से आर्यों ने आर्य-भिन्न जातियों पर विजय प्राप्त की थी और वृत्र जैसे दानवों का संहार कर आर्यों को भूमि प्राप्त हुई थी। पचास हजार कृष्ण वर्ण के लोगों को नष्ट कर उनके पुरों (दुर्गों) का उन्होंने ध्वंस कर दिया था।[1] दस्युओं को पराभूत कर सप्तसिन्धव देश में आर्यों के बस सकने का मार्ग उन्हीं द्वारा प्रशस्त किया गया था। इन्द्र का मुख्य शस्त्र वज्र था। वज्र के लिए ऋग्वेद में चतुष्कोण शतकोण, शतपर्व, सहस्रभृष्टि आदि विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं। साथ ही, इसे 'आयस' (अयस् धातु द्वारा निर्मित) भी कहा गया है। वज्र द्वारा इन्द्र ने पर्वत में आश्रय ग्रहण किए हुए दानव का वध किया, वहां के जलों को उन्मुक्त किया और पर्वतो के उदर विदीर्ण किए। ऋग्वेद के अध्ययन से इन्द्र के दो रूप हमारे सम्मुख आते हैं, उनका मानव रूप और उनका प्राकृतिक शक्ति का प्रतीकात्मक रूप। मानव रूप में इन्द्र अनुपम योद्धा हैं, जो आर्यभिन्न दानवों, दस्युओं व दासों को युद्ध में परास्त कर आर्यों के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। वृत्र, शम्बर आदि कितने ही शत्रु राजाओं के इन्द्र द्वारा पराभूत किए जाने का वर्णन वेदों में विद्यमान है। पर इन्द्र का एक ऐसा रूप भी ऋग्वेद में मिलता है, जो स्पष्टतया अमानव है। अपने इस रूप में इन्द्र विद्युतों को उत्पन्न करते हैं, और जलों के प्रवाह को अन्तरिक्ष से नीचे की ओर पृथिवी की तरफ कर देते हैं।[3] इसी को दृष्टि में रखकर कतिपय विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है, कि इन्द्र वृष्टि के देवता हैं, और वृत्र मेघ का प्रतीक है। विद्युत् रूपी अग्नि को उत्पन्न कर इन्द्र मेघों में अवरुद्ध जल को मुक्त करते हैं, जिसका प्रवाह वर्षा द्वारा पृथिवी की ओर हो जाता है। पर ऋग्वेद में इन्द्र को जो इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, उसका कारण उसका वह मानव रूप ही है, जिससे कि उन्होंने आर्य जाति के शत्रुओं को युद्ध में परास्त किया था। उनकी महिमा का बखान करते हुए ऋषि गृत्समद ने कहा है—'जिनके बिना मनुष्य युद्ध में विजय ही नहीं पा सकते, युद्ध करते हुए लोग आत्मरक्षा के लिए जिनकी उपासना करते हैं···

---

१. पञ्चाशत् कृष्णा नि वपः सहस्राऽत्कं न पुरो जरिमा विदर्दः। ऋग्वेद ४।१६।१३

२. ऋग्वेद ४।२२।२; ८।६।६; १।८०।१२

३. यस्यासमा अजनो विद्युतो दिव उरुरूर्वा अभितः सास्युक्थ्यः। ऋग्वेद २।१३।७
'अधराचीमकृणोदपामपः।' ऋग्वेद २।१७।५

वह इन्द्र ही हैं"। जब आर्य लोग दानवों, दस्युओं और दास जातियों को परास्त कर सप्त-सिन्धव देश में निरापद रूप से बस गए और उन्हें किन्हीं बाह्य शत्रुओं से युद्ध की आवश्यकता नहीं रह गई, तो उनके लिए इन्द्र का वह महत्त्व नहीं रह गया जो पहले था। इसी कारण उत्तर-वैदिक-युग के साहित्य में इन्द्र का अधिक महत्त्व नहीं पाया जाता।

त्रित आप्त्य, अपांनपात्, मातरिश्वा और अहिर्बुध्न्य ऐसे अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता हैं, जिनका इन्द्र के साथ निकट सम्बन्ध है। इन्द्र से प्रोत्साहन पाकर त्रित आप्त्य ने अपने पैतृक आयुधों द्वारा त्वष्ट्रा के पुत्र के तीन सिरों पर आघात कर उस द्वारा अवरुद्ध गौओं को उन्मुक्त किया था।[2] जैसे इन्द्र ने दानवराज वृत्र का वध किया था, वैसे ही त्रित आप्त्य ने आयस शस्त्र द्वारा वराह (एक राक्षस) को मारा था।[3] अपांनपात् एक ऐसे देवता हैं, जो मेघों से उत्पन्न होने वाली विद्युत्-अग्नि के रूप में प्रकट होते हैं, और मेघों में अवरुद्ध जल को मुक्त करने में उनका भी हाथ रहता है। मातरिश्वा भी एक ऐसे देवता हैं, जिनका रूप अग्निमय है और जिनकी उत्पत्ति जल से होती है। इस देवता से भी मेघ द्वारा उत्पन्न विद्युत्-अग्नि का ही बोध होता है। अहिर्बुध्न्य देवता का निवास भी अन्तरिक्ष के सलिलों में है। उनका सम्बन्ध भी वृष्टि से है। इन्द्र और उनके सहयोगी ये देवता अनावृष्टि रूपी दैत्य (वृत्र) का संहार करते हैं, और अन्तरिक्ष में अवरुद्ध सलिल को उन्मुक्त कर पृथिवी को उर्वर बनाने में सहायक होते हैं। आर्यों का आर्थिक जीवन प्रधानतया खेती पर ही निर्भर था। इसलिए उन्होंने अनेक ऐसे देवताओं की कल्पना की थी, जिनका सम्बन्ध प्राकृतिक शक्तियों से है और जिन द्वारा वर्षा होने में सहायता मिलती है। वर्षा से सम्बद्ध ही अन्य अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता अज एकपाद, मरुत, पर्जन्य, वायु और आपः हैं।

अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं में रुद्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेद में केवल तीन ऐसे सूक्त हैं, जिनके देवता रुद्र हैं। इससे यह सूचित होता है कि ऋग्वेद के समय में रुद्र का विशेष महत्त्व नहीं था। पर बाद में विकसित हुए पौराणिक धर्म में 'शिव' के रूप में रुद्र देवता ने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया, और विष्णु के समान उनकी भी विशेष रूप से पूजा होने लगी। ऋग्वेद में रुद्र मानव रूप में वर्णित हैं, क्योंकि वहाँ उनके हाथों, भुजाओं, रंग, होंठ, उदर, मुख, जिह्वा और दाँतों आदि का उल्लेख किया गया है। बाद के समय में शिव की कल्पना जिस रूप में की गई, उसका मूल भी ऋग्वेद में विद्यमान है। एक मन्त्र में उन्हें नीलग्रीव (नीलकण्ठ)

१. यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः॥ ऋग्वेद २।१२।९
२. ऋग्वेद १०।८।८
३. 'अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयो अग्रया हन्।' ऋग्वेद १०।९९।६

कहा गया है,[1] और एक मन्त्र में 'कृत्तिवासा'[2] (चर्म धारण करने वाला)। एक मन्त्र में 'कपर्दी' विशेषण उनके साथ प्रयुक्त किया गया है,[3] जिससे उनके सिर पर जटाजूट का होना सूचित होता है। वे पर्वत पर निवास करते हैं।[4] उनका प्रधान अस्त्र धनुष बाण हैं,[5] पर वे वज्र भी धारण करते हैं।[6] वे मृग (सिंह) की भाँति भीम और हनन के लिए उग्र हैं।[7] उन्हें 'वृषभ' भी कहा गया है।[8] एक मन्त्र में उनके लिए 'शिव' संज्ञा का भी प्रयोग किया है।[9] उत्तर-वैदिक युग में इस देवता को प्रधानतया शिव ही कहा जाता था। उस काल में शिव का एक नाम त्र्यम्बक भी विशेष रूप से प्रयुक्त होता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में रुद्र शिव को 'त्र्यम्बक' भी कहा गया है।[10] इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद के देवताओं में रुद्र का स्थान गौण है, पर यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में उनका महत्त्व बढ़ गया है। यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय (शतरुद्रिय प्रकरण) में रुद्र देवता ने प्रायः वही रूप प्राप्त कर लिया है, जो उत्तर-वैदिक तथा पौराणिक युगों में शिव का था। वहाँ रुद्र को 'पशूनां पतिः' व 'पशुपति'[11], 'जगतां पतिः'[12] (विश्व का स्वामी), शम्भू, शंकर, शिव[13] आदि नामों से कहा गया है। उनके रुद्र (भयंकर) और शिव (मंगलकारी) दोनों प्रकार के रूप हैं। प्रसन्न होने पर वे अपना 'शिवा तनूः' (मंगलमय

१. 'असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।' यजुर्वेद १६।७
'नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।' यजुर्वेद १६।८

२. परमे वृक्षऽआयुधं निधाय कृत्तिं वसानऽआचर पिनाकं बिभ्रदागहि।'
यजुर्वेद १६।५१
'अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाऽअहिंसन्नः शिवोऽतीहि।' यजुर्वेद ३।६१

३. 'इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः' ऋग्वेद १।११४।१

४. 'यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्॥' यजुर्वेद १६।३

५. 'अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्। ऋग्वेद २।३३।१०

६. 'श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।' ऋग्वेद २।३३।३

७. 'स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्।' ऋग्वेद २।३३।११

८. प्र बभ्रवे वृषभाय श्वितीचे महो महीं सुष्टुतिमीरयामि।' ऋग्वेद २।३३।८

९. स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन।
येभिः शिवः स्ववाँ एवयावभिर्दिवः सिषक्ति स्वयशा निकामभिः॥'
ऋग्वेद १०।९२।९

१०. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।' ऋग्वेद ७।५९।१२

११. पशूनां पतये नमो नमः।' यजुर्वेद १६।१७
'नमः शङ्गवे च पशुपतये च नमः।' यजुर्वेद १६।४०

१२. 'अन्नानां पतये नमो नमो भवस्य हेत्यै जगतां पतये नमो।' यजुर्वेद १६।१८

१३. 'नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।' यजुर्वेद १६।४१

रूप) प्रगट करते हैं, और क्रुद्ध होने पर रुद्र रूप। रुद्र की प्रार्थना करते हुए ऋषि आङ्गिरस कुत्स ने एक मन्त्र में कहा है—क्रोध में आकर आप हम उपासकों, हमारे माता-पिताओं, हमारी सन्तान एवं परिजनों, हमारी गौओं और घोड़ों आदि पशुओं को क्षति न पहुँचाएँ।[1] अथर्ववेद में रुद्र के लिए भव, शर्व, पशुपति और भूतपति संज्ञाओं को प्रयुक्त किया गया है।[2] वेदों में रुद्र शिव की रोगों का निवारण करने वाली शक्ति का भी उल्लेख है,[3] जिसके परिणामस्वरूप ही बाद के काल में शिव के वैद्यनाथ रूप का भी विकास हुआ। रुद्र शिव का जो रूप बाद के हिन्दू या पौराणिक धर्म में विकसित हुआ, उसके अनुसार शिव भूतपति और पशुपति ही हैं। इस रूप का विकास उत्तर-वैदिक युग में ही प्रारम्भ हो गया था।

पृथिवी स्थानीय देवता—पृथिवी स्थानीय देवताओं में अग्नि देवता का प्रमुख स्थान है। उनकी स्तुति में २०० से भी अधिक सूक्त ऋग्वेद में विद्यमान हैं। द्युलोक का सूर्य और अन्तरिक्ष लोक की विद्युत् भी अग्नि के ही रूप हैं। पर पृथिवी पर जो भौतिक अग्नि है, याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिए उसी का उपयोग है। वेदों में उसका जो वर्णन मिलता है, वह भौतिक अग्नि के रूप में है, और साथ ही मानव के रूप में भी। भौतिक अग्नि का भोजन हव्य, अन्न और घृत है। जंगलों को वे चबा डालते हैं और अपनी जिह्वाओं से चाट-चाट कर काला कर देते हैं। उषा, सूर्य और विद्युत् के समान वे भी प्रकाशमान् हैं। उनकी लपटें ऊपर की ओर लपकती हैं, और वायु के झोंकों से उनकी ज्वालाएँ गगन को चूमने लगती हैं। यह वर्णन स्पष्टतया भौतिक अग्नि का है। पर मानव रूप में भी अग्नि देवता का वर्णन किया गया है, जिसमें उनकी तुलना वृषभ, श्येन और अश्व के साथ की गई है। उनके सहस्र नेत्र तथा सहस्र शृङ्ग हैं। अपने हाथों में वे अनेकविध उपहार धारण किए रहते हैं। उनको सुजिह्व (अच्छी जीभ वाला) और हिरण्यदन्त (सुनहरे दांतों वाला) भी कहा गया है। उनका वर्ण शुचि है। भौतिक अग्नि का मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रत्येक गृह में उसका निवास होता है। इसीलिए अग्नि को गृहपति भी कहा गया है। मनुष्यों की बस्तियों की स्थिरता एवं समृद्धि अग्नि पर ही निर्भर रहती है। अग्नि जनता की रक्षक है, एवं उसे द्रविण प्रदान करने वाली है। मनुष्यों का आर्थिक जीवन तो अग्नि पर निर्भर करता ही है, पर साथ ही धार्मिक कर्मकाण्ड तथा देवताओं की पूजा तथा सन्तुष्टि भी अग्नि द्वारा ही की जाती है। वैदिक युग में आर्यों का धर्म यज्ञप्रधान था। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर देवताओं का आवाहन किया जाता था, और यह समझा जाता था कि अग्नि-कुण्ड में दी गई आहुति देवताओं के पास पहुँच जाती है। इसीलिये वैदिक धर्मानुष्ठान में अग्नि का बहुत महत्त्व था। उसे यज्ञ का देवता माना जाता था, और ऋषि तथा पुरोहित एवं होता तथा ऋत्विक् सब कुछ समझा जाता था।

---

१. ऋग्वेद १।११४।७-८

२. 'भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।' अथर्ववेद ११।२।१

३. ऋग्वेद १।४३।४; ५।५३।१४; ८।२९।५; ७।४६।३

पृथिवी-स्थानीय देवताओं में सोम का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। याज्ञिक कर्मकाण्ड का सोम-याग प्रमुख अङ्ग था, अतः स्वाभाविक रूप से सोम को एक महान् देवता माना जाता था। ऋग्वेद के नवम मण्डल में १४४ सूक्त हैं, जिन सबका देवता सोम है। इनके अतिरिक्त अन्य मण्डलों में भी कतिपय सूक्त ऐसे हैं, जिनके देवता सोम हैं। सोम एक वनस्पति होती थी, जिसके रस को वैदिक आर्य बल तथा स्फूर्ति प्रदान करने वाला पेय समझते थे। सोम लता को किस प्रकार एकत्र किया जाए, पत्थरों से कूटकर उसकी छाल को कैसे अलग किया जाए, फिर रस कैसे निकाला जाए, और किस प्रकार उसे छाना जाए—इन सबके सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत ऋग्वेद में विद्यमान हैं। सोम-रस का प्रयोग न केवल पीने के लिए ही किया जाता था, अपितु यज्ञकुण्ड में उसकी आहुतियाँ भी दी जाती थीं। वैदिक आर्य सोम रस को अत्यन्त गुणकारी मानते थे। उसका पान कर उन्हें अत्यधिक उल्लास की अनुभूति होती थी। वे यह समझते थे, कि इस रस को पीने से देवों तथा मनुष्यों को अमृतत्व की प्राप्ति होती है।[1] सोम का प्रयोग औषधि के रूप में भी किया जाता था। सर्वश्रेष्ठ औषधि होने के कारण सोम को वनस्पतियों का राजा कहा गया है, और अन्य वनस्पतियों को सोम की प्रजा।[2] वेदों में जिस सोम की देवता के रूप में स्तुति की गई है, वह एक अत्यन्त गुणकारी पार्थिव वनस्पति है। उसके गुणों के कारण ही उसे देवता का रूप प्रदान किया गया है। आर्य जाति के लोगों में सोम का यह महत्त्व उस युग में ही विकसित हो गया था, जबकि आर्यों की ईरानी शाखा भारतीय शाखा से पृथक् नहीं हुई थी। पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता में सोम को 'होम' रूप में लिखा गया है। होम भी एक वनस्पति है, जिसके रस को अत्यन्त गुणकारी कहा गया है, और उसे भी देवता की स्थिति प्राप्त है।

सोम और अग्नि के समान ही महत्त्वपूर्ण एक अन्य पृथिवी-स्थानीय देवता बृहस्पति है। इनकी स्तुति में ऋग्वेद में ११ सूक्त विद्यमान हैं। याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिए उनका विशद महत्त्व है, क्योंकि सब प्रार्थनाओं, स्तुतियों तथा मन्त्रों के बृहस्पति ही प्रेरक हैं। यज्ञों में वे देवों का पौरोहित्य करते हैं।[3] उनके बिना यज्ञ सफल नहीं हो पाता। याज्ञिक अनुष्ठान में पुरोहित के रूप में उनका कार्य स्तुति-मन्त्रों का उच्चारण करना है। वे अपने ऐसे मित्र-गायकों के साथ मिल कर स्तुति गान करते हैं, जिनकी वाणी हंसों जैसी मधुर होती है।[4] बृहस्पति के अन्य नाम ब्रह्मणस्पति और वाचस्पति हैं।

विविध नदियाँ और स्वयं पृथिवी भी पृथिवी-स्थानीय देवता हैं। ऋग्वेद की

---

१. त्वां देवासो अमृताय कं पपुः। ऋग्वेद ९।१०६।८
'अपाम सोममृता अभूमा गन्म ज्योतिरविदाम देवान्।' ऋग्वेद ८।४८।३
२. 'सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिः।' ऋग्वेद ९।११४।२
३. 'बृहस्पति पुरोहिता देवस्य सवितुः सवे। देवा देवैरवन्तु मा।' यजुर्वेद २०।११
'बृहस्पतिर्देवानां पुरोहित आसीत्।' तैत्तिरीय संहिता ६।४।१०।१
४. ऋग्वेद १०।६७।३

नदियों में सरस्वती प्रधान है। अनेक सूक्तों में उसका स्तवन किया गया है। ऋग्वेद में कुल मिलाकर २१ नदियों का उल्लेख है, जिनमें सरस्वती, सिन्धु, शुतुद्री, परुष्णी, सरयु, गंगा, यमुना और विपाशा विशेष महत्त्व की हैं। भारत में आकर जिन नदियों के तटवर्ती प्रदेशों में वैदिक आर्यों ने अपनी बस्तियाँ बसाई थीं, और जिनके जल पर उनका आर्थिक जीवन निर्भर था, उन्हें यदि वे देवता के रूप में मानने लगें, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। पृथिवी के प्रति भी वैदिक आर्यों को प्रगाढ़ अनुराग था। अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त[1] वैदिक राष्ट्रीय गीत है, जिसमें इस आर्यभूमि के प्रति अपनी सुदृढ़ भक्ति प्रदर्शित की गई है।

अन्य वैदिक देवता—द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और पृथिवीस्थानीय देवताओं के अतिरिक्त अन्य भी कतिपय देवता वेदों में आए हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेदों में अनेक स्थलों पर देवता से केवल वह पदार्थ या सत्ता अभिप्रेत है, जिसे सम्बोधन कर या जिसके विषय में मन्त्र की रचना की गई है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ९५ वें सूक्त में पुरुरवा ऐल और उर्वशी का संवाद है। इस सूक्त में जिस मन्त्र का ऋषि पुरुरवा है, उसका देवता उर्वशी है, और जिसकी ऋषि उर्वशी है उसका देवता पुरुरवा है। यही बात यमयमी सूक्त के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।[2]

जिन अन्य प्रकार के देवताओं की वैदिक मन्त्रों में स्तुति की गई है, उन्हें अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है; जैसे भावात्मक देवता, कर्तृ देवता और देवियाँ। भावात्मक देवताओं में मन्यु, श्रद्धा, अनुमति, अरमति (भक्ति), निऋंति (रोग व दुर्भाग्य), काम, काल, स्कम्भ और प्राण उल्लेखनीय है। ये सब विशिष्ट भावों के सूचक हैं, पर वेदों में इन्हें मानव रूप में कल्पित किया गया है और इनकी स्तुति में भी कतिपय मन्त्र कहे गये हैं। कर्तृ देवताओं में त्वष्टा और प्रजापति प्रधान है। त्वष्टा तक्षण कार्य में अत्यन्त कुशल हैं, और अपनी कला का प्रयोग कर अनेकविध वस्तुओं की रचना करते हैं। इन्द्र के लिए वज्र का निर्माण उन्हीं द्वारा किया गया था,[3] और उन्होंने ही बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति के 'आयस' परशु को पैना किया था।[4] सृजन या निर्माण कार्य को भावात्मक रूप दे कर त्वष्टा देवता की कल्पना की गई थी। इसी प्रकार के एक अन्य देवता विश्वकर्मा प्रजापति हैं, जिन्हें सम्पूर्ण विश्व का स्रष्टा कहा गया है। ऋभु एक अन्य देवता है, जिन्होंने एक ऐसा रथ बनाया था जिसमें घोड़ा नहीं जोता जाता था, जिसमें तीन चक्र थे और जो समस्त लोक में अबाध गति से आता-जाता था।[5] ऋभु ने इस रथ का निर्माण अश्विनौ के लिए किया था। उन द्वारा बनाये

---

१. अथर्ववेद १२।१
२. ऋग्वेद १०।१०
३. 'अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन् त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम्।' ऋग्वेद ५।३१।४
४. 'शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चादेतशो ब्रह्मणस्पतिः।' ऋग्वेद १०।५३।९
५. 'अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ॥' ऋग्वेद ४।३६।१

गये घोड़ों और गौओं का वर्णन भी ऋग्वेद में आया है। ऋभु के माता पिता वृद्धावस्था के कारण बहुत कृश तथा जीर्ण-शीर्ण हो गये थे। उन्होंने उन्हें फिर से युवा बना दिया था।[1] इसी प्रकार के कितने ही अद्भुत कार्यों का श्रेय वेद में ऋभु देवता को दिया गया है। उनके सम्बन्ध में यह भी कहा गया है, कि वस्तुतः वे मनुष्य थे, पर अपने सुकर्मों तथा दक्षता के कारण उन्होंने अमरत्व प्राप्त कर लिया था।[2] ऋभु शब्द का प्रयोग वेद में प्रायः बहुवचन में 'ऋभवः' के रूप में आया है।

वाक्, इडा, सरस्वती, मही, पुरन्धि, धिषणा, सरण्यू, इन्द्राणी, कुहू, प्रश्नि आदि कतिपय देवियों की स्तुति में भी अनेक मन्त्र ऋग्वेद में विद्यमान हैं। कुछ मन्त्रों में उर्वशी सदृश अप्सरा तथा विश्वावसु सदृश गन्धर्व का भी उल्लेख है। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र से प्रार्थना की गई है, कि शिश्नदेवाः हमारे यज्ञ को न बिगाड़ें।[3] एक अन्य स्थान पर शिश्नदेवों के पुर (दुर्ग) के इन्द्र द्वारा जीत लिये जाने का वर्णन है। शिश्नदेवाः उन लोगों को कहा जाता था, जो शिश्न (जननेन्द्रिय) की पूजा करते थे। सिन्धु घाटी की सभ्यता के भग्नावशेषों में ऐसी मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं, जिनसे वहां के निवासियों का मातृ देवता का पूजक होना सूचित होता है। सम्भवतः, ऋग्वेद में उन्हें ही शिश्नदेवाः कहा गया है। इनके सम्पर्क से बाद में आर्यों ने भी शिश्नपूजा या लिङ्ग-पूजा को अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया था, यद्यपि शुरू में वे इन शिश्नदेवों के शत्रु थे, और उनसे घृणा करते थे।

देवपूजा की विधि—इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक युग के आर्य बहुत-से देवी-देवताओं को मानते थे, और देवताओं की पूजा उनके धर्म का महत्वपूर्ण अंग थी। यह देवपूजा याज्ञिक कर्मकाण्ड द्वारा की जाती थी। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर उसमें अन्न, समिधा, दूध, घी और सोमरस की आहुतियां देना इस याज्ञिक कर्मकाण्ड का मुख्य रूप था। यज्ञ का अनुष्ठान करते हुए मन्त्रों का पाठ किया जाता था, और साथ ही साम का गायन। इनके लिए पुरोहितों की सहायता भी ली जाती थी, यद्यपि आर्य गृहस्थ अपने दैनिक यज्ञों का अनुष्ठान स्वयं भी कर लिया करते थे, क्योंकि वैदिक युग में याज्ञिक विधि-विधान वैसे जटिल एवं आडम्बरमय नहीं हुए थे, जैसे कि बाद में ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय में हो गये थे। यज्ञों द्वारा देवताओं का आवाहन कर तथा दूध, घी, अन्न आदि की आहुतियों से उन्हें सन्तुष्ट कर आर्य लोग अपने इन देवताओं से प्रजा, पशु, अन्न और तेजस्विता की प्राप्ति की याचना किया करते थे।

---

१. 'युवाना पितरा पुनः सत्यमन्त्रा ऋजूयवः। ऋभवो विष्ट्यक्रत॥' ऋग्वेद १।२०।४
'शच्याकर्त पितरा युवाना शच्याकर्त चमसं देवपानम्।' ऋग्वेद ४।३५।५

२. 'ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः। ऋग्वेद ४।३३।४

३. न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः॥' ऋग्वेद ७।२१।५

(२) वैदिक देवताओं का स्वरूप

पिछले प्रकरण में वैदिक देवताओं का सामान्य परिचय दिया गया है। यह स्पष्ट है, कि वेदों में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि बहुत से देवताओं के नाम आये हैं, और उनकी स्तुति में अनेक सूक्त व मन्त्र वेदों में विद्यमान हैं। वर्तमान समय में विश्व की सर्वोच्च शक्ति एवं सृष्टि के कर्त्ता, पालक तथा संहर्ता के रूप में जिस परमेश्वर व भगवान् की सत्ता में विश्वास किया जाता है, जो अकेला सम्पूर्ण संसार का स्वामी है, और जिसकी उपासना द्वारा मनुष्य स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति की आशा रखता है—उस 'एक' देवाधिदेव ईश्वर की पूजा-उपासना के संकेत भी वेदों में पाये जाते हैं; पर उनमें स्पष्ट रूप से जिन उच्च सत्ताओं की प्रार्थना-स्तुति की गई है, वे इन्द्र, वरुण, अग्नि, सोम आदि देवता ही हैं। प्रश्न यह है कि इन देवताओं का क्या स्वरूप था, या वैदिक युग के आर्य इन्हें किस रूप में मानते थे? इस सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों का यह मत है कि देवता प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक हैं। प्रकृति में हमें जो बड़ी शक्तियां दिखायी देती हैं, जिन रूपों में प्रकृति की शक्तियाँ अपने को अभिव्यक्त करती है, वैदिक ऋषियों ने उन सबको मूर्त मानव रूप में कल्पित कर लिया था। प्रकृति की शक्ति का एक स्थूल व प्रत्यक्ष रूप सूर्य है। मनुष्यों के जीवन तथा सुख समृद्धि के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्य के उदय होने पर सब कोई जाग कर अपने-अपने कार्य में व्यापृत हो जाते हैं। सूर्य से हमें धूप, प्रकाश और गरमी की प्राप्ति होती है। अन्न का उगना और फसल का पकना सूर्य पर निर्भर है। वैदिक ऋषि प्रतिदिन सूर्य को उदय होते हुए और फिर सम्पूर्ण आकाश का चक्कर लगा कर पश्चिम दिशा में अस्त होते हुए देखते थे। उनके काव्यमय मस्तिष्क ने कल्पना की, कि सूर्य एक मानव है, जो अपने रथ पर चढ़कर सम्पूर्ण आकाश की परिक्रमा करता है। इस रथ में सात घोड़े जुते होते हैं। ऋषियों के कल्पनाशील मस्तिष्क ने सूर्य को सुपर्ण (पक्षी) और श्येन के रूप में भी देखा, और एक जीवित जागृत प्राणी के रूप में उनकी कल्पना कर ली। यही बात प्रकृति की अन्य शक्तियों के सम्बन्ध में भी हुई। वेदों में इन्द्र, मित्र, वरुण आदि का मानव रूप में जो वर्णन है, उसका यही कारण है।

पर वैदिक देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में एक अन्य मत भी है, जिसका यहाँ उल्लेख किया जाना चाहिए। यास्काचार्य ने निरुक्त में यह प्रतिपादित किया है कि वैदिक शब्द यौगिक हैं, रूढ़ि नहीं। वेद में 'अग्नि' शब्द भौतिक या पार्थिव अग्नि के लिये ही प्रयुक्त नहीं होता। इसके अन्य भी अर्थ हैं। 'अग्निः कस्मात् अग्रणी भवति,' अग्रणी को ही अग्नि कहा जाता है। अग्नि का अर्थ 'अग्रणी' ही है। इसलिए सेना के सेनापति को भी अग्नि कहा जा सकता है, और देश के राजा या राष्ट्रपति को भी। परमेश्वर के लिए भी अग्नि शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण संसार का अग्रणी है। वेदों में जहां-जहां अग्नि की स्तुति की गई है, वहाँ सर्वत्र ही यह नहीं समझा जा सकता, कि पृथिवी-स्थानीय (भौतिक या पार्थिव) अग्नि को ही देवता रूप से कल्पित कर उसकी स्तुति उन मन्त्रों में अभिप्रेत है। कितने ही ऐसे मन्त्र है, जिनमें

अग्नि का अर्थ स्पष्ट रूप से परमेश्वर है। उदाहरण के लिए इस मन्त्र को लीजिए—

यो मर्त्येषु अमृतं ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै ॥ ऋग्वेद ४।२।१

जो अग्नि मरणधर्मा मर्त्यों में अमर, सत्यस्वरूप (ऋतावा), देवों का भी देव, सर्वत्र व्याप्त, होता, महत्त्वयुक्त तथा अतिशय पूजनीय है, मनुष्यों को चाहिए कि उसे सुख की प्राप्ति के लिए, पवित्रता, ज्ञान के प्रकाश एवं कान्ति को पाने के लिए अपने हृदयों में धारण करें। इस मन्त्र में अग्नि को 'देवेषु देवः' और 'ऋतावा' कहा गया है। देवता रूप में कल्पित पार्थिव अग्नि के लिए ये विशेषण संगत नहीं हैं। ये सर्वशक्तिमान् ईश्वर के लिए ही संगत हो सकते हैं। एक अन्य मन्त्र में अग्नि की प्रशंसा में यह कहा गया है कि दस्युओं को पराभूत कर उसने आर्यों के लिए उरु-ज्योति का प्रसार किया है (ऋग्वेद ७।५।६)। यहाँ स्पष्ट रूप से अग्नि एक ऐसे आर्य नेता या अग्रणी को सूचित करता है, जिसने दस्युओं को परास्त कर आर्यों के मार्ग को प्रशस्त किया था।

आधुनिक समय के विद्वानों में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यास्क के मत का अनुसरण कर वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थ किये हैं। अग्नि, इन्द्र आदि से वे विशिष्ट देवताओं का ग्रहण नहीं करते, अपितु यौगिक अर्थ ले कर इन शब्दों को अग्रणी आदि के लिए ही प्रयुक्त हुआ मानते हैं। उनका यह भी मत है कि वैदिक मन्त्रों की व्याख्या तीन प्रकार से की जा सकती है, आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थों मे। अग्नि का आधिभौतिक अर्थ स्थूल, पार्थिव या भौतिक अग्नि है। पर आधिदैविक अर्थ में अग्नि से सूर्य, विद्युत् आदि का ग्रहण होता है, जो अग्नि के ही रूप हैं। अध्यात्म अर्थ में अग्नि वह देवों का देव है, जो अमर, सत्यस्वरूप तथा सर्वव्यापक है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कितने ही मन्त्रों में इन्द्र का अर्थ राजा किया है, और कितने ही मन्त्रों में परमेश्वर। अग्नि, वरुण आदि के अर्थ भी उन्होंने भिन्न प्रकार से किये हैं। यास्क और दयानन्द के अनुयायी वैदिक विद्वान् वैदिक देवताओं को प्रकृति की शक्तियों का मूर्त मानव रूप नहीं मानते। वे उनका यौगिक अर्थ करते हैं, और प्रसङ्ग के अनुसार इन्द्र आदि का अर्थ परमेश्वर या राजा आदि प्रतिपादित करते हैं। वेद मन्त्रों का यौगिक अर्थ करने पर उनके वास्तविक अभिप्राय को किस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है, इसके लिए एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। ऋग्वेद का एक मन्त्र है—

निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत संवत्सेनासृजता मातरं पुनः ॥१।११०।८

सायण के अनुसार इसका अर्थ यह है कि ऋभुओं ने एक मरी हुई गाय के सदृश दूसरी गाय बनाकर उसपर मृत गौ का चमड़ा चढ़ा दिया, और मृत गाय के बछड़े से उसे युक्त कर दिया। महर्षि दयानन्द सरस्वती की शैली का अनुसरण कर इस मन्त्र के अर्थ अनेक प्रकार से किये जा सकते हैं। गौ शब्द का अर्थ जहाँ दूध देने वाली गाय है, वहाँ पृथिवी भी है। वर्षा के अभाव में पृथिवी का चर्म सूख गया है और वह 'निश्चर्म' हो गई है। ऋभु का अर्थ सूर्य की किरणें हैं, जिन द्वारा बरसायी हुई वर्षा से

सूखी भूमि में जीवन का संचार हो जाता है। वृक्ष, वनस्पति आदि पृथिवी के वत्स हैं, जो अब फिर गौ रूपी पृथिवी का दुग्धपान करने लगते हैं। गाय और पृथिवी के समान 'गौ' का एक अर्थ सरस्वती भी है। सरस्वती रूपी इस गौ का चर्म वाक् और दूध अर्थ है। गुरु के अभाव में सरस्वती का समुचित विकास नहीं हो पाया, और यह गौ चर्मशेष रह गई। गुरु के उपदेशरूपी किरणों से सरस्वती में जीवन का सञ्चार हो जाता है, जिससे शिष्य रूपी वत्स उसका स्तन्य पान करने लगता है। गौ का अर्थ केवल गाय पशु ही नहीं है, अपितु उसके अन्य भी अनेक अर्थ हैं। वैदिक साहित्य की अन्तः साक्षी द्वारा भी इस तथ्य को प्रतिपादित किया जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण में गौ का अर्थ इन्द्रियां किया गया है (समिन्द्रियेणेतीन्द्रियं वै वीर्यं गावः, ५।४।३।१०)। गौ का पर्यायवाची शब्द धेनु है। अथर्ववेद में धेनु का अर्थ पृथिवी किया गया है, और अग्नि को उसका वत्स कहा गया है (पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः ४।३९।२)। इसी प्रकार धेनु के अन्तरिक्ष, दिशा और द्यौः अर्थ भी किये गये हैं (अथर्ववेद ४।३९।४; ४।३९।८; ४।३९।६)।

यदि महर्षि दयानन्द सरस्वती के मत को स्वीकार कर लिया जाए, तो वैदिक देवताओं का वह अभिप्राय हो ही नहीं सकता, जिसे आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने प्रतिपादित किया है, और जिसका उल्लेख इस अध्याय के पहले प्रकरण में किया गया है। वैदिक सूक्तों के साथ जिन देवताओं के नाम दिये गए हैं, वे उस विषय व पदार्थ को ही सूचित करते हैं, जिनका प्रतिपादन सूक्त या मन्त्र में किया गया हो। जिन सूक्तों के देवता इन्द्र हैं, उनमें इन्द्र के कार्यों का वर्णन है या इन्द्र की स्तुति की गई है। देवता का वहां वह अभिप्राय नहीं है, जो अंग्रेजी Gods से सूचित होता है। इन्द्र आदि से वेदमन्त्रों में या तो परमेश्वर अभिप्रेत है, या प्रसङ्ग के अनुसार राजा या नायक आदि। इन्द्र की स्तुति में जो बहुत-से मन्त्र ऋग्वेद में आए हैं, उनमें 'एक एव देव' परमेश्वर की ही स्तुति की गई है, किसी देवता विशेष की नहीं। एक मन्त्र में यह कहा गया है कि जो एक ही इन्द्र पृथिवी पर रहने वाले पांच प्रकार के मनुष्यों तथा सब धनों का स्वामी है, वही उपास्य है।[1] इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में यह कहा गया है, कि जो अकेले ही दानशील मनुष्य के लिए धन प्रदान करता है, वह अद्वितीय शक्तिशाली सबका ईशान (स्वामी) इन्द्र ही है।[2] इन मन्त्रों का इन्द्र किसी ऐसे देवता का सूचक नहीं है जिसका क्षेत्र केवल अन्तरिक्ष तक सीमित हो। वस्तुतः, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि एक ईश्वर या एक सत्ता के ही विविध नाम हैं, और ये उसी सर्वोच्च सत्ता की विविध शक्तियों व स्वरूपों को अभिव्यक्त करते हैं। वैदिक देवता कोई विभिन्न व पृथक् सत्ताएं नहीं हैं, वे एक ही सत्ता के विभिन्न रूप मात्र हैं। वैदिक ऋषियों को इस विषय में कोई भी विचिकित्सा नहीं थी। इसीलिए ऋषि वसुश्रुत आत्रेय ने अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा है—हे अग्नि! जन्म के समय तू वरुण है, समिद्ध होने

---

१. 'य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति। इन्द्रः पञ्चक्षितीनाम् ॥ ऋग्वेद १।७।९
२. ऋग्वेद १।८४।७

पर तू मित्र है, तू शक्ति का पुञ्ज है, सब देव तुझमें केन्द्रित हैं, तू ही उपासक मनुष्य के लिए इन्द्र है।[1] यही भाव कितने ही अन्य मन्त्रों में भी प्रगट किया गया है। ऋषि भार्गव गृत्समद ने अग्नि की स्तुति करते हुए कहा है—हे अग्नि! तू ही इन्द्र है, तू ही वृषभ है, तू ही उरुगाय विष्णु है, तू ही ब्रह्मा और बृहस्पति है।[2] इसी सूक्त में आगे चल कर अग्नि को राजा वरुण, मित्र, अर्यमा, पूषन्, रुद्र, मरुत् और सविता कहा गया है।[3] जब अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, रुद्र आदि एक ही सत्ता के विविध नाम हैं, तो उन्हें पृथक् देवता मानने का कोई कारण नहीं रहता। इसी तथ्य को ऋग्वेद में और भी स्पष्ट रूप से इस प्रकार प्रकट कर दिया गया है, कि इन्द्र, मित्र, वरुण अग्नि सुपर्ण, गरुत्मान्, मातरिश्वा आदि सब एक ही सर्वोच्च सत्ता के विविध नाम हैं।[4] यही बात अन्यत्र इस ढंग से कही गई है—उसके एक होते हुए भी विद्वान् लोग बहु प्रकार से उसकी कल्पना करते हैं।[5] अथर्ववेद में तो विश्व की एक सर्वोच्च सत्ता को और भी अधिक सबल रूप से प्रतिपादित किया गया है। उसके तेरहवें अध्याय में "स एष एक एकवृदेक एव,' (वह एक ही है, अकेला वर्तमान वह एक ही है) और "य एतं देवमेक-वृतं वेद' (जो इस एक देव को एकाकी रूप से सर्वत्र व्यापक जानता है) कह कर स्पष्ट रूप से यह घोषित कर दिया गया है कि 'सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति" (सब देव इसमें एक रूप हो जाते हैं)। यह सर्वथा स्पष्ट है, कि वैदिक ऋषियों की दृष्टि में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि विविध देवता एक ही सत्ता के विभिन्न नाम थे, और इनकी स्तुति में इनके जो गुण कहे गये हैं, वे उस एक सर्वोच्च सत्ता के ही विभिन्न गुण हैं। इन्द्र आदि की देवताओं के रूप में कोई पृथक् सत्ता नहीं है।

यदि देवताओं की कोई पृथक् सत्ता न मानी जाए, तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि वेदों में जो इन्द्र आदि देवताओं के हाथों, पैरों, मुख, जिह्वा आदि का उल्लेख है, उनके जो विविध प्रकार के वस्त्र वर्णित हैं, उनके जो विभिन्न अस्त्र-शस्त्र बताए गये हैं, और उन्हें जो अनेकविध रथों पर सवारी करते हुए प्रदर्शित किया गया है, उसका क्या अभिप्राय है। वस्तुतः, ये सब वर्णन आलङ्कारिक रूप से हैं। जैसा कि इसी प्रकरण में ऊपर लिखा जा चुका है, सूर्य ऐसे रथ पर आरूढ़ होकर अन्तरिक्ष का भ्रमण करते हैं जिसमें सात अश्व जुते रहते हैं। यह वर्णन स्पष्ट रूप से आलंकारिक है। सूर्य के सात अश्व उसकी रश्मियों के सूचक हैं। इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं को जो मानव रूप से चित्रित किया गया है, उसका प्रयोजन यही है कि विश्व की सर्वोच्च सत्ता के विशिष्ट गुणों एवं रूपों को आलंकारिक ढंग से प्रकट किया जाए।

वैदिक देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में जो दो मत हमने प्रस्तुत किए हैं,

---

१. ऋग्वेद ५।३।१
२. ऋग्वेद २।१।३
३. ऋग्वेद २।१।४
४. ऋग्वेद १।१६४।४६
५. 'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।' ऋग्वेद १०।११४।५

उनमें से कौन युक्तिसंगत व मान्य है, इसका विवेचन विशेष लाभदायक नहीं होगा। यहाँ इतना लिख देना ही पर्याप्त है कि वैदिक ऋषि जब इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवताओं की स्तुति करते हैं, वे यह दृष्टि में रखते हैं कि ये सब देवता एक ही सर्वोच्च सत्ता या देवों के भी देव के अंगभूत या विशिष्ट रूप ही हैं।

(३) याज्ञिक विधि विधान

वैदिक युग के देवता विविध प्राकृतिक शक्तियों के मूर्तरूप थे, और आर्य लोग इन देवताओं के रूप में विश्व की मूलभूत अधिष्ठातृ शक्तियों की ही उपासना किया करते थे, यह मत पहले प्रतिपादित किया जा चुका है। देवताओं की पूजा और तृप्ति के लिए आर्य लोग यज्ञों का अनुष्ठान करते थे, जिनका स्वरूप प्रारम्भ में बहुत सरल था। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर उसमें घृत, अन्न, सोमरस आदि की आहुतियाँ दी जाती थीं, जिनके सम्बन्ध में यह समझा जाता था कि अग्नि द्वारा वे देवताओं के पास पहुँच जाती हैं। यज्ञ उस भावना के भी प्रतीक थे, जिसके कारण मनुष्य केवल अपने ही सुख साधन के लिए प्रयत्न नहीं करता, अपितु अपने धन तथा अपने को दूसरों के लिए अर्पित करता है। घृत अन्न आदि की आहुति देते हुए जो मन्त्र बोले जाते हैं, उनके साथ 'इदं न मम' (यह मेरा नहीं है) इसी कारण कहा जाता है, ताकि यज्ञ करने वाले व्यक्ति के मन में इस यज्ञीय भावना का विकास हो कि उसका द्रव्य केवल उसके अपने लिए ही नहीं है, अपितु उसका उपयोग सबके हित के लिए किया जाना है।

पर धीरे-धीरे यज्ञों का रूप बहुत जटिल होता गया। ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल में यज्ञों की जटिलता चरम सीमा तक पहुँच गई थी। यज्ञवेदी की रचना किस प्रकार की जाए, यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कैसे किया जाए, किस ढंग से आहुतियां दी जाएं, यज्ञ करते हुए यजमान, अध्वर्यु, ऋत्विक् आदि कहां और किस प्रकार बैठें, वे कैसे मन्त्रोच्चारण करें, कैसे ज्ञात हो कि अब देवता यज्ञ की आहुति को ग्रहण करने के लिए पधार गए हैं, किन पदार्थों की आहुति दी जाए, इस प्रकार के विषयों का ब्राह्मणग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है। किस याज्ञिक विधि का क्या प्रयोजन है, यह भी उनमें विशद रूप से वर्णित है। अब आर्य जनता के एक भाग का यही कार्य हो गया था, कि वह इन याज्ञिक विधिविधानों में प्रवीणता प्राप्त करे और उनकी प्रत्येक विधि का सही ढंग से अनुष्ठान करे। इसी वर्ग के लोगों को अब ब्राह्मण कहा जाने लगा था। ये ब्राह्मण याज्ञिक कर्मकाण्ड में पुरोहित का कार्य करते थे। जन्म से मृत्यु पर्यन्त तक प्रत्येक गृहस्थ को अनेक प्रकार के संस्कार भी करने होते थे, और इन संस्कारों का स्वरूप भी यज्ञों का ही था।

विविध प्रकार के यज्ञ—आर्य गृहस्थों के लिए पाँच महायज्ञों का अनुष्ठान आवश्यक समझा जाता था। ये यज्ञ निम्नलिखित थे—(१) देवयज्ञ—प्रातः और सायं दोनों कालों में विधिपूर्वक अग्न्याधान कर जो हवन किया जाए, उसे देवयज्ञ कहते थे। (२) पितृयज्ञ—पितरों और पूजनीय व्यक्तियों के तर्पण व सम्मान का नाम पितृयज्ञ था। (३) नृयज्ञ—अतिथियों की सेवा व सत्कार को नृयज्ञ या अतिथियज्ञ कहा जाता

था। (४) ऋषियज्ञ या ब्रह्मयज्ञ—प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रतिपादित तथ्यों व ज्ञान का नियमपूर्वक अध्ययन, मनन, स्वाध्याय एवं ज्ञान में वृद्धि के प्रयत्न को ब्रह्मयज्ञ नाम दिया गया था। (५) भूतयज्ञ—विविध जीव-जन्तुओं को बलि प्रदान कर सन्तुष्ट रखने से भूतयज्ञ सम्पन्न होता था। गृहस्थ का यह भी कर्तव्य माना जाता था कि वह कुत्ते, कौवे और चींटी सदृश जीव-जन्तुओं का भी पालन-पोषण करे। इस प्रयोजन से घर में बने भोजन का एक अंश विविध जीव-जन्तुओं के लिए भी पृथक् कर दिया जाता था। इसी को बलिवैश्वदेव यज्ञ भी कहते थे। पाँच महायज्ञों में जिसे देवयज्ञ कहा गया है वही अग्निहोत्र भी कहाता था, जिसका अनुष्ठान प्रत्येक आर्य गृहस्थ प्रातः-सायं दोनों समय करता था।

इन दैनिक यज्ञों के अतिरिक्त विशेष अवसरों पर विशेष यज्ञ भी किये जाते थे। अमावस्या के दिन दर्श-यज्ञ किया जाता था और पूर्णमासी के दिन पौर्णमास-यज्ञ। कार्तिक, मार्गशीर्ष और माघ मासों में कृष्ण पक्ष की अष्टमी के दिन अष्टका-यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता था। श्रावण मास की पूर्णिमा को श्रावणी-यज्ञ और अग्रहायण (मार्गशीर्ष) मास की पूर्णिमा को अग्रहायणी-यज्ञ किए जाते थे। इसी प्रकार चैत्र मास की पूर्णिमा के लिए चैत्री-यज्ञ का और आश्विन मास की पूर्णिमा के लिए आश्वयुजी यज्ञ का विधान था। कतिपय यज्ञ ऐसे भी थे, जिनके लिए प्रचुर द्रव्य की आवश्यकता होती थी, और जिन्हें सम्पन्न व्यक्ति ही सम्पादित कर सकते थे। ऐसा एक यज्ञ सोमयज्ञ था, जिसके लिए तीन वेदियाँ बनायी जाती थीं, और उन तीनों के यज्ञकुण्डों में अग्न्याधान कर सोमरस की आहुतियाँ दी जाती थीं। सोमयज्ञ एक दिन में भी पूरा किया जा सकता था, दो दिन से लेकर बारह दिन तक भी और इससे भी अधिक समय तक। एक अन्य यज्ञ अग्निष्टोम था, जो पाँच दिनों में पूर्ण होता था। चातुर्मास्य यज्ञ को चार-चार महीनों में सम्पन्न किया जाता था। जब किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अभिषिक्त करना होता था, तो राजसूय यज्ञ करना आवश्यक था। राजसूय किये बिना कोई व्यक्ति राजा के पद को नहीं प्राप्त कर सकता था। सार्वभौम व चक्रवर्ती पद प्राप्त करने की आकांक्षा रखने वाले राजा अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया करते थे। इस यज्ञ में एक सुसज्जित अश्व को अन्य अनेक अश्वों तथा बहुत-से रक्षकों के साथ स्वच्छन्द विचरण के लिए छोड़ दिया जाता था और जब वह विविध दिशाओं के प्रदेशों में विचरण कर निर्विघ्न वापस लौट आता था, तब अश्वमेध यज्ञ की विधि सम्पन्न की जाती थी। अन्य सब प्रदेशों के राजाओं ने अश्वमेधयाजी राजा की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार कर लिया है, यही प्रमाणित करना इस यज्ञ का प्रयोजन था। एक अन्य यज्ञ सौत्रामणी था, जिसमें सुरापान की प्रथा भी चल पड़ी थी। पर आपस्तम्ब श्रौत सूत्र के अनुसार सौत्रामणी यज्ञ में पयः का पान ही पर्याप्त था, सुरापान की अनिवार्यता नहीं थी। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक यज्ञों का विधान ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों में किया गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में अजामेध, गोमेध और पुरुषमेध सदृश ऐसे यज्ञों का भी विधान है, जिनसे बकरी व गाय जैसे पशुओं तथा मनुष्यों की यज्ञ में बलि दिए जाने की बात

सूचित होती है। इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारत में एक ऐसा समय आ गया था, जबकि यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाने लगी थी, और यज्ञकुण्डों के समीप ऐसे यूपों का निर्माण किया जाने लगा था जिनसे वध्य पशुओं को बाँधा जाता था। महात्मा बुद्ध के समय (छठी सदी ईस्वी पूर्व) में इस प्रकार पशुबलि दिए जाने के प्रमाण विद्यमान हैं। पर यह भी निश्चय के साथ कहा जा सकता है, कि प्रारम्भ में यज्ञों में केवल दुग्ध, घृत, सोमरस और अन्न आदि की ही आहुतियाँ दी जाती थीं। तब पशुबलि का विधान नहीं था। शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ में पशुओं के आलभन का विधान अवश्य आता है, पर कतिपय विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है, कि 'आलभन' का अर्थ केवल वध ही नहीं होता, अपितु स्पर्श भी होता है। इन विद्वानों के मत में ब्राह्मण-ग्रन्थों में अजामेध और गोमेध सदृश यज्ञों में जहाँ अजा और गौ के 'आलभन' का विधान है, वहाँ इन पशुओं का स्पर्श ही अभिप्रेत है, वध नहीं।

ऐतरेय ब्राह्मण (८।१२-१८), आश्वलायन श्रौतसूत्र (९।३) आदि प्राचीन ग्रन्थों में शुनःशेप का आख्यान दिया गया है, जिससे कतिपय विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है कि वैदिक एवं उत्तर-वैदिक युगों में यज्ञों में मनुष्य की बलि देने की प्रथा भी विद्यमान थी, और ऐसे यज्ञ को ही पुरुषमेध या नरमेध यज्ञ कहा जाता था। इस आख्यान के अनुसार राजा हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्र रोहित के स्थान पर यज्ञ में बलि देने के लिए अजीगर्त नामक निर्धन ब्राह्मण से उसके पुत्र शुनःशेप को खरीद लिया था। पर विश्वामित्र ने शुनःशेप की प्राणरक्षा की, और उसे अपने दत्तक पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया। आख्यान के अनुसार यद्यपि शुनःशेप की यज्ञ में बलि नहीं दी गई, पर अजीगर्त से बलि के लिए उसका क्रय किया जाना नरबलि की प्रथा की सत्ता को सूचित करता है। अजीगर्त का पुत्र यह शुनःशेप ऋग्वेद के अनेक सूक्तों (प्रथम मण्डल, २४ से ३० सूक्त तक) का ऋषि है, और चौबीसवें सूक्त के दो मन्त्रों (मन्त्र १२ और १३) में शुनःशेप के पाशबद्ध होने तथा उसकी विमुक्ति के लिए वरुण से प्रार्थना किए जाने का भी उल्लेख है।[1] पर अजीगर्त शुनःशेप के इन सूक्तों में प्रधानतया वरुण की स्तुति की गई है, और उनमें इस देवता को मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाला, पापों का विनाश करने वाला, जीवन प्रदान करने वाला और आयु को बढ़ाने वाला कहा गया है। ऋग्वेद के २४वें सूक्त के ९, १० और ११ मन्त्रों में वरुण की स्तुति इसी रूप में की गई है। अतः उनके बाद के मन्त्रों में पाशबद्ध शुनःशेप की विमुक्ति की जो प्रार्थना है, उसका अभिप्राय यही हो सकता है कि विविध प्रकार के पापों, प्रलोभनों व कामनाओं में बद्ध मनुष्य को पापमुक्त करने के लिए प्रार्थना की जाए। वेद के इसी मूल कथन को लेकर बाद के समय में उन आख्यानों का विकास हुआ, जिनमें शुनःशेप को यज्ञ में बलि देने के प्रयोजन से क्रय किए जाने की बात कही

१. तदिन्नक्तं तद् दिवा मह्यमाहुस् तदयं केतो हृद आ वि चष्टे। शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु। शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस् त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः। अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद् विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान्॥
ऋग्वेद १।२४।१२-१३

गई है। याज्ञिक कर्मकाण्ड के अत्यधिक जटिल एवं विशद हो जाने का एक परिणाम यह हुआ कि इस कर्मकाण्ड का अनुष्ठान कराने वाले पुरोहित अनेक वर्गों में विभक्त हो गए। किसी एक व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं रह गया कि वह यज्ञों की सम्पूर्ण विधियों का अकेले अनुष्ठान करा सके। यज्ञ कराने वाले पुरोहितों के चार मुख्य वर्ग थे—(१) होता—होतृ वर्ग के पुरोहित यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर वेदमन्त्रों द्वारा देवताओं का आवाहन करते थे। (२) उद्गाता—उद्गातृ वर्ग के पुरोहित यज्ञ में साम का गायन करते थे। गेय साममन्त्रों का संकलन सामवेद से किया गया था। (३) अध्वर्यु—याज्ञिक कर्मकाण्ड की विधियों का समुचित रूप से अनुष्ठान करना अध्वर्यु वर्ग के पुरोहितों का कार्य था। (४) ब्रह्मा—यज्ञ की सब विधियाँ सही रूप से की जा रही हैं और मन्त्रों का उच्चारण शुद्ध रूप से किया जा रहा है, यह देखना ब्रह्मा का कार्य था।

संस्कार—वैदिक युग के धार्मिक जीवन में संस्कारों का स्थान भी बड़े महत्त्व का था। इनकी कुल संख्या सोलह थी, पर उनमें निम्नलिखित संस्कार विशेष महत्त्व के थे—(१) गर्भाधान संस्कार, इसे सन्तान की प्राप्ति के लिए किया जाता था। (२) पुंसवन संस्कार—इस संस्कार द्वारा यह आशा की जाती थी, कि बलवान्, स्वस्थ और सुयोग्य पुरुष सन्तान उत्पन्न होगी। (३) सीमन्तोन्नयन—इस संस्कार द्वारा पति पत्नी के गर्भ की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के विधि-विधानों का अनुष्ठान करता था। (४) जातकर्म—बच्चे के उत्पन्न होने पर किया जाने वाला संस्कार। (५) नामकरण संस्कार। (६) अन्नप्राशन—यह संस्कार बच्चे को अन्न देना प्रारम्भ करने के समय किया जाता था। (७) चूड़ाकर्म या मुण्डन संस्कार। (८) उपनयन—यह संस्कार शिक्षा प्रारम्भ करने के समय यज्ञोपवीत धारण कराने के लिए किया जाता था। (९) समावर्तन—शिक्षा की समाप्ति पर जब ब्रह्मचारी गुरुदक्षिणा देकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के लिए घर लौटता था, तो यह संस्कार किया जाता था। (१०) विवाह संस्कार। (११) अन्त्येष्टि संस्कार—यह संस्कार शव का दाह करने के लिए किया जाता था।

(४) धार्मिक मन्तव्य और आदर्श

वैदिक युग में आर्यों के कतिपय ऐसे मन्तव्य एवं आदर्श थे, जिन्होंने कि उनके धार्मिक जीवन को अनुप्राणित किया हुआ था। इनमें एक प्रमुख मन्तव्य ऋत या सत्य का था। वैदिक साहित्य में यह विचार अनेक स्थानों पर विद्यमान है कि इस संसार में सर्वत्र कुछ निश्चित नियम कार्य कर रहे हैं। सृष्टि की इस नियमबद्धता के लिए ही 'ऋत' शब्द का प्रयोग वेदों में किया गया है। 'ऋत' वे नियम हैं जो नित्य तथा अनादि हैं, जिनका किसी भी दशा में उल्लंघन नहीं किया जा सकता। सूर्य जो नियम से उदित होता है, तारा-नक्षत्र जो अपने-अपने स्थान पर रहते हुए संचारी दशा में रहते हैं, समय पर जो फलफूल परिपक्व होते हैं, वह सब ऋत के कारण ही है। केवल प्रकृति का ही नहीं, अपितु प्राणियों तथा मनुष्यों के जीवन-आधार भी ऋत ही है।

मनुष्य का हित और कल्याण इसी में है कि वह ऋत के नियमों का परिज्ञान प्राप्त कर अपने जीवन की उनके साथ अनुकूलता स्थापित कर ले। जिस तत्त्व ने सम्पूर्ण सृष्टि और उसके विविध रूपों का धारण किया हुआ है, वह ऋत ही है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के अनुसार जो विविध तत्त्व पृथिवी का धारण करते हैं, उनमें 'उग्र ऋत' और 'बृहत् सत्य' का प्रमुख स्थान है।[1] मानव-जीवन और मनुष्य-समाज के लिए सत्य का जो महत्त्व है, उसका विचार ऋत से ही प्रादुर्भूत हुआ। प्रकृति के ऋतरूपी शाश्वत-नियमों को दृष्टि में रख कर ही भारत के प्राचीन विचारकों ने यह प्रतिपादित किया, कि सत्य ही धर्म का मूल है। धर्म वह है, जिसका पालन कर मनुष्य इस लोक में अपना अभ्युदय कर सकता है, और जिस द्वारा परलोक में मोक्ष या निःश्रेयस की प्राप्ति सम्भव होती है। पर यह धर्म मनुष्यकृत नहीं होता, इसके नियमों व मन्तव्यों का निर्धारण मनुष्यों द्वारा नहीं किया जाता, क्योंकि धर्म सत्य पर आश्रित होता है, और सत्य उस 'ऋत' या शाश्वत नियमबद्धता पर, जो अनादि है, जो मनुष्य-कृत नहीं है। वेदों के अनुसार पृथिवीलोक, द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक सब सत्य और ऋत पर ही आधारित हैं।[2] ऋत और सत्य के ये विचार भारत के धार्मिक जीवन को सदा प्रभावित करते रहे हैं।

वैदिक युग के धर्म की एक विशेषता उसकी अध्यात्म-भावना है। यह जो आँखों से दिखायी देने वाला इन्द्रियगोचर संसार है, इस भौतिक जगत् से परे भी कोई सत्ता है, वेदों में यह विचार भलीभाँति प्रतिपादित है। इस शरीर की अधिष्ठाता जीवात्मा है, जो शरीर के नष्ट हो जाने के साथ नष्ट नहीं हो जाती। जिस प्रकार शरीर का स्वामी जीवात्मा है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व का स्वामी परमात्मा है, जो सर्वव्यापक, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। प्रकृति और सृष्टि की सब शक्तियाँ इस परमात्मा से ही जीवन और बल प्राप्त करती हैं। शरीर और संसार नश्वर हैं, पर आत्मा और परमात्मा नित्य, अनादि, अनन्त और अनश्वर हैं। शरीर और संसार सान्त हैं, अतः वे परम सत्य नहीं हैं। भौतिक सुख और संसार के भोग क्षणिक हैं, सान्त हैं। वास्तविक सुख आध्यात्मिक है, जिसे आत्मा और परमात्मा के ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य का अन्तिम व चरम ध्येय सांसारिक सुखों से ऊपर उठकर मोक्ष व निःश्रेयस को प्राप्त करना है। यह अध्यात्मभावना वैदिक युग के आर्यों के जीवन-लक्ष्य को ऊँचा उठाने में बहुत सहायक हुई। पर इसने उन्हें संसार के प्रति विमुख नहीं किया। वे धर्म का यह लक्षण करते थे—"जिससे इस लोक में अभ्युदय (समृद्धि व उन्नति) हो, और जो निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति में सहायक हो, वह धर्म है।"[3] वह धर्म अपूर्ण है जो केवल निःश्रेयस

---

१. सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

२. सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः॥ ऋग्वेद १०।८५।१

३. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

की प्राप्ति में सहायक होता है। साथ ही, वह धर्म भी अपूर्ण है जिससे मनुष्य केवल सांसारिक समृद्धि प्राप्त करता है। इहलोक में सुख और परलोक का साधन—दोनों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। इसीलिए वैदिक युग में भौतिक उन्नति तथा सांसारिक सुख की उपेक्षा नहीं की गई थी। वैदिक ऋषियों का कथन था—देखो, यह सूर्य निरन्तर गतिशील रहता है, तुम भी निरन्तर गतिशील रहो। निरन्तर गतिशील रहने से ही मधु और स्वादु उदुम्बुर को प्राप्त किया जाता है।[1] गतिशील रहकर सांसारिक उन्नति और भौतिक अभ्युदय के लिए प्रयत्न करते रहो, पर साथ ही यह भी सदा स्मरण रखो कि जीवन का परम लक्ष्य इससे भिन्न है। "इस जगत् में जो कुछ भी है, उस सब में ईश्वर व्याप्त है, अतः संसार में लिप्त न होकर त्याग की भावना के साथ इसका उपभोग करो।"[2] वेद का यही उपदेश है। वैदिक युग में भारतीयों का धार्मिक जीवन इस विचार से सदा प्रभावित रहता था।

वैदिक युग के आर्यों का विश्वास था कि मनुष्य का पुनर्जन्म होता है। जिसे मृत्यु कहा जाता है, वह वस्तुतः चोला बदल लेने के समान है। जैसे मैले कपड़े उतारकर मनुष्य नये कपड़े पहनता है, वैसे ही वृद्ध व रोगग्रस्त शरीर को त्याग कर जीवात्मा नया शरीर धारण कर लेती है। मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा किस कुल में जन्म ले, किस योनि में प्रवेश करे, यह बात उसके कर्मों पर निर्भर करती है। अच्छे कर्म करने वाला मनुष्य यदि इस जन्म में अपने सुकृत्यों का फल प्राप्त नहीं करता, तो अगले जन्म में उनका फल वह अवश्य प्राप्त कर लेता है। पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्तों का वैदिक युग के धार्मिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

(५) शिक्षा और धर्म

वैदिक युग में शिक्षा का बहुत महत्त्व था। यह माना जाता था, कि सब बालकों और बालिकाओं को शिक्षा के लिए आचार्य कुलों में भेज देना चाहिए, और उन्हें माता-पिता से पृथक् होकर आचार्यों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार बच्चे एक आयु तक माता के प्रभाव में रहते हैं, फिर पिता के और बाद में आचार्य के।[3] उनकी अन्तर्हित शक्तियों व गुणों का विकास पहले माता करती है, फिर पिता, और अन्त में आचार्य के पास रहकर शिक्षा प्राप्त करके ही वे अपना विकास करने में समर्थ होते हैं। जिस प्रकार माता बच्चे को गर्भ में धारण करती है, वैसे ही आचार्य शिष्यों को अपने गर्भ में धारण कर उन्हें बाह्य प्रभावों से मुक्त रखता है, और वे उसी के प्रभाव में रहकर बड़े होते हैं, यह भाव एक वेदमन्त्र में प्रगट किया

---

१. चरन्वै मधु विन्दते चरन्स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥
२. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ यजुर्वेद ३१।१
३. 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद ।' शतपथ १४।६।१०।५

गया है। बालकों और बालिकाओं को उपनयन संस्कार के पश्चात् आचार्य कुल में निवास करना होता था, और वहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुए शिक्षा ग्रहण करनी होती थी। 'उपनीत' (जिसका उपनयन संस्कार हो चुका हो) ब्रह्मचारी का उल्लेख ऋग्वेद में आया है, और उसे 'देवों का एक अंग' कहा गया है।[1] अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य की महिमा का सुन्दर रीति से वर्णन विद्यमान है, जिससे यह भी सूचित होता है कि बालकों के समान बालिकाएँ भी आचार्य कुलों में रहकर ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या का अध्ययन किया करती थीं।[2] अथर्ववेद के अनुसार ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता है, और ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य वह योग्यता प्राप्त करता है जिससे कि वह ब्रह्मचारियों को विद्या दान कर सकता है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके ही मनुष्य तेजोमय ब्रह्म (ज्ञान) को धारण करता है, और वह सब देवताओं का अधिवास बन जाता है अर्थात् सब दैवी गुणों को प्राप्त कर लेता है। एक अन्य वेदमन्त्र में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य के तप से ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी, और ब्रह्मचर्य द्वारा ही इन्द्र ने देवों को 'स्वः' (सुखसमृद्धि) से परिपूर्ण कर दिया था।

शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन संस्कार द्वारा होता था। इस अवसर पर बालकों और बालिकाओं को यज्ञोपवीत धारण कराया जाता था। तीन धागों से बना हुआ यज्ञोपवीत उन तीन व्रतों का प्रतीक था, जिन्हें ब्रह्मचारी ग्रहण करते थे। वैदिक साहित्य में यज्ञोपवीत को 'परम पवित्र' 'आयुष्य' (दीर्घायु प्रदान करने वाला) और 'शुद्ध' कहा गया है। इसे धारण करने के अनन्तर ही बालक आचार्य कुल में निवास करने का अधिकारी हो सकता था। जब कोई विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आचार्य कुल में जाता था, तो आचार्य उससे प्रश्न करता था—'तुम किसके ब्रह्मचारी हो?' विद्यार्थी के यह कहने पर कि 'मैं आपका ब्रह्मचारी हूँ', आचार्य उससे कहता था—'नहीं, तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, तुम अग्नि के ब्रह्मचारी हो और मैं तुम्हारा आचार्य हूँ।' इन्द्र को देवताओं का राजा माना गया है, और अग्नि द्वारा याज्ञिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान होता है। देवों और पितरों द्वारा जिन विद्याओं व ज्ञान का विकास पहले किया जा चुका था, उन्हीं की शिक्षा ग्रहण करने के लिए ब्रह्मचारी आचार्य कुल में प्रवेश किया करते थे। अतः वे स्वाभाविक रूप से देवों के राजा इन्द्र के ब्रह्मचारी हुआ करते थे। सब धार्मिक कृत्य तथा याज्ञिक अनुष्ठान अग्नि द्वारा ही सम्पादित होते हैं, और अचार्यकुल में निवास करते हुए ब्रह्मचारियों को प्रातः-सायं अग्निहोत्र करना होता था, इस कारण उन्हें 'अग्नि का ब्रह्मचारी' भी कहा जाता था। आचार्यकुल में शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। वे 'भैक्षचर्या (भिक्षा) द्वारा भोजन, वस्त्र आदि प्राप्त किया करते थे, और भिक्षा में उन्हें जो कुछ मिलता था उसे वे आचार्य की सेवा में प्रस्तुत कर देते थे। आचार्यों, उपाध्यायों, अध्यापकों

---

१. "भीमाजाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्,
ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।" ऋग्वेद १०।१०९।४।५

२. अथर्ववेद ११।५

और उनके शिष्यवर्ग का निर्वाह इस भिक्षा द्वारा ही होता था। उस युग में जीवन की आवश्यकताएँ बहुत कम होती थीं। आचार्यकुल नगरों और ग्रामों से दूर आरण्यक आश्रमों में स्थित होते थे। समीप के अरण्यों (जंगलों) में ईंधन, कन्द, मूल, फल, वल्कल आदि की सुविधा रहती थी। ब्रह्मचारी इनका भी चयन कर लिया करते थे। साथ ही, आचार्यकुलों में गौ आदि पशु भी अच्छी बड़ी संख्या में होते थे, और उनका पालन-पोषण ब्रह्मचारियों द्वारा किया जाता था। आचार्यकुल की दूध, घी आदि की आवश्यकता इन पशुओं द्वारा ही पूरी हो जाया करती थी। आचार्यकुलों के साथ गौशालाओं की सत्ता प्रायः अनिवार्य मानी जाती थी।

शिक्षकों में सर्वोच्च स्थिति आचार्य की होती थी। यास्क के निरुक्त के अनुसार आचार्य उसे कहते थे, जो आचार (सदाचार) का ग्रहण कराए। इसमें सन्देह नहीं कि बालक और बालिकाओं को सदाचारी एवं धार्मिक बनाना आचार्यकुलों का प्रधान कर्त्तव्य था, और यह कार्य आचार्य द्वारा सम्पन्न कराया जाता था। मनुस्मृति में आचार्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"जो द्विज शिष्य का उपनयन संस्कार कराके उसे वेद पढ़ाए और साथ ही कल्प वेदाङ्ग की उसके रहस्यों के साथ शिक्षा दे, उसे आचार्य कहते हैं।' आचार्यकुल में आचार्य का प्रधान स्थान होता था, और ब्रह्मचारियों को सदाचारी बनाने के अतिरिक्त वेद तथा वेदाङ्ग की शिक्षा देने का कार्य भी वही करता था। आचार्य के अधीन जो अन्य शिक्षक आचार्यकुलों में अध्यापन का कार्य करते थे, वे 'उपाध्याय' कहाते थे। मनु के अनुसार जो द्विज वेद के एक भाग तथा वेदाङ्गों का अध्यापन करे, और उसके लिए वृत्ति (वेतन या पारिश्रमिक) भी ग्रहण करे, वह उपाध्याय कहाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में उन नियमों व आदर्शों का बड़े विशद रूप से निरूपण किया गया है, जिन्हें आचार्यकुल में रहते हुए गुरुओं तथा शिष्यों को सदा अपने सम्मुख रखना होता था—"उन्हें (शिष्यों को) अध्ययन करते हुए और गुरुओं को अध्यापन करते हुए ऋत, सत्य, तप, दम, शम, अग्निहोत्र का अनुष्ठान, अतिथिसेवा, सब मनुष्यों के प्रति समुचित व्यवहार और अपने साथियों के प्रति कर्त्तव्यपालन का सदा ध्यान रखना चाहिये।"

ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्यकुल में निवास कर जब विद्यार्थी शिक्षा पूर्ण कर लेते थे, तो उनका समावर्तन (दीक्षान्त) संस्कार होता था। इस अवसर पर जो उपदेश आचार्य द्वारा शिष्यों को दिया जाता था, तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार वह इस प्रकार था—सदा सत्य भाषण करना। सदा धर्माचरण करना। स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करना। आचार्य को जो धन प्रिय हो, वह दक्षिणा रूप में प्रदान कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना, ताकि सन्तान उत्पन्न कर वंश की परम्परा को उच्छिन्न होने से बचाया जा सके। सत्य आचरण में कभी प्रमाद न करना। धर्म के आचरण में कभी प्रमाद न करना। कुशल जीवन बिताने में कभी प्रमाद न करना। देवकार्यों (देवपूजा व देवयज्ञ) और पितृकार्यों (माता-पिता एवं गुरुजनों की सेवा व पितृयज्ञ) में कभी प्रमाद न करना। सदा माता की सेवा में तत्पर रहना। सदा पिता की सेवा में तत्पर रहना। सदा अतिथियों की सेवा में तत्पर रहना। जो कार्य दोषरहित हों, केवल उन्हीं को

सम्पन्न करना। हमारे केवल ऐसे कार्यों का ही अनुसरण करना, जो समुचित हों और सदाचरण के अनुरूप हों। हमारे अनुचित कार्यों का कदापि अनुसरण न करना। सदा दान में तत्पर रहना, श्रद्धापूर्वक दान दिया करना, यदि श्रद्धा न हो तो भी दान देना, लज्जावश भी दान देना, भीतिवश भी दान देना, प्रतिज्ञात धन को प्रदान करने में सदा तत्पर रहना। यदि तुम्हें कभी इस बात में सन्देह हो कि क्या कर्तव्य या अकर्तव्य है, कौन-सा आचरण समुचित या अनुचित है, और क्या ज्ञातव्य या अज्ञातव्य है, तो यह देखना कि धर्मयुक्त, परम विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मणों का संदिग्ध विषय के प्रति क्या रुख है। वे जैसा करते हों, वैसा ही तुमने करना है। यही मेरा आदेश है, यही मेरा उपदेश है और यही वेदों तथा उपनिषदों का विधान है।"

शिक्षाविषयक ये कतिपय तथ्य वैदिक युग के धार्मिक जीवन के सम्बन्ध में भी समुचित प्रकाश डालते हैं।

चौदहवाँ अध्याय

तत्त्वचिन्तन और दर्शनशास्त्र

(१) वैदिक युग का तत्त्व-चिन्तन

वैदिक युग के आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठानों में ही व्यापृत नहीं रहते थे, उनका ध्यान तत्त्व-चिन्तन तथा ब्रह्मविद्या की ओर भी गया था। यज्ञों से इहलोक तथा परलोक दोनों में सुख प्राप्त होता है, यह मानते हुए भी वे इस प्रकार के विषयों के चिन्तन में तत्पर थे, कि मनुष्य क्या है? जिसे आत्मा कहा जाता है, उसका क्या स्वरूप है? शरीर और आत्मा एक ही हैं या भिन्न हैं? मृत्यु के पश्चात् मनुष्य कहाँ जाता है? इस सृष्टि का कर्त्ता कौन है? इसका नियमन किस प्रकार होता है[1]? इसी प्रकार की जिज्ञासाएँ थीं, जो अनेक मनुष्यों को इस बात के लिए प्रेरित करती थीं, कि वे गृहस्थ जीवन से विरत होकर या सांसारिक सुख भोगों की उपेक्षा कर एकनिष्ठ हो तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करें। उस युग में ग्रामों और नगरों से बाहर जंगल में इन विचारकों ने अपने आश्रम बनाए हुए थे, जिनमें ब्रह्मविद्या या तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए उत्सुक लोग एकत्र होते थे, और तप व स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की अपनी प्यास को बुझाया करते थे। उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का विकास ऐसे ही आरण्यक-आश्रमों में हुआ था।

पर वैदिक संहिताओं में भी ब्रह्मविद्या एवं अध्यात्मसम्बन्धी बहुत-से सिद्धान्त व मन्तव्य विद्यमान हैं। वैदिक आर्यों का विश्वास था कि शरीर और आत्मा एक-दूसरे से भिन्न हैं। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का अस्तित्व कायम रहता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि यह कल्याणी आत्मा स्वयं अमर है, पर मरणधर्मा गृह (शरीर) में निवास करती है।[2] एक अन्य मन्त्र में 'अमर्त्य' (कभी न मरने वाली) आत्मा का 'मर्त्य' (मरणधर्मा) शरीर के साथ 'सयोनि' (एक स्थान पर रहने वाला) होना कहा गया है।[3] मृत्यु होने से आत्मा नहीं मर जाता। ऋग्वेद के एक सूक्त

---

१. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥
—ऋग्वेद १०।१२९।७

२. 'इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।' ऋग्वेद १०।८।२६

३. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यान्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥
ऋग्वेद १।१६४।३८

में मृतक की आत्मा से यह प्रार्थना की गई है, कि वह जिस भी सुदूर स्थान पर भ्रमण कर रही हो, लौट आए।[1] आत्मा की अमरता के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी वेदों में प्रतिपादित है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में 'स जायते पुनः' कह कर यह स्पष्ट कर दिया गया है, कि आत्मा का पुनः जन्म होता है।[2] सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस प्रश्न पर भी वैदिक ऋषियों ने चिन्तन किया था। ऋषि प्रजापति परमेष्ठी ने ऋग्वेद के एक सूक्त में इसका बड़ा गम्भीर निरूपण किया है। इस सूक्त को नासदीय सूक्त कहा जाता है।[3] इसके अनुसार एक ऐसा समय था, जब न सत् था न असत् था, न रज था, न व्योम था, न तब कोई किसी के आश्रय में था और न कोई आवरण करने वाला था। न तब मरण था और न अमरत्व। न दिन थे और न रातें। उस समय केवल एक ही तत्त्व विद्यमान था, जो अपनी ही शक्ति से रह रहा था। तब मूल प्रकृति के गूढ़ तम में व्याप्त हुए होने के कारण सब कुछ अज्ञेय तथा अव्यक्त दशा में था। सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व की दशा का यह वर्णन बड़े महत्त्व का है। इस दशा में अपनी ही शक्ति पर आश्रित जिस एक तत्त्व की सत्ता थी, उसी के तप द्वारा सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। विविध प्रकार की यह सृष्टि जिससे आविर्भूत हुई है, वही इसे धारण करता है, वही इसका अध्यक्ष है। विश्व के मूल तत्त्व कितने हैं, इस विषय का भी ऋग्वेद में प्रतिपादन किया गया है। एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक सुस्वादु फलों का भक्षण कर रहा है और दूसरा पक्षी फल का भक्षण नहीं करता है, अपितु केवल द्रष्टा रूप से देख रहा है।[4] इस मन्त्र में वृक्ष प्रकृति का सूचक है, द्रष्टामात्र पक्षी परमात्मा का, और फल को खाने वाला पक्षी जीवात्मा का। विश्व के ये ही तीन मूल तत्त्व हैं। परमात्मा जगत् का कर्त्ता है। उस द्वारा मूल प्रकृति सृष्टि के रूप में व्यक्त की जाती है। जीवात्मा सृष्टि का भोग करती है। इन तीन मूल तत्त्वों को निरूपित करने वाले अन्य भी अनेक मन्त्र वैदिक साहित्य में विद्यमान हैं।

---

१. ऋग्वेद १०।५८

२. अथर्ववेद ११।४।१४

३. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥२
तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३
को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव ॥६ ऋग्वेद १०।१२९

४. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ऋग्वेद १।१६४।२०

याज्ञिक विधिविधान तथा अन्य धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करते हुए जहाँ वैदिक आर्य द्रविण, धान्य, पशु, शत्रुओं पर विजय आदि की कामना करते थे, वहाँ उनके सम्मुख स्वर्ग लोक तथा अमरत्व की प्राप्ति का लक्ष्य भी सदा उपस्थित रहता था। वेदों में स्वर्ग का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के अनुसार अमृत (स्वर्ग) लोक में ज्योति निरन्तर चमकती रहती है, वहाँ स्वेच्छा से घूमना-फिरना होता है, वहाँ आनन्द है, मोद है, उल्लास है, सब कामनाओं की यथेष्ट संतुष्टि है, तृप्ति है, और सदा प्रकाश है।[1] ऋग्वेद में इस परम आनन्दमय लोक के लिए अमृतलोक तथा नाक शब्दों का प्रयोग किया गया है,[2] पर अथर्ववेद में इसके लिए 'स्वर्ग' शब्द भी प्रयुक्त है।[3] वहाँ लिखा है कि स्वर्ग में सुकृत (अच्छे कर्म) करने वाले लोग शारीरिक रोगों से मुक्त होकर आनन्द का भोग करते हैं। सब सांसारिक सुख स्वर्ग में उपलब्ध होते हैं, और सुकृत करने वाले व्यक्ति उनका यथेष्ट रूप से उपभोग करते हैं। स्वर्ग के साथ-साथ नरक की कल्पना भी वैदिक ऋषियों द्वारा की गई थी। अथर्ववेद में इसे नरक-लोक, कृष्णतमस्, अधरगृह, अधम तमस् और अन्धतमस् नामों से लिखा गया है। 'वीरहण' (नर हत्या करने वाले) लोग नरक में ही जाते हैं, यह यजुर्वेद का कथन है।[4] ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक स्वर्ग और नरक की कल्पना पूर्णतया विकसित हो गई थी, और यह माना जाने लगा था कि मनुष्य अपने सुकृतों या कुकर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक को जाता है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि मृत्यु के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को तराजू में तौला जाता है, और उसने जो साधु या असाधु जीवन में किया होता है, उसके अनुसार उसे पुरस्कार या दण्ड मिलता है।[5] स्वर्ग और नरक के अतिरिक्त मुक्ति की कल्पना भी वैदिक युग में विद्यमान थी। जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होकर किसप्रकार मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है, इस विषय पर भी उन्होंने चिन्तन किया

---

१. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन्मां धेहि पवमानाऽमृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥७॥
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥१०॥
ऋग्वेद ६।११३

२. यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः ।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि ॥ ऋग्वेद ६।११३।९

३. स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम ।" अथर्ववेद १२।३।१७

४. 'नारकाय वीरहणम् ।' यजुर्वेद ३०।५

५. अत्र हैषैव तुला । यद्दक्षिणतो वेद्यन्तः स यत्साधु करोति तदन्तर्वेद्यथ यदसाधु तद्ब-हिर्वेदि तस्माद्दक्षिणं वेद्यन्तमधिस्पृश्येवासीत तुलायां ह वाऽ अमुष्मिंल्लोकऽ आदधति यतरद्यंस्यति तदन्वेष्यति यदि साधु वासाधु वेत्यथ य एवं वेदास्मिन्हैव लोके तुलायामारोहत्यमुष्मिंल्लोके तुलाधानं मुच्यते साधुकृत्या हैवास्य यच्छति न पापकृत्या ॥ शतपथ ब्राह्मण ११।२।७।३३

था। उनका कहना था, कि अन्धकार से परे सूर्य के समान ज्योतिष्मान् जो महान् पुरुष (परब्रह्म) है, उसे जान कर ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसका कोई अन्य मार्ग नहीं है।[1] जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाना ही 'मोक्ष' कहाता था। इस मोक्ष को प्राप्त करने का एकमात्र साधन ब्रह्मज्ञान था। ब्रह्मज्ञान-विषयक कितने ही मन्त्र वेदों में विद्यमान हैं।

(२) तत्त्व चिन्तन की लहर

वैदिक युग में धार्मिक पूजा का प्रधान रूप यज्ञों का अनुष्ठान करना था, यह पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। प्रारम्भ में याज्ञिक कर्मकाण्ड बहुत सुगम थे और आर्य गृहस्थों के लिए उनका सम्पादन कर सकना कठिन नहीं था। पर उत्तर-वैदिक काल में यज्ञों का रूप बहुत जटिल तथा आडम्बरपूर्ण हो गया था। उनमें अजा, अश्व, आदि पशुओं की बलि भी दी जाने लगी थी। उत्तर-वैदिक युग के आर्य यह भी मानने लगे थे, कि यज्ञों के विधिपूर्वक अनुष्ठान से मनुष्य यथाभिलषित फल प्राप्त कर सकता है, और सुख, समृद्धि, स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए ये अनुष्ठान ही प्रधान उपाय हैं।

तत्त्व-चिन्तन की नई लहर—पर उत्तर-वैदिक युग के आर्य भी केवल याज्ञिक अनुष्ठानों में ही व्यापृत नहीं रहते थे। यज्ञों से इहलोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त होता है, यह मानते हुए भी वे इस प्रकार के विषयों के चिन्तन को महत्त्व देते थे, जिनका सम्बन्ध ब्रह्मविद्या और अध्यात्म से होता है। आरण्यक-आश्रमों में तत्त्व-चिन्तन की प्रक्रिया का प्रारम्भ तो वैदिक युग में ही हो चुका था, पर उपनिषदों के समय में अनेक राजा भी ऐसे हुए, जो ब्रह्मज्ञान तथा अध्यात्म चिन्तन में तत्पर थे। विदेह के जनक, कैकय के अश्वपति, काशी के अजातशत्रु और पंचाल देश के प्रवाहण जाबालि इनमें उल्लेखनीय हैं। ये सब राजा न केवल स्वयं तत्त्व-चिन्तक थे, अपितु इसी प्रकार का चिन्तन करने वाले मुनियों व विचारकों के आश्रयदाता भी थे। उनकी राजसभा में भारत के विभिन्न प्रदेशों से मुनि लोग एकत्र होते थे, और अध्यात्मविषयक प्रश्नों पर विचार करते थे। राजा लोग भी इस विचार में भाग लेते थे, और विविध विचारकों में जिनका पक्ष प्रबल होता था, उनकी धन आदि से पूजा भी करते थे।

शतपथ ब्राह्मण में कथा आती है, कि जनक वैदेह ने एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें कुरु और पंचाल देशों के ब्राह्मण एकत्र हुए। जनक ने निश्चित किया, कि जो ब्राह्मण सबसे विद्वान् होगा, उसे हजार गौवें दी जायेंगी, और इन गौवों के सींगों के साथ दस-दस स्वर्ण-मुद्राएँ बंधी होंगी। इस पर ब्राह्मणों में अध्यात्म विषय पर शास्त्रार्थ होने लगा। अन्त में याज्ञवल्क्य की विजय हुई। उसने अन्य सब ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में परास्त किया, और हजार गौवों को विजयोपहार के रूप में प्राप्त

१. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ यजुर्वेद ३१।१८

किया। याज्ञवल्क्य के साथ हुए इस शास्त्रार्थ का विषय अध्यात्म-सम्बन्धी था, और उससे परास्त होने वाले विद्वानों में केवल कुरु-पंचाल के ही ब्राह्मण नहीं थे, अपितु मद्रदेश और शाकल नगरी के विद्वान् भी थे। इसी प्रकार की कथाएँ इस युग के अन्य राजाओं के सम्बन्ध में भी ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों में पायी जाती हैं।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के जटिलरूप से आरण्यक आश्रमों में चिन्तन करने वाले ये विद्वान् सहमत नहीं थे। वे अनुभव करते थे, कि यज्ञों द्वारा मनुष्य यथेष्ट फल नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिए उनका कथन था, कि यज्ञ रूपी ये नौकाएँ अदृढ़ हैं, संसार-सागर को तरने के लिए इन पर भरोसा नहीं किया जा सकता (मुण्डक उपनिषद् १।२।७)। यज्ञ के स्थान पर इन विचारकों ने तप, स्वाध्याय और सदाचरण पर जोर दिया। वे कहते थे कि मानव जीवन की उन्नति और परम पद की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है, कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में रखे, वाणी और मन पर नियन्त्रण रखे, तप और ब्रह्मचर्य का सेवन करे, दृढ़संकल्प हो, आत्मा और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करे, और ईश्वर में ध्यान लगाए। शरीर से भिन्न जो आत्मा है, जिसके कारण शरीर को शक्ति प्राप्त होती है, उसको जानने और उस पर ध्यान देने से ही मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, यह इन तत्त्वचिन्तकों का उपदेश था। इनका कथन था, कि यह आत्मा बलहीन मनुष्य द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, तप के अभाव में प्रमादी मनुष्य इसे कदापि प्राप्त नहीं कर सकता।

इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर इस युग के अनेक मनुष्य यज्ञों से विमुख हो गए, और भारत में तत्त्व-चिन्तन की उस लहर का प्रारम्भ हुआ, जिसने इस देश में बहुत-से मुनि, योगी व तपस्वी उत्पन्न किये। ये लोग सांसारिक सुखों को हेय समझते थे, सन्तान, धन और यश की अभिलाषा से ऊपर उठते थे, और ज्ञान की प्राप्ति को ही अपना ध्येय मानते थे। इनके चिन्तन के कारण भारत में जो नया ज्ञान विकसित हुआ, वही आरण्यकों, उपनिषदों और दर्शन-ग्रन्थों में संगृहीत हैं। निस्सन्देह, ये अध्यात्म-चिन्तन, ब्रह्मविद्या और तत्त्वज्ञान के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

उपनिषदों का ज्ञान—ब्रह्मज्ञान और अध्यात्म-चिन्तन के सम्बन्ध में जो कार्य प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं विद्वानों द्वारा किया गया, उपनिषदों के आधार पर उसका कुछ परिचय देना वैदिक युग के धार्मिक जीवन को समझने के लिए उपयोगी होगा। कठ उपनिषद् में नचिकेता ने आचार्य यम से प्रश्न किया है—मरने के बाद मनुष्य का क्या होता हैं, इस बारे में बहुत विचिकित्सा है। कोई कहता है मनुष्य रहता है, कोई कहता है नहीं रहता। मैं इस विषय में सही-सही बात जानना चाहता हूँ।[1] प्रश्न बहुत गम्भीर था। आचार्य यम ने चाहा कि नचिकेता कोई और प्रश्न कर ले। पर वह दृढ़ रहा। इस पर यम ने आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध में उपदेश दिया। उन्होंने बताया कि न आत्मा का कभी जन्म होता है और न कभी उसकी मृत्यु होती है। वह अज (अजन्मा), नित्य और शाश्वत है। शरीर के मरने पर आत्मा नहीं मर जाती।[2] परमात्मा की

१. कठोपनिषद् १।२०
२. कठोपनिषद् २।१९

प्राप्ति के लिए कठ उपनिषद् का कथन है कि बहुत पढ़ लिख लेने से या तीक्ष्ण बुद्धि से या बहुत शास्त्र चर्चा से परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह परमात्मा स्वयं ही जिसका वरण कर लेता है (जिस पर उसकी कृपा हो जाती है), उसीके सम्मुख वह अपने स्वरूप को प्रकट करता है।[1] जिस भक्तिमार्ग का भारतीय धर्म में आगे चल कर बहुत प्रचार हुआ, उसका मूल कठ उपनिषद् के इसी वाक्य में विद्यमान है।

केन उपनिषद् में परमात्म-तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए यह कहा गया है कि न वहाँ चक्षु पहुंच सकती है, न वाणी और न मन। वह इन सबकी गति से परे है। आंख उसे नहीं देख सकती, पर उसी की शक्ति से आँखें अपने विषयों को देखती हैं। कान उसे नहीं सुन सकते, पर उसी से शक्ति प्राप्त कर कानों को सुनायी देता है। वाणी उसका बखान नहीं कर सकती, पर उसी से वाणी का उदय होता है। मन से उसका मनन नहीं किया जा सकता, पर उसी की शक्ति से मन को मनन करने की शक्ति प्राप्त होती है।[2] मुण्डक उपनिषद् में शौनक द्वारा आचार्य अङ्गिरा से यह प्रश्न किया गया है, कि हे भगवन्! वह कौन सा तत्त्व है जिसको जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है? इसके उत्तर में अङ्गिरा ने शौनक को बताया, कि विद्याएँ दो प्रकार की होती हैं, परा और अपरा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये अपरा विद्याएँ हैं। परा विद्या वह है जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है। वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, चक्षु और श्रोत्र से विहीन, हाथों और पैरों से विरहित, नित्य, विभु, सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म और कभी नष्ट न होने वाली सत्ता हैं, जो सब भूतों की योनि है, परा विद्या द्वारा उसी को जाना जाता है। यही सत्ता 'अक्षर' है। सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति इसी अक्षर से हुई है। जिस प्रकार मकड़ी स्वयं जाले को उत्पन्न करती है और फिर स्वयं ही उसे अपने आप मे लीन कर लेती है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व अक्षर से उत्पन्न होकर अक्षर में ही विलीन हो जाता है।[3]

उपनिषदों के युग में ब्रह्मज्ञान की भूख इतनी अधिक बढ़ गई थी, कि कितने ही युवक इस ज्ञान की प्राप्ति और अपनी शंकाओं के निवारण के लिए सुदूर आचार्यों के पास जाने लग गये थे। प्रश्न उपनिषद् के अनुसार सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि और कबन्धी कात्यायन—ये सब आचार्य पिप्पलाद के पास अपनी जिज्ञासाओं को शान्त करने के लिए पहुँचे थे।[4] इन्होंने जो प्रश्न किये और पिप्पलाद ने उनके जो उत्तर दिये, वे ही प्रश्न उपनिषद् में संकलित है। इन जिज्ञासुओं में सत्यकाम शिवि देश के निवासी थे, भार्गव विदर्भ के, और आश्वलायन कोशल देश के। एक दूसरे से इतनी दूरी पर स्थित प्रदेशों के जिज्ञासुओं

---

१. कठोपनिषद् २।२३
२. केन उपनिषद् १।४-८
३. मुण्डक १।६
४. प्रश्न उपनिषद् १।१

का एक आचार्य की सेवा में उपस्थित होना यह सूचित करता है, कि उस युग में ऐसे ब्रह्मज्ञानी आचार्य विद्यमान थे, जिनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार पाँच प्रसिद्ध विद्वान् अपनी शंकाओं के निवारण के लिए उद्दालक आरुणि के पास गये। उद्दालक ने समझ लिया कि वे इन विद्वानों को संतुष्ट नहीं कर सकेंगे। उन्होंने स्वयं प्रस्ताव किया कि हम सब मिल कर केकय देश के राजा अश्वपति के पास चलें। अश्वपति ने उनका बड़ा आदर किया और कहा कि मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कोई शराबी है, न कोई ऐसा है जिसने अग्नि का आधान न किया हो, न कोई व्यभिचारी है, व्यभिचारिणी के होने का तो प्रश्न ही नहीं है? आप सब मेरे पास निवास करें। पर उद्दालक आरुणि आदि विद्वान् अश्वपति की सेवा में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए आये थे। उनकी प्रार्थना पर अश्वपति ने उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया, जिससे उनकी सब शंकाएँ निवृत्त हो गईं।

विदेह के राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य का अन्य ब्राह्मणों के साथ जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। जिन विद्वानों को जनक की राजसभा में याज्ञवल्क्य ने परास्त किया था, उनके नाम जारत्कारव आर्तभाग, भुज्यु लाह्यायनि, कहोड़ कौषीतकेय, उषस्त चाक्रायण, उद्दालक आरुणि, विदग्ध शाकल्य और अश्वल थे। अश्वल जनक का होता था। इनके अतिरिक्त गार्गी वाचक्नवी नाम की एक विदुषी ने भी याज्ञवल्क्य से प्रश्नोत्तर किये थे।[1] ये सब कुरु देश और पञ्चाल के ब्राह्मण थे, यद्यपि ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिये ये दूर-दूर के प्रदेशों में परिभ्रमण कर चुके थे। भुज्यु लाह्यायनि और उद्दालक आरुणि मद्र देश में काप्य पतञ्जल के घर हो आये थे, जहाँ गन्धर्वगृहीता नाम की एक विदुषी से उन्होंने विचार-विमर्श किया था। जब कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मण विद्वान् याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ में परास्त हो गये, तो शाकल नगरी का निवासी विदग्ध शाकल्य याज्ञवल्क्य का सामना करने के लिए उठा, पर वह भी इस ब्रह्मज्ञानी विद्वान् को पराभूत करने में असमर्थ रहा। शाकल नगरी मद्रदेश की राजधानी थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि उपनिषदों के काल में भी केकय, मद्र आदि उत्तर-पश्चिमी जनपद आर्य धर्म, संस्कृति और तत्त्व-चिन्तन के प्रसिद्ध केन्द्र थे। यद्यपि धीरे-धीरे आर्यों की सभ्यता कुरु-पञ्चाल में केन्द्रित हो गई थी, और पूर्वी भारत के जनक जैसे राजाओं की कीर्ति से आकृष्ट होकर ऋषि-मुनि और विद्वान् पूर्व की ओर भी जाने लग गये थे, पर सप्तसिन्धव देश के आर्य जनपदों का महत्त्व अभी कम नहीं हुआ था। शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय में विदेह के राजा जनक की राजसभा के अतिरिक्त पञ्चाल जनपद की परिषद् का भी ब्रह्मविद्या के विचार-विमर्श के केन्द्र के रूप में उल्लेख हुआ है।[2] आरुणेय श्वेतकेतु ने वहाँ जाकर जैवल प्रवाहण के साथ अध्यात्मज्ञान-सम्बन्धी विचार-विमर्श किया था। इस में सन्देह नहीं, कि उत्तरवैदिक युग में तत्त्व-चिन्तन की जो नई लहर चली थी, उसने सब आर्य जनपदों को

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, तीसरा अध्याय
२. शतपथ ब्राह्मण १४।६।२।१

व्याप्त कर लिया था। उसके कारण याज्ञिक कर्मकाण्ड का महत्त्व कम होने लगा था, और लोग धर्म के एक ऐसे मार्ग को अपनाने लगे थे, जिसमें इन्द्रियों को वश में रखने, वाणी और मन पर नियन्त्रण रखने, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, श्रद्धा, सम्यक्ज्ञान और शुचिता का उपदेश किया जाता था। इस मार्ग के प्रतिपादकों का कथन था, कि मन और इन्द्रियों को वशीभूत करके आत्मा या ब्रह्म में ध्यान लगाने, उसी की उपासना करने और उसी में लीन होने का प्रयत्न करने से मनुष्य परम पद को प्राप्त कर सकता है। ये विचार नये नहीं थे। वेदों में भी इनका निरूपण किया गया था। पर आरण्यक आश्रमों में निवास करने वाले ऋषि-मुनियों ने इनका विशेष रूप से विकास किया, और उपनिषदों में संकलित इस ब्रह्मज्ञान का महत्त्व धीरे-धीरे निरन्तर बढ़ता गया। क्या जनक और अश्वपति जैसे राजा, क्या पञ्चाल की परिषद्, क्या ऋषि-मुनि और ब्राह्मण—सभी इस युग में तत्त्व-चिन्तन में तत्पर हो गए थे। जिन लोगों के गोत्र या पिता का भी पता नहीं होता था, वे भी इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए गुरुओं की सेवा में उपस्थित हुआ करते थे, और तत्त्वज्ञानी आचार्य उनके कुल आदि की परवाह न कर उन्हें अपना शिष्य बना लिया करते थे। ऐसे एक युवक की कथा छान्दोग्य उपनिषद् में दी गई है, जिसका नाम सत्यकाम जाबाल था। वह आचार्य हारिद्रुमत् गौतम के पास शिष्य बनने के लिए आया। गोत्र, कुल आदि पूछने पर उसने साफ-साफ कह दिया कि युवावस्था में बहुत संचरण करते हुए मेरी माता ने मुझे प्राप्त किया था। मेरी माता का नाम जबाला है, और मेरा नाम सत्यकाम है। इसीलिए मैं सत्यकाम जाबाल कहाता हूँ। पिता का नाम इस युवक को ज्ञात नहीं था। पर आचार्य गौतम ने उसे अपना शिष्य बनाना स्वीकार कर लिया और आगे चलकर वह बड़ा ब्रह्मज्ञानी बना।[1]

भागवत धर्म—यज्ञों के जटिल कर्म काण्ड के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया तत्त्वचिन्तक मुनियों द्वारा शुरू की हुई थी, उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम भागवत धर्म का प्रारम्भ था। बौद्ध युग के बाद यह धर्म भारत का सबसे प्रमुख धर्म बन गया, और गुप्त-सम्राटों के समय में इस धर्म ने न केवल भारत में अपितु भारत के बाहर भी बहुत उन्नति की। पर इस धर्म का प्रारम्भ महाभारत युद्ध के समय में व उससे कुछ पूर्व ही हो गया था। एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार राजा वसु चैद्योपरिचर के समय में याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में एक भारी विवाद उठ खड़ा हुआ था। कुछ ऋषि यज्ञों में पशुओं की बलि देने के विरुद्ध थे, और कुछ पुरानी परम्परा के अनुसरण के पक्षपाती थे। राजा वसु ने अपने यज्ञों में पशु बलि देने के विरुद्ध परिपाटी का अनुसरण किया, और स्वयं हरि (भगवन्) उससे सन्तुष्ट हुए। यद्यपि पुरानी प्रथा के अनुयायी अनेक ऋषि इस पर वसु से बहुत नाराज थे, पर क्योंकि वसु भगवान् का सच्चा भक्त था, अतः भगवान् ने उसे अपनाया और उसके समय से भागवत-पूजा की एक नई पद्धति का प्रारम्भ हुआ। वसु के बाद सात्वत लोग इस नई पद्धति के अनुयायी हुए। सात्वत लोग यादव वंश की एक शाखा थे, और मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश में आबाद

---

1. छान्दोग्य उपनिषद् ४।४

थे। मथुरा के क्षेत्र के अन्धकवृष्णि गण के निवासी सात्वत लोगों का विश्वास था, कि हरि सब देवों का देव है, अन्य सब देवता उसकी विविध शक्तियों के प्रतीक-मात्र हैं। इस देवों के देव हरि की पूजा के लिए न याज्ञिक कर्मकाण्ड का उपयोग है, और न ही जंगल में बैठ कर तपस्या करने का। इसकी पूजा करने का सर्वोत्तम उपाय भक्ति है, और भक्ति के साथ-साथ अपने कर्त्तव्यों को कुशलता के साथ करते रहने में ही मनुष्य का कल्याण है। सात्वत लोग यज्ञों के विरोधी नहीं थे और न ही तपस्या को निरुपयोगी समझते थे। पर उनका विचार था, कि ये सब बातें उतने महत्त्व की नहीं है, जितना कि हरि-भक्ति और कर्त्तव्य-पालन। सात्वत यादवों में वासुदेव कृष्ण, कृष्ण के भाई संकर्षण और संकर्षण के वंशज प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ने इस नये विचार को अपनाया और सात्वत लोगों में इस नये सिद्धान्त का विशेष रूप से प्रचार हो गया। वासुदेव कृष्ण और उनके अनुयायी सात्वत लोग यज्ञों में पशुहिंसा के विरोधी थे, और भगवान् की भक्ति व निष्काम-कर्म के सिद्धान्त पर जोर देते थे। वसु चैद्यो-परिचर के समय में जिस नई विचारधारा का सूत्र रूप में प्रारम्भ हुआ था, वासुदेव कृष्ण द्वारा वह बहुत विकसित की गई। इसी विचारधारा को भागवत एकान्तिक धर्म कहते हैं। इसके प्रधान प्रवर्त्तक वासुदेव कृष्ण ही थे, जो वृष्णि (सात्वत) संघ के 'मुख्य' थे और जिनकी सहायता से पाण्डवों ने मगधराज जरासन्ध को परास्त किया था। कृष्ण न केवल उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ थे, अपितु भागवत सम्प्रदाय के महान् आचार्य भी थे। कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को आत्मा की अमरता और निष्काम कर्म का जो उपदेश उन्होंने दिया था, भगवद्गीता में उसी का विशद रूप से वर्णन है। गीता भागवत धर्म का प्रधान ग्रन्थ है। इसे उपनिषदों का सार कहा जाता है। प्राचीन मुनियों और विचारकों द्वारा भारत में तत्त्व-चिन्तन की जो लहर चली थी, उसके कारण यज्ञप्रधान वैदिक धर्म में बहुत परिवर्तन हुआ। उपनिषदों के तत्त्व-चिन्तन के परिणामस्वरूप जिस भागवत-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, उसमें याज्ञिक अनुष्ठानों का विरोध नहीं किया गया था। यज्ञों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसमें एक सर्वोपरि शक्ति की सत्ता, आत्मा की अमरता, कर्म-मार्ग की उत्कृष्टता और हरिभक्ति की महिमा का प्रतिपादन किया गया था। पुराने भारतीय धर्म में सुधार करने के लिए बौद्ध और जैन आदि जो नये धर्म बाद में उत्पन्न हुए, वैदिक श्रुति में वे विश्वास नहीं करते थे। प्राचीन वैदिक धर्म के साथ अनेक अंशों में उनका विरोध भी था। पर वासुदेव कृष्ण के भागवत-धर्म का उद्देश्य वैदिक मर्यादा, प्राचीन परम्परा और याज्ञिक अनुष्ठानों को कायम रखते हुए धर्म के एक ऐसे स्वरूप का प्रतिपादन करना था, जो नये चिन्तन के अनुरूप था।

भगवद्गीता—भागवत धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनेक उपाख्यान महाभारत में विद्यमान हैं। पर उसका सबसे उत्कृष्ट रूप गीता में मिलता है। पुरानी परम्परा के अनुसार यह माना जाता है कि गीता का उपदेश कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रण-क्षेत्र में अर्जुन को किया था। वर्तमान हिन्दू धर्म पर गीता का बहुत अधिक प्रभाव है, अतः गीता की शिक्षाओं को यहाँ संक्षिप्त रूप से उल्लिखित करना उपयोगी होगा।

गीता के अनुसार आत्मा नित्य और अनश्वर है। शरीर के नाश के साथ

आत्मा का विनाश नहीं हो जाता। मनुष्य को चाहिए कि वह मन को कामनाओं व वासनाओं से हटाकर अपने कर्त्तव्य-कर्म में लगा रहे। उसे कर्त्तव्य-पालन करते हुए फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि का ख़याल न करके मनुष्य को जीवन संघर्ष में तत्पर रहना चाहिए। यह आवश्यक है कि मनुष्य मन और इन्द्रियों को वश में करके स्थितप्रज्ञ होने का प्रयत्न करे। कर्म मनुष्य के बन्धन का कारण नहीं होता, बशर्ते कि उसे निष्काम रूप से किया जाए। ज्ञानपूर्वक त्याग-भावना द्वारा जो कर्म किया जाता है, उसमें मनुष्य लिप्त नहीं होता। यदि सब मनुष्य निष्काम-भाव से अपने-अपने स्वधर्म में तत्पर रहें, तभी मानव-समाज का कल्याण है। योग-साधन का अभिप्राय यह नहीं है, कि मनुष्य अपने शरीर को व्यर्थ कष्ट दे, या सांसारिक व्यापार को छोड़कर कर्मविहीन हो जाए। कर्म में कुशलता का नाम ही योग है। अपने आहार-विहार, कर्म, चेष्टा, निष्ठा आदि को सुनियन्त्रित और मर्यादित करके ही मनुष्य दुःखों से बच सकता है।

गीता में जहाँ निष्काम-कर्म और स्वधर्म पर जोर दिया गया है, वहाँ साथ ही भक्ति की भी बहुत महिमा बतायी गयी है। मनुष्यों को चाहिए कि वह अपने को भगवान् के अर्पित कर दे। वह जो कुछ भी करे, उसे भगवान् को अर्पण करके करे। भगवदर्पण द्वारा मनुष्य के लिये निष्काम-कर्म कर सकना बहुत सुगम हो जाता है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए गीता में यज्ञ का एक नया स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। गीता की सम्मति में तपोयज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ आदि ही वास्तविक यज्ञ हैं। इनके अनुष्ठान के लिए विधि-विधानों की आवश्यकता नहीं। ज्ञान-प्राप्ति, स्वाध्याय, सच्चरित्र, बुद्धि और संयम द्वारा ही इस यज्ञ का अनुष्ठान होता है।

उपनिषदों द्वारा धर्म के जिस स्वरूप को प्रतिपादित किया गया था, कृष्ण के भागवत धर्म ने उसी को और अधिक विकसित किया। वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध ने प्राच्य भारत में धार्मिक सुधारणा के सम्बन्ध में जो कार्य किया, वही कृष्ण ने भारत के पाश्चात्य क्षेत्रों मे किया। पर यह ध्यान मे रखना चाहिए कि कृष्ण का समय बुद्ध और महावीर से पहले था। इस नये धार्मिक आन्दोलन की यह भी विशेषता थी कि वह प्राचीन आर्य परम्परा के अनुकूल था। कृष्ण वेदो की प्रामाणिकता मे विश्वास रखते थे। यज्ञों के भी वह सर्वथा विरोधी नही थे, और वर्णाश्रम धर्म के भी वे समर्थक थे। याज्ञिक भावना को महत्त्व देते हुए भी यज्ञो के अनुष्ठान में वे पशुहिंसा व बलिदान को कोई स्थान नही देते थे। इस प्रकार कृष्ण का यह भागवत धर्म वेदों के प्रति श्रद्धा और प्राचीन आर्य परम्परा को कायम रखते हुए सुधार के लिए प्रयत्नशील था। आगे चलकर इस धर्म ने बहुत जोर पकड़ा और वह भारत का प्रधान धर्म बन गया।

(३) भारत के छः आस्तिक दर्शन

जिस समय प्राचीन भारत में याज्ञिक कर्मकाण्ड और धार्मिक अनुष्ठानों का विकास हो रहा था, उसी समय अरण्यों में विद्यमान ऋषि-आश्रमों में अध्यात्म-चिन्तन और दर्शन-शास्त्रों का विकास जारी था। ब्राह्मण-ग्रन्थों के आरण्यक भाग और उपनिषदें इसी चिन्तन का परिणाम थे। पर कुछ विद्वान् मुनि लोग अध्यात्मसम्बन्धी चिन्तन और मनन से ही सन्तुष्ट नहीं थे। वे यह प्रयत्न कर रहे थे कि प्रकृति और परमात्मा-सम्बन्धी रहस्यों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करें। सृष्टि किस तत्त्व या तत्त्वों से बनी, संसार में मूलपदार्थ कितने हैं, पदार्थों का ज्ञान ठीक-ठीक किन प्रकारों से हो सकता है, सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए कौन-सी कसौटी या प्रमाण हैं—इन प्रश्नों पर इन मुनियों ने बाकायदा विचार शुरू किया। इसी का परिणाम यह हुआ कि भारत में अनेक दर्शन-शास्त्रों का विकास हुआ। ये दर्शन दो प्रकार के हैं—आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक दर्शन वे हैं जो वेदों को मानते हैं। नास्तिक दर्शन वेदों पर विश्वास नहीं करते। चार्वाक लोग वेदों को न मानते हुए स्वतन्त्र रूप से दर्शन-तत्त्व पर विचार में तत्पर थे। उनका दर्शन नास्तिक-दर्शन गिना जाता है। आस्तिक दर्शन छः हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। हम इनपर क्रमशः विचार करेंगे।

न्याय-दर्शन—न्याय-दर्शन का प्रधान लक्ष्य यह है, कि यह निश्चित करे कि सही ज्ञान के लिये कितने और कौन-कौन से प्रमाण (साधन) हैं। प्रमाण चार हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। जिस बात को हम स्वयं साक्षात् रूप से जानें, वह प्रत्यक्ष है। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा। जब किसी इन्द्रिय का उसके विषय (अर्थ) से सीधा सम्पर्क (सन्निकर्ष) होता है, तो उस विषय के सम्बन्ध में हमें ज्ञान होता है। यही ज्ञान प्रत्यक्ष है। हम कोई बात आँख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, नाक से सूँघते हैं, जिह्वा से किसी रस का स्वाद लेते हैं, या त्वचा के स्पर्श से किसी को जानते हैं, तो हमारा यह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। जब किसी वस्तु को हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानते, अपितु किसी हेतु द्वारा उसे जानते हैं, तो वह ज्ञान हमें अनुमान द्वारा होता है। हमने दूर पहाड़ की चोटी पर धुआँ उठता हुआ देखा। इस हेतु से हमने अनुमान किया, कि वहाँ अग्नि है। क्योंकि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। बिना अग्नि के धुआँ नहीं हो सकता। अतः धुएँ की सत्ता से हमने अग्नि की सत्ता का अनुमान किया। इस प्रकार के ज्ञान को अनुमान कहा जाता है। जब किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य (साधर्म्य) से हम न जानी हुई वस्तु को जानते हैं, तो उसे उपमान कहते हैं। एक आदमी गौ को अच्छी तरह जानता है, पर गवय (चँवर गौ) को नहीं जानता। उसे कहा जाता है, कि गवय भी गाय के सदृश होती है। वह जंगल में एक पशु को देखता है, जिसकी आकृति आदि गाय के सदृश है। इससे वह समझ लेता है कि यह पशु गवय है। इस प्रकार जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे उपमान कहते हैं। पर बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी हैं, जिन्हें हम प्रत्यक्ष, अनुमान या उपमान

द्वारा नहीं जान सकते। उन्हें जानने का साधन केवल शब्द है। राजा अशोक भारत में शासन करता था और उसने धर्म-विजय की नीति का अनुसरण किया था, यह बात हम केवल शब्द द्वारा जानते हैं। भूमण्डल के उत्तरी भाग में ध्रुव है जो सदा बरफ से आच्छादित रहता है, यह बात भी हमें केवल शब्द द्वारा ज्ञात हुई है। इसी प्रकार की कितनी ही बातें हैं, जिनके ज्ञान का आधार शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होता।

ज्ञान के आधारभूत जो ये विविध प्रमाण हैं, इनका विस्तार के साथ विवेचन न्याय-दर्शन में किया गया है। ज्ञान के इन साधनों का विवेचन करके फिर न्याय-दर्शन में संसार के विविध तत्त्वों का निरूपण करने का प्रयत्न किया गया है। न्याय के अनुसार मूल पदार्थ या तत्त्व तीन हैं, ईश्वर, जीव और प्रकृति। जीवात्मा शरीर से भिन्न है। चार्वाक लोग शरीर और जीवात्मा में कोई भेद नहीं मानते थे। उनका कहना था, कि मृत्यु के साथ ही प्राणी की भी समाप्ति हो जाती है। पर नैयायिकों ने इसका खण्डन करके यह सिद्ध किया, कि जीवात्मा की पृथक् सत्ता है, और वह शरीर, मन एवं बुद्धि से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ है। इसी प्रकार ईश्वर और प्रकृति के स्वरूप का भी न्याय-दर्शन में बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।

न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम थे। उन्होंने सूत्ररूप में न्याय-दर्शन की रचना की। गौतम-विरचित इन न्याय-सूत्रों पर वात्स्यायन मुनि ने विस्तृत भाष्य लिखा। न्याय-दर्शन के मूलग्रन्थ गौतम द्वारा विरचित सूत्र और उनपर किया गया वात्स्यायन-भाष्य ही है। बाद में न्याय-दर्शन-सम्बन्धी अन्य अनेक ग्रन्थ लिखे गये। सातवीं सदी में आचार्य उद्योतकार ने 'न्याय-वार्तिक' लिखा, जो वात्स्यायन-भाष्य की व्याख्या के रूप में है। फिर वाचस्पति मिश्र ने उस ऊपर 'तात्पर्य-टीका' लिखी। इस तात्पर्य-टीका की व्याख्या उदयनाचार्य ने 'तात्पर्य-परिशुद्धि' नाम से की। इस प्रकार न्याय-दर्शन का निरन्तर विकास होता गया। इसमें सन्देह नहीं, कि न्याय के रूप में भारत के आर्यों ने एक ऐसे तत्त्वज्ञान को प्राप्त किया, जिसके द्वारा पदार्थों के ज्ञान व सत्यासत्य-निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है।

वैशेषिक-दर्शन—वैशेषिक-दर्शन के अनुसार ज्ञान के चार साधन हैं, प्रत्यक्ष, लैंगिक (अनुमान), स्मृति और आर्षज्ञान। ज्ञानेन्द्रियों, मन और आत्मा द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। लैंगिक ज्ञान चार प्रकार से होता है—अनुमान से, उपमान से, शब्द से और ऐतिह्य से। ऐतिह्य का अभिप्राय अनुश्रुति से है। पहले जानी हुई वस्तु की याद (स्मृति) से जो ज्ञान होता है, उसे स्मृति कहते हैं। यह भी ज्ञान का साधन है। आर्षज्ञान वह है, जो ऋषियों ने अपनी अन्तर्दृष्टि से प्राप्त किया था। हम कितनी ही बातों को केवल इस आर्षज्ञान द्वारा ही जानते हैं।

वैशेषिक के अनुसार संसार के कुल पदार्थ सात भागों में बाँटे जा सकते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, सामान्य, समवाय और अभाव। पदार्थ का अभिप्राय है, ज्ञान का विषय। संसार की प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक ज्ञातव्य (जिसे हम जान सकें) वस्तु को इन सात भागों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इन नौ में से पहले पाँच वे हैं, जिन्हें पंचमहाभूत कहा जाता है। काल और दिशा (Time and space) ऐसे द्रव्य हैं, जिनसे बाहर विश्व की कोई सत्ता कल्पित ही नहीं की जा सकती। आत्मा और मन ऐसी सत्ताएं हैं, जिनका सम्बन्ध भौतिक पदार्थों से नहीं है। पृथिवी, जल आदि पाँच द्रव्य भौतिक हैं, और इनका निर्माण परमाणुओं द्वारा हुआ है। परमाणु नित्य और शाश्वत हैं। वह तत्त्व जिसका विभाग नहीं किया जा सकता, परमाणु कहाता है। परमाणुओं के संयोग से ही पृथिवी, जल आदि द्रव्यों का निर्माण होता है।

गुण चौबीस प्रकार के होते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, धर्म, अधर्म, शब्द और संस्कार—ये चौबीस गुण हैं। इनकी सत्ता द्रव्यों से पृथक् होकर नहीं रह सकती।

कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), अपक्षेपण (नीचे फेंकना), आकुंचन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना) और गमन (गति करना)।

विशेष वह पदार्थ है, जो दो सत्ताओं व वस्तुओं में पार्थक्य करता है।

सामान्य वह पदार्थ है, जो दो या अधिक सत्ताओं में समान रूप से रहे। जैसे गाय और घोड़े में पशुत्व सामान्य है, पर गोत्व गौ में विशेष है, जो उसे घोड़े व अन्य पशुओं से पृथक् करता है।

वस्तुओं व सत्ताओं के नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान् में जो सम्बन्ध है, वह नित्य है। इसी प्रकार कारण और कार्य का सम्बन्ध नित्य है, उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सम्बन्ध को समवाय कहते हैं।

अभाव का अभिप्राय है, किसी वस्तु का न रहना। वैशेषिक दर्शन में अभाव को भी एक पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद मुनि थे। उन्होंने वैशेषिक सूत्रों की रचना की। उनपर आचार्य प्रशस्तपाद ने अपना भाष्य लिखा। वैशेषिक दर्शन के मूल प्रामाणिक ग्रन्थ ये ही हैं। बाद में इनपर व्योमशिवाचार्य ने 'व्योमवती' तथा उदयनाचार्य ने 'किरणावली' नाम की टीकाएं लिखीं। श्रीधराचार्य की न्यायकन्दली तथा वल्लभाचार्य की न्यायलीलावती आदि अन्य भी अनेक पुस्तकें वैशेषिक दर्शन के सम्बन्ध में लिखी गई हैं।

सांख्य-दर्शन—सांख्य-दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है, सत्कार्यवाद। इसके अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक सत्ता अव्यक्तरूप में अपने कारण में विद्यमान रहती है। उत्पत्ति का अभिप्राय केवल यह है, कि कारण का कार्य के रूप में उद्भाव हो जाता है। जिसे हम विनाश कहते हैं, वह भी वस्तुतः कार्य का कारण में लीन (अनुभाव) हो जाना है। किसी विद्यमान (सत्) सत्ता का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता, वह केवल अपने कारण में लय हो जाती है। मृत्तिका से घट की उत्पत्ति

होती है। वस्तुतः, घट मृत्तिका रूप में पहले ही विद्यमान होता है। मृत्तिका ही घट के रूप में व्यक्त हो जाती है। घट के नाश का अभिप्राय केवल यह है, कि वह फिर मृत्तिका रूप हो जाता है।

इसी सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का अनुसरण करके सांख्य-शास्त्र में संसार का कारण प्रकृति को माना गया है। संसार वस्तुतः प्रकृति का ही रूपान्तर (परिणाम) है। प्रकृति अनादि और नित्य है। अपने अव्यक्त रूप में वह सदा से रहती आई है। जब वह अपने को व्यक्त करता है, तो संसार बनती है। सृष्टि के आधारभूत गुण तीन हैं सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। इन तीनों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। जब इन गुणों की साम्यावस्था नहीं रहती, तब किसी एक गुण के प्रधान होने से संसार के विविध पदार्थों का निर्माण होता है। पर प्रकृति स्वयं संसार के रूप में व्यक्त नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वयं जड़ है। अतः उसे 'पुरुष' की आवश्यकता होती है। प्रकृति और पुरुष—ये दो ही मूल और अनादि तत्त्व हैं। इन्हीं के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है। प्रकृति और पुरुष की हालत ठीक वह है, जो अन्धे और लंगड़े की होती है। न अकेला अन्धा किसी उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच सकता है, और न अकेला लंगड़ा। पर यदि लंगड़ा मनुष्य अन्धे मनुष्य के कन्धे पर बैठ जाये, और दोनों एक दूसरे की सहायता से किसी निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचना चाहें, तो वे सफल हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष एक-दूसरे के सहयोग से सृष्टि का निर्माण करते हैं। प्रकृति जब संसार के रूप में व्यक्त व विकसित होने लगती है, तो उसको अनेक दशाओं में से गुजरना होता है। ये दशाएं निम्नलिखित हैं—महत्, अहंकार, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, मन, पंचतन्मात्रा तथा पंचमहाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश)। सांख्य-दर्शन में सृष्टि के विकास की इन विभिन्न दशाओं का विशद रूप से उल्लेख किया गया है, और इन विभिन्न दशाओं के सूचक ये शब्द विशिष्ट अर्थ रखते हैं।

सांख्य के अनुसार पुरुष का स्वरूप केवल चेतन और सदा प्रकाशस्वरूप है। सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का सम्बन्ध पुरुष से नहीं, अपितु प्रकृति से है। पर प्रकृति के संयोग से पुरुष विभिन्न पदार्थों में अहंकार या ममत्व की बुद्धि कर लेता है। संसार में जो कुछ हो रहा है, उसका करनेवाला पुरुष नहीं है। संसार के सब कार्य प्रकृति करती है। पर जब प्रकृति के संयोग से पुरुष अहंकारविमूढ़ हो जाता है, तो वह प्रकृति के द्वारा किये जानेवाले कार्यों को अपना किया हुआ समझने लगता है। पुरुष वस्तुतः 'कर्ता' नहीं होता। जब पुरुष यह भली-भाँति समझ लेता है, कि करने वाला वह नहीं, अपितु प्रकृति है, तब वह अहंकार से मुक्त हो जाता है। इसी का नाम 'मोक्ष' है।

सृष्टि के निर्माण, स्थिति व अनुभाव (प्रलय) के लिए सांख्य ईश्वर की आवश्यकता को अनुभव नहीं करता। यही कारण है, कि उसके मूल तत्त्वों में ईश्वर को नहीं गिना गया और न ही वेदान्तियों के ब्रह्म के समान मूल तत्त्वों के भी उपरिरूप से उसकी सत्ता को स्वीकार किया गया। पर सांख्य लोग ईश्वर का खण्डन भी नहीं करते हैं यद्यपि अपनी पद्धति में वे ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते।

सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि थे। उन्होंने सांख्य-सूत्रों की रचना की थी। पंचशिखाचार्य का षष्ठितन्त्र इस शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ था, पर वह अब उपलब्ध नहीं होता। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका इस शास्त्र का प्रामाणिक व प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-प्रवचन-भाष्य नाम से सांख्य सूत्रों का भाष्य किया है। इसके अतिरिक्त सांख्यकारिका पर माठर की माठर वृत्ति, गौड़पाद का भाष्य और वाचस्पति की तत्त्व-कौमुदी टीकारूप में हैं।

योग-दर्शन—योग और सांख्य में बहुत कम भेद है। सांख्य के समान योग भी प्रकृति से संसार की उत्पत्ति स्वीकार करता है। सांख्य के अनुसार जिस प्रकार प्रकृति का विकास महत्, अहंकार आदि दशाओं में होता है, वैसे ही योग-दर्शन भी मानता है। पर इन दर्शनों में मुख्य भेद ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में है। योग-दर्शन प्रकृति और पुरुष के साथ-साथ ईश्वर की सत्ता भी मानता है। ईश्वर की भक्ति द्वारा पुरुष शीघ्र ही अहंकार के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है, यह योग-दर्शन का सिद्धान्त है। योग के अनुसार पुरुष की उपासना से प्रसन्न होकर ईश्वर उसका उद्धार कर देता है, अतः योग-मार्ग में ईश्वर की भक्ति व उपासना परम सहायक है।

योग-दर्शन इस बात का विशेष रूप से प्रतिपादन करता है, कि मनुष्य किस प्रकार चित्त की वृत्तियों का निरोध करे। वस्तुतः, चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है। इस योग के अंग आठ हैं—

(१) यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (धन का संचय करने का विशेष प्रयत्न न करना)—ये पाँच यम हैं।

(२) नियम—शौच (पवित्रता), संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान (सब कर्मों को भक्तिपूर्वक ईश्वर के अर्पण करना)—ये पांच नियम हैं।

(३) आसन—चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये स्थिररूप से एक स्थान पर बैठने के जो विविध प्रकार हैं, उन्हें आसन कहते हैं।

(४) प्राणायाम—श्वास-प्रश्वास पर नियन्त्रण करने को प्राणायाम कहा जाता है।

(५) प्रत्याहार—जब इन्द्रियाँ विषयों की तरफ से हटकर अन्तर्मुखी होने लगती हैं, तो इस दशा को प्रत्याहार कहते हैं।

(६) धारणा—किसी निश्चित स्थान पर (नासिका के अग्रभाग पर या इसी तरह किसी अन्य स्थान पर) मन या ध्यान लगाना 'धारणा' कहाता है।

(७) ध्यान—चित्त के एकाग्र हो जाने की दशा को 'ध्यान' कहते हैं।

(८) समाधि—जब मनुष्य की सब वृत्तियाँ पूरी तरह से उसके वश में हो जाती हैं, तब 'समाधि' की दशा प्राप्त होती है।

योगदर्शन में योग-साधना के इन सब उपायों व प्रकारों का विशद रूप से वर्णन किया गया है। इस दर्शन के आदिप्रवर्तक महर्षि पतंजलि थे। उन्होंने योग-सूत्रों की रचना की। इसपर व्यास ऋषि का भाष्य योग-दर्शन का अत्यन्त प्राचीन व

प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसपर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व-वैशारदी' और विज्ञान मिश्र की 'योगवार्तिक' टीकाएं बहुत प्रसिद्ध हैं।

मीमांसा-दर्शन—मीमांसा-दर्शन का मुख्य प्रयोजन यह है, कि वैदिक कर्म-काण्ड का शास्त्रीय रूप से प्रतिपादन करे, उनमें जहाँ विरोध या असंगति नजर आती हो, उसका निराकरण करे और धर्म के नियमों की ठीक-ठीक मीमांसा करे। इस दर्शन के अनुसार वेद द्वारा विहित कर्म ही धर्म है। उन कर्मों को करने से 'अपूर्व' उत्पन्न होता है। मनुष्य को जो सुख व दुःख, ऐश्वर्य या दरिद्रता है, उस सबका मूल यह 'अपूर्व' ही है। प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों द्वारा अपने अपूर्व (प्रारब्ध) का निर्माण करता है। वैदिक कर्म-काण्ड में किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिये विशेष प्रकार के कर्मकाण्ड या अनुष्ठान का विधान किया गया है। पर हम देखते हैं कि यज्ञ या कर्मकाण्ड से तुरन्त ही अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं हो जाती। अतः मीमांसा-दर्शन ने यह प्रतिपादित किया, कि कर्मकाण्ड द्वारा 'अपूर्व' उत्पन्न होता है, जो मनुष्य के साथ रहता है। इस अपूर्व के परिणाम-स्वरूप बाद में अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।

मीमांसक लोग वेद को नित्य व अपौरुषेय मानते हैं। अपौरुषेय का अभिप्राय यह है, कि उन्हें किसी पुरुष व मनुष्य ने नहीं बनाया। वे प्रकृति व पुरुष के समान ही अनादि और अनित्य हैं—उनमें उन सब धर्मों व कृत्यों का विधान है, जिनका अनुसरण करके मनुष्य अभिलषित फल को प्राप्त कर सकता है।

मीमांसा के प्रवर्तक आचार्य जैमिनी थे। उन्होंने मीमांसा-सूत्रों की रचना की। उनपर शबर मुनि ने भाष्य लिखा। शाबर-भाष्य पर आचार्य कुमारिल भट्ट और प्रभाकर भट्ट ने व्याख्याएं लिखीं। कुमारिल भट्ट मीमांसा-दर्शन का बड़ा प्रसिद्ध आचार्य हुआ है। उसके श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक ग्रन्थ मीमांसा-दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। कुमारिल ने बौद्धों का खण्डन कर वेदों की प्रामाणिकता का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया।

वेदान्त-दर्शन—वेदान्त के अनुसार विश्व की वास्तविक सत्ता 'ब्रह्म' है। वस्तुतः ब्रह्म ही सत्य है, अन्य कोई सत्ता सत्य नहीं है। जीव की ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। प्रकृति या जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्म से पृथक् उनकी भी सत्ता नहीं है। ब्रह्म का स्वरूप 'निर्विशेष-चिन्मात्र' है। ब्रह्म चेतनस्वरूप है, वह चित्-शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। सांख्य-दर्शन जिन्हें पुरुष व प्रकृति कहता है, उनका विकास इसी ब्रह्म से होता है। जब ब्रह्म 'संकल्प' करता है, यह चाहता है कि वह 'बहुरूप' हो जाय, तो अपनी शक्ति द्वारा सृष्टि का विकास करता है।

वेदान्तदर्शन के प्रवर्तक बादरायण व्यास थे। उन्होंने वेदान्त-सूत्रों की रचना की। इन सूत्रों पर विविध आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार अनेक भाष्य लिखे। इनमें शंकराचार्य का 'ब्रह्मसूत्रशांकर-भाष्य' सबसे प्रसिद्ध है। वस्तुतः, शंकर ने वेदान्त के एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया, जिसे 'अद्वैतवाद' कहते हैं। इसके अनुसार सब जगत् मिथ्या है। जिस प्रकार रात के समय मनुष्य को रज्जु में सांप का भ्रम होता है, वैसे ही संसार की दृष्टि-गोचर होनेवाली सब सत्ताएं भ्रम का परिणाम हैं। जगत् माया

के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परमार्थ में माया की कोई सत्ता नहीं होती। जब ब्रह्म माया से अविच्छिन्न हो जाता है, तो वह ईश्वर कहाता है। जीवात्मा वस्तुतः ब्रह्म ही है। जैसे एक ही सर्वव्यापी आकाश घट में घटाकाश रूप से और मठ में मठाकाश रूप से आभासित होता है, पर वस्तुतः वह एक आकाश ही होता है, ऐसे ही अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म जीवात्मा के रूप में आभासित होता है। पर वस्तुतः जीवात्मा ब्रह्म से पृथक् नहीं है, वह ब्रह्म ही है, ठीक वैसे ही जैसे घटाकाश आकाश ही है, सर्वव्यापी आकाश से पृथक् नहीं है।

वेन्दान्त-सूत्रों पर रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचर्य और वल्लभाचार्य ने भी भाष्य लिखे हैं। इनका मत शंकर से बहुत भिन्न है। रामानुज प्रकृति और जीवात्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्हें ब्रह्म पर आश्रित मानते हैं। ब्रह्म से पृथक् जीवात्मा और प्रकृति का कोई प्रयोजन नहीं। इसीलिये उनके मत को 'विशिष्टाद्वैत' नाम दिया गया है। मध्वाचार्य ने ब्रह्म, प्रकृति और जीवात्मा की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया है। इसीलिये उनका मत द्वैतवाद कहाता है। एक ही ब्रह्मसूत्रों की विविध आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्या की है। पर ब्रह्म की सर्वोपरि सत्ता को सब वेदान्ती समान रूप से स्वीकार करते हैं। इस दर्शन का विकास प्रधानतया उपनिषदों को प्रमाण मानकर किया गया है।

बौद्ध और जैन-धर्मों के प्रारम्भ से पूर्व भारत के प्राचीन धर्म में जहाँ याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्राधान्य था, वहाँ विविध तत्त्वज्ञानी ऋषि व मुनि सृष्टि और अध्यात्म के सम्बन्ध में विचार व चिन्तन करते हुए अनेक दर्शन-शास्त्रों का भी विकास कर रहे थे।